आयु एवं शिक्षा मनोविज्ञान



प्रगति प्रकाशन
मास्को
१९८२

ВОЗРАСТНАЯ И ПЕДАГОГИЧЕСКАЯ ПСИХОЛОГИЯ

На языке хинди

Age group and Educational Psychology

in Hindi

सोवियत संघ में मुद्रित

В $\frac{60500-421}{014(01)-82}$ 754-82

4305000000

विषय-सूची

64
1983

आयु-वर्ग एव शिक्षा मनोविज्ञान आज मनोविज्ञान की एक द्रुत विकास शील और सभावनापूर्ण शाखा है। उस सभी शिक्षाविज्ञान सस्थानो के पाठ्यक्रमो मे अत्यत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है क्योकि विभिन्न आयु वर्गों के बच्चो के मानसिक विकास के नियमो और शिक्षण व पालन के बुनियादी मनोवैज्ञानिक उसूलो के ज्ञान क बिना कोई भी सफल शिक्षक और प्रतिपालक नही बन सकता।

प्रस्तुत पुस्तक म लेखको न बाल मानस के विकास की प्रक्रिया व्यक्ति विकास के आधारभूत नियमो विभिन्न आयु-वर्गों के बच्चो की मनोवृत्ति की विशेषताओ, तरह-तरह की शैक्षिक परिस्थितियो मे स्कूली छात्रों के आचरण, व्यवहार व मानसिक विकास की विशिष्टताओ और लालन पालन शिक्षण व अध्यापन की प्रक्रिया मे इन सभी नियमो विशेषताओ आदि को ध्यान मे रखने के उपायो की जानकारी देने का प्रयास किया है। यह जरूरी है कि माता पिता, शिक्षक और प्रतिपालक बच्चे की मानसिक विशेषताओ और उसके व्यक्तित्व के विकास की द्वद्वात्मकता को देखे और आयु वर्ग तथा शिक्षा मनोविज्ञान के सर्वाधिक उन्नत आधुनिक सिद्धातो से परिचित हो।

विभिन्न अध्यायो के लेखक है

अध्याय १ – प्रो० अ० व० पेत्रोव्स्की डी० एस सी० (मनोविज्ञान), सोवियत सघ की शिक्षाविज्ञान अकादमी के सदस्य

अध्याय २–न० इ० नेपोम्न्याश्चाया डी० एस-सी० (मनोविज्ञान)

अध्याय ३–व० स० मूखिना डी० एस सी० (मनोविज्ञान)

अध्याय ४–व० व० दवीदोव डी० एस सी० (मनोविज्ञान)

अध्याय ५ – त० व० द्रागुनोवा पी एच० डी० (मनोविज्ञान)
अध्याय ६ – प्रो० इ० स० कोन डी० एस सी० (दर्शनशास्त्र),
अध्याय ७ और ८ – प्रो० ल० व० इतेल्सोन, डी० एस-सी०
(मनोविज्ञान),
अध्याय ९ – प्रो० द० इ० फेल्दश्तेइन डी० एस-सी० (मनो
विज्ञान)
अध्याय १० – प्रो० अ० इ० श्चेर्बाकोव डी० एस-सी० (मनो
विज्ञान)।

अ० व० पेत्रोव्स्की

§१ आयु-वर्ग एव शिक्षा मनोविज्ञान का विषय

आयु वर्ग मनोविज्ञान मनोविज्ञान की वह शाखा है, जो मनुष्य के मानस मे आयु के साथ होनेवाले परिवर्तनो और वर्धमान मनुष्य की मानसिक प्रक्रियाओ व विशेषताओ के व्यक्तिवृत्त का अध्ययन करती है। इसकी उपशाखाए है बाल मनोविज्ञान, प्राथमिक कक्षाओ के छात्र का मनोविज्ञान, किशोर मनोविज्ञान, तरुण मनोविज्ञान, वयस्क मनोविज्ञान और जरा मनोविज्ञान। इस प्रकार आयु वर्ग मनोविज्ञान मानसिक प्रक्रियाओ की आयुगत विशेपताओ, ज्ञानार्जन की आयुगत क्षमताओ व्यक्तित्व के विकास के प्रमुख कारको, इत्यादि के अनुशीलन से सबधित विज्ञान है। आयु-वर्ग मनोविज्ञान शिक्षा मनोविज्ञान से अभिन्न रूप से जुडा हुआ है।

शिक्षा मनोविज्ञान का विषय है शिक्षा व पालन के मनोवैज्ञानिक नियमो का अध्ययन। शिक्षा मनोविज्ञान शिक्षा प्रक्रिया के सचालन से सबधित मनोवैज्ञानिक प्रश्नो और सज्ञानात्मक प्रक्रियाओ की रचना का परिशीलन करता है, बौद्धिक विकास के समीचीन मापदड खोजता है, जिन परिस्थितियो मे शिक्षा प्रक्रिया के दौरान कारगर बौद्धिक विकास प्राप्त किया जा सकता है, उन्हे निर्धारित करता है और अध्यापक व छात्र तथा स्वय छात्रो के परस्पर सबधो की छानबीन करता है। इसके अलावा वह छात्र के प्रति व्यक्तिगत उपागम से सबधित प्रश्नो का भी अध्ययन करता है।

आयु वर्ग और शिक्षा मनोविज्ञान एक दूसरे से अभिन्न इसलिए है कि उनकी अध्ययन-वस्तुए एक ही हैं बच्चा, किशोर और तरुण। जब आयुगत विकास की दृष्टि से उनका अध्ययन किया जाता

है तो वे आयु वर्ग मनोविज्ञान की अध्ययन वस्तु होते है। अ जब उन्हे अध्यापक अथवा शिक्षक के लक्ष्योद्दिष्ट कार्यकलाप के प्रभा ग्राही के रूप म लिया जाता है तो वे शिक्षा मनोविज्ञान क अध्ययन वस्तु होते है। आयु वर्ग मनोविज्ञान को स्कूलपूर्व बच्चे क मनोविज्ञान, प्राथमिक कक्षाओ के छात्र का मनोविज्ञान, किशोर मनो विज्ञान और तरुण मनोविज्ञान, इन खडो म बाटा जाता है और शिक्षा मनोविज्ञान को शिक्षण मनोविज्ञान, पालन मनोविज्ञान और अध्यापक का मनोविज्ञान नामक खडो म। शिक्षण और विकास की समस्याओ से सबधित खड आयु वर्ग मनोविज्ञान और शिक्षा मनोविज्ञान, दोनो का ही अग है। आयु वर्ग और शिक्षा मनोविज्ञान के बीच अटूट एकता है बच्चे का अध्ययन शिक्षण और पालन की प्रक्रिया मे किया जाता है और दूसरी ओर शिक्षण और पालन की प्रक्रिया का विवेचन उसकी प्रयोजन वस्तु – बच्चे – के सदर्भ म किया जाता है। यह बात आयु वर्ग और शिक्षा मनोविज्ञान की समस्याओ के विवेचन की सीमाओ को सापाधिक बना देती है।

आयु वर्ग और शिक्षा मनोविज्ञान का जन्म और आरंभिक विकास

आयु वर्ग और शिक्षा मनोविज्ञान का जन्म १९वी सदी के उत्तरार्ध म मनोविज्ञान के क्षेत्र म आनुवशिकी के विचारो का प्रभाव बढने के साथ हुआ था। नवजात शिक्षा मनोविज्ञान के विकास को सबसे अधिक प्रेरणा महान रूसी शिक्षाविद क० द० उशीन्स्की (१८२४ १८७०) की प्रसिद्ध विख्यात मनुष्य – शिक्षा का विषय शीर्षक कृति से प्राप्त हुई थी। उशीन्स्की की मान्यता थी कि शिक्षक का लक्ष्य मनुष्य का सर्वागीण शिक्षित बनाना है और इसलिए उसे मनुष्य का पहले सभी पहलुओ म जान लेना चाहिए। अध्यापको और प्रतिपालको को सबोधित करते हुए उन्होने लिखा था आप जिन मानसिक परिघटनाओ का नियमन करना चाहते है उन नियमो का अध्ययन कर और फिर इन नियमो का और जिन परिस्थितियो म आप इन्हे लागू करना चाहते है उन्हे ध्यान म रखकर काम कर। आयु वर्ग मनोविज्ञान के विकास

पर चार्ल्स डार्विन के विकासवादी विचारों का गहन प्रभाव पड़ा। इन विचारों ने शिक्षाशास्त्रियों का ध्यान मनोविकास के स्रोतों की समस्या की ओर आकृष्ट किया था। प्रमुख रूसी विद्वान इ० म० सेचेनोव (१८२९-१९०५) भी मनोवैज्ञानिक परिघटनाओं के परावर्ती सार को समझने के लिए मानसिक सक्रियता के महत्त्व पर बल दिया करते थे।

बाल मानस के विकास और शिक्षण प्रक्रिया के प्रेक्षणों से संबंधित आनुभविक सामग्री के संचय तथा सामान्यीकरण के साथ-साथ अब शिक्षा और बाल मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रायोगिक अनुसंधान भी किये जाने लगे। शिक्षा विशेषज्ञों और मनोविज्ञानवेत्ताओं को स्पष्ट होता जा रहा था कि प्रायोगिक अनुसंधान बच्चे और किशोर के मानसिक विकास की सही-सही तसवीर पेश कर सकता है और शिक्षण तथा पालन का एक वस्तुतः वैज्ञानिक उपागम सुझा सकता है। सामान्य मनोविज्ञान में प्रयोग की विधि की उल्लेखनीय सफलताओं ने आयु वर्ग और शिक्षा मनोविज्ञान में भी उसके इस्तेमाल की आशा पैदा कर दी थी। लगता था कि नवान्वेषित नियमों का शिक्षा और बाल मनोविज्ञान के क्षेत्र में सामान्य प्रत्यारोपण पर्याप्त है। यह सोचा जाता था कि मनोशरीरक्रिया के नियमों का, मिसाल के लिए प्रेरक प्रतिवर्तों के वेग और रूप से संबंधित तथ्यों को जान लेने के बाद शिक्षक के लिए बच्चे के मनोजगत को और पाठ्य सामग्री ग्रहणक्षमता के नियमों को समझने में कोई कठिनाई न होगी। रूसी शिक्षाविद व मनोविज्ञानवेत्ता प० फ० काप्तेरेव ने अपनी पुस्तक 'शिक्षा मनोविज्ञान' (१८७७) में और अमरीकी मनोविज्ञानवेत्ता विलियम जेम्स ने अपनी पुस्तक 'मनोविज्ञान के विषय में शिक्षकों के साथ वार्ताएं' (१९०२) में ऐसा ही विश्वास प्रकट किया था।

किंतु २०वीं सदी के आरंभ तक भी शिक्षा के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक प्रयोग की विधि के इस्तेमाल के कोई ठोस, विशिष्ट तरीके न मिल सके। सामान्य मनोविज्ञान का ज्ञान-भंडार शिक्षाविज्ञान के क्षेत्र में उपयोग के लिए अभी बहुत अपर्याप्त था। इसके अलावा मनोविज्ञानवेत्ताओं द्वारा एकत्र कुछ तथ्य शिक्षाविज्ञानियों को भ्रम में भी डाल सकते थे। १९०६ में पीटर्सबर्ग में जब पहली शिक्षा मनोविज्ञान कांग्रेस

हुई, तो उसमें अ० प० नेचायेव, न० ये० रुम्यान्त्सेव तथा अन्य शिक्षा मनोविज्ञानवेत्ताओं ने तत्कालीन शिक्षावैज्ञानिक साहित्य की गभीर आलोचना की। नेचायेव के मत मे, शैक्षणिकी और शिक्षा विधि से सबधित सभी विवादास्पद प्रश्न उस क्षेत्र में आते थे, जो प्रायोगिक मनोवैज्ञानिक अनुसधान की पहुच के भीतर है, यानी ऐसे अनुसधान की पहुच के भीतर जो परिघटनाओं का यथातथ्य अभिलेखन और परिणामो का गणितीय विश्लेषण सभव बनाता है। किंतु व्यवहार में परिघटनाओं के इस यथातथ्य अभिलेखन का अर्थ टैकिस्टोस्कोप का उपयोग और 'सहचारी प्रयोग' करने की योग्यता, अर्थात सामान्य मनोविज्ञान की कतिपय विधियों का आश्रय लेना ही लगाया जाता था।

शिक्षाशास्त्र को सामान्य मनोविज्ञान से जोडने और इस सहजीविता मे एक नये शिक्षा मनोविज्ञान का दर्शन करने के प्रयास इसलिए भी निष्फल सिद्ध हुए कि अ० प० नेचायेव जिस सामान्य मनोविज्ञान का अवलब ले रहे थे, उसके सैद्धांतिक आधार अपने स्वरूप की दृष्टि से प्रत्ययवादी थे। तत्कालीन शिक्षा मनोविज्ञान या जैसा कि १६१० से उसे कहा जाने लगा प्रायोगिक शिक्षाविज्ञान की भ्रांतिमूलकता इस तरह जगजाहिर थी।

शिक्षा मनोविज्ञान के क्षेत्र मे पहले प्रयोगो से जो सबसे महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाला जा सकता था वह यह था कि मनोविज्ञान का शिक्षाशास्त्रीय व्यवहार से सन्निकटन (इस सवाल को उठाने का श्रेय निर्विवादत नेचायेव को ही प्राप्त है) स्वय शिक्षण तथा पालन की प्रक्रिया मे प्रयोगात्मक अनुसधान करके ही हो सकता है। प्रयोगाश्रित दत्त सामग्री स्वय मनोवैज्ञानिक व शिक्षावैज्ञानिक अनुसधान मे ही पायी जानी चाहिए, न कि उसमे कहीं बाहर से समाविष्ट की जानी चाहिए। इसके लिए पहले आयु-वर्ग और शिक्षा मनोविज्ञान के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सैद्धांतिक तथा विधि सबधी समस्याओं का सही समाधान खोजना आवश्यक था। और इनमे भी सर्वोपरि समस्या थी शिक्षण प्रक्रिया से सबध के सदर्भ मे मानसिक विकास के स्रोतो की समस्या।

जिसके साथ अपने में अनेकानेक संभावनाएं छिपाये हुई लचीली आनुवंशिकता अन्योन्यक्रिया करती है।

जीवमूलकता के हिमायती मानसिक विकास के आनुवंशिक कारकों का जो अतिमूल्यांकन करते हैं, उसका सबसे ज्वलंत और पूर्ण प्रमाण उनकी मनोविज्ञान के क्षेत्र में जाति-आवर्तन नियम को लागू करने की प्रवृत्ति है। यह वास्तव में आयु वर्ग मनोविज्ञान के क्षेत्र में उस विकास नियम के प्रत्यारोपण की कोशिश ही है, जिसे १९वीं सदी में हैकेल ने प्रतिपादित किया था (व्यक्तिवृत्त जातिवृत्त की संक्षिप्त पुनरावृत्ति ही है)। जिस प्रकार मानव भ्रूण गर्भावस्था में एककोशीय जीव से लेकर मनुष्य तक विकास के सभी चरणों की पुनरावृत्ति करता है, उसी प्रकार मानव शिशु मानव इतिहास के सभी मुख्य चरणों को दोहराता है। जैविक शक्तियों के प्रभाव से बच्चे के मनोविकास के चरण और आचरण के ढंग क्रमशः बदलते जाते हैं। इस तरह से बच्चा मानो पांच दौरों से गुजरता है: प्राकृतावस्था, आखेट, पशुचारण, कृषिकर्म और उद्योग व्यापार। इस काल विभाजन के अनुसार बच्चा जब पैदा होता है, तो वह प्राकृतावस्था, यानी जांगल अवस्था में होता है और फिर क्रमशः विकास के अन्य चरणों से गुजरकर अंतिम चरण में अनिवार्यतः धन, व्यापार, उद्योग में रुचि दिखाने लगता है, अर्थात पूर्णतः पूंजीवादी समाज के आदर्शों के अनुरूप बन जाता है।

इस प्रकार मनोविज्ञान में जाति आवर्तन नियम का आधार बच्चे के मानसिक विकास की स्वतःस्फूर्ति के विचार को, पालन से स्वतंत्रता को बनाया गया है। पालन को मात्र एक ऐसे बाह्य कारक की भूमिका ही दी गयी है, जो बच्चे की सहज, आनुवंशिकतः उद्भूत मानसिक विशेषताओं के प्रकट होने को या तो अवरुद्ध या त्वरित कर सकता है। जाति आवर्तन नियम से प्रतिगामी शिक्षाशास्त्रीय निष्कर्ष निकाले गये। बच्चे के विकास के नैसर्गिक क्रम में हस्तक्षेप को अवांछनीय, अनुचित मनमानी माना गया। जीवमूलकता मनोविज्ञानसम्मत "स्वतंत्र शिक्षण और पालन" के शिक्षावैज्ञानिक सिद्धांत का आधार बनी।

सोवियत शिक्षाविदों और मनोविज्ञानियों ने चौथे दशक के आरंभ में ही शिक्षा मनोविज्ञान में जीवमूलक धारा के द्वंद्ववादविरोधी, यांत्रिकतापरक स्वरूप को पहचान लिया था।

इतनी ही त्रुटिपूर्ण शिक्षा मनोविज्ञान के क्षेत्र मे प्रचलित समाजमूलक धारा भी थी। ऊपरी अतरो के बावजूद ये दोनो ही सिद्धात कई बातो मे एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं। समाजमूलक धारा के समर्थको के अनुसार बच्चे के विकास मे अपरिहार्यत निर्णायक भूमिका परिवेश की होती है और इसलिए मनुष्य का अध्ययन करने के लिए उसके परिवेश की बनावट का विश्लेषण करना पर्याप्त है जैसा परिवेश होगा वैसा ही मनुष्य का व्यक्तित्व उसके आचरण का ढग और उसके विकास का मार्ग भी होगा। जिस प्रकार जीवमूलकता सिद्धात व्यक्ति की क्रिया शीलता को नकारता था और आचरण तथा विकास को आनुवशिक पूर्वप्रवणता की निष्पत्ति का परिचायक मानता था वैसे ही समाज मूलकतावादी भी व्यक्ति मे स्वतत्र क्रियाशीलता की कोई गुजायश नही देखते थे और सब कुछ सामाजिक परिवेश का प्रभाव बताते थे। फलस्वरूप यह अस्पष्ट ही बना रहा कि किस प्रकार एक ही तरह के सामाजिक परिवेश मे अनेक लक्षणो की दृष्टि से सर्वथा भिन्न व्यष्टियो का निर्माण होता है। यह भी अस्पष्ट था कि विभिन्न सामाजिक परि वशो मे बहुत ही समान स्वभाव और आचार-विचारवाले व्यक्ति क्यो पैदा होते हैं। इस प्रकार शिक्षा मनोविज्ञान के क्षेत्र मे प्रचलित समाज मूलक धारा के मुख्य वैचारिक और सैद्धातिक दोष थे – विकास के प्रति यान्त्रिकतापरक उपागम और व्यक्ति की स्वतत्र क्रियाशीलता तथा व्यक्तित्व निर्माण के द्वद्वात्मक अतर्विरोधो की उपेक्षा। यह धारा भी चौथे दशक मे ही सोवियत मनोविज्ञानियो तथा शिक्षाविदो की आलोचना का लक्ष्य बन गयी थी।

न जीवमूलकतावादी और न ममाजमूलकतावादी ही [illegible] बच्चे के मानसिक विकास के स्रोतो तथा क्रियाविधियो की [illegible] न दे सके।

तीसरे और चौथे दशको मे सोवियत [illegible] के क्षेत्र मे बहुत शोध कार्य हुआ [illegible] एकत्र किये गये वे आधुनिक [illegible] इसी काल मे अनेक नयी [illegible] भी जमी जिन्होंने अपना [illegible]

वैज्ञानिक मूल्य आज पहले से भी अधिक तीव्रता और स्पष्टता के साथ अनुभव किया जा रहा है। इस सिलसिले में बच्चे की व्यष्टिकता तथा बाल समुदाय विषयक अ० स० मकारेंको (१८८८ १६३६) के विचार (वे आगे चलकर व्यक्ति तथा समुदाय की समस्याओं से संबंधित अनेक मनोवैज्ञानिक अनुसंधानों के आरंभबिंदु बने) और ल० स० विगोत्स्की (१८६६ १६३४) द्वारा प्रतिपादित उच्चतर मानसिक क्रियाओं के विकास के सिद्धांत का विशेष रूप से उल्लेख किया जाना चाहिए।

अ० स० मकारेंको और शिक्षा मनोविज्ञान

तीसरे दशक में और चौथे दशक के पूर्वार्ध के दौरान अ० स० मकारेंको ने बच्चे की व्यष्टिकता और उसके विकास के बारे में जो विचार प्रतिपादित किये थे उन्हें समुदाय में व्यक्तित्व निर्माण विषयक एक सर्वांगपूर्ण विचारधारा की संज्ञा दी जा सकती है। अ० स० मकारेंको की विचारधारा ने तब तक संचित शिक्षावैज्ञानिक अनुभव का सामान्यीकरण किया और कम्युनिस्ट शिक्षा-दीक्षा के क्षेत्र में आगे चलकर सोवियत संघ में जो काम हुआ उसकी आधारशिला रखी।

मकारेंको की वैज्ञानिक संकल्पना में व्यक्ति के विकास के मनोविज्ञान की कई पहलुओं से जांच की गयी थी (व्यक्ति और समुदाय का परस्पर संबंध व्यक्ति के विकास की संभावित दिशाएं, व्यक्ति के अभिप्रेरणात्मक क्षेत्र का निर्माण चरित्र का निर्माण आदि)।

व्यक्ति के मनोविज्ञान की बुनियादी समस्याओं को हल करने के लिए मकारेंको को व्यक्ति और समुदाय के संबंधों की जीवमूलक तथा समाजमूलक व्याख्याओं से गंभीर टक्कर लेनी पड़ी। उन्होंने समाजमूलकतावादियों की इस धारणा का घोर विरोध किया कि समुदाय ऐसी व्यष्टियों का समूह है जो किन्हीं भी उत्तेजकों के समक्ष एकसमान प्रतिक्रिया दिखाती है। वह समुदाय को संगठित व्यष्टियों (व्यक्तियों) का एक लक्ष्योन्मुख समूह मानते थे। 'जहां समुदाय का संगठन है, वहां समुदाय के निकाय भी होते हैं वहां समुदाय के विश्वासपात्र प्राधिकृत व्यक्तियों का संगठन भी होता है और साथी के प्रति साथी

के रवैये का प्रश्न मैत्री का प्रश्न, प्रेम का प्रश्न या पडोसियत का प्रश्न नही, वल्कि उत्तरदायित्वपूर्ण निर्भरता का प्रश्न होता है " उन्होंने लिखा था। प्रश्न का ऐसा निरूपण उन्हे समुदाय मे व्यक्ति की स्थिति को वदलने तथा उसके व्यक्तित्व पर गभीर प्रभाव डालने की सभावना देता था। यह सब ऐसे होता था कि छात्र को पता भी न चल पाता था कि वह पालन का विषय बना हुआ है (समानातर क्रिया का सिद्धात)।

मकारेको व्यक्ति की विशेषताओं के अध्ययन को बडा महत्त्व देते थे। इसका मुख्य कारण यह था कि व्यक्ति की जिन विशेषताओ को उभारा जाना है, जिस प्रकार के चरित्र ढाले जाने है और उनके विकास को जो मोड दिये जाने है (ऐसे मोड हर व्यक्ति के लिए अलग से और स्पष्टत निर्धारित किये जाते है), वे ही उनकी दृष्टि मे पालन की प्रक्रिया के लक्ष्य होते हैं। उन्होने व्यक्तित्व के लक्षणो की जो सूची दी है, जिन्हे अध्यापक एक समष्टि मे सश्लेषित करता है ("समुदाय मे व्यक्ति की घुलने मिलने की क्षमता समुदाय से उसके सबधो तथा प्रतिक्रियाओ का स्वरूप, अनुशासनबद्धता क्रियाशीलता तथा प्रावरोध के लिए तत्परता व्यवहार कौशल तथा सूझबूझ सिद्धातनिष्ठा और सवेगात्मक पुरोलक्षिता), वही बता देती है कि मकारेको ने व्यक्तित्व की विशेषताओ का कितना गहन मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया था। इसका प्रमाण उनकी 'पालन प्रक्रिया के सगठन की विधि' शीर्षक रचना मे दी हुई छात्र के व्यक्तित्व के अध्ययन की पद्धति और उनके छात्रो के उत्कृष्ट चरित्रवृत्तो से भी मिलता है जिनमे उनके व्यक्तित्व म उभारे जानेवाले गुणो का सक्षिप्त तथा सही-सही विवरण दिया होता था।

अ० स० मकारेको ने व्यक्ति के अभिप्रेरणात्मक क्षेत्र और उसके सामाजिक गुणो के विकास की क्रियाप्रणाली का गहन अध्ययन किया। इसम सबसे महत्त्वपूर्ण सभवत आवश्यकताओ के जन्म तथा विकास की समस्या है। पालन का सबसे वडा प्रयोजन मनुष्य म किन्ही खास आवश्यकताओ को जागृत तथा प्रोत्साहित करना और उन्हे एव ऐसे नैतिक शिखर पर पहुचाना है जो केवल वर्गहीन समाज म ही सभव है और जो एकमात्र ही मनुष्य को निरतर आत्मपरिष्कार व निर

अभिप्रगित कर सकता है। मकारेंको की रचनाओं में* हम मानव व्यक्तित्व की बुनियादी क्षमताओं के विकास की प्रक्रिया के अध्ययन का एक विशद तथा साहसिक कार्यक्रम मिलता है, जिसमें मुख्य भूमिका मनुष्य में समुदायपरकता की आवश्यकताओं के पोषण को दी गयी है।

मकारेंको के कार्य तथा शोधों ने सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओं को मानव व्यक्तित्व का श्रम तथा सामाजिक कार्यकलाप के दौरान विकास की प्रक्रिया में विश्लेषण करने की संभावनाओं से अवगत कराया। एक मनोविज्ञानवेत्ता के नाते मकारेंको की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक अध्ययन को निष्क्रिय प्रेक्षण की सीमाओं से बाहर निकालकर एक सक्रिय आधार प्रदान किया शिक्षक को छात्र के बारे में जानने के लिए उसका तटस्थ रहकर अध्ययन नहीं करना चाहिए वरन उसके साथ मिल-जुलकर काम करना चाहिए उसे सक्रिय सहायता देनी चाहिए। शिक्षक छात्र को अध्ययन की वस्तु नहीं, वरन शिक्षा और पालन की वस्तु माने।"

ल० स० विगोत्स्की का उच्चतर मानसिक क्रियाओं के विकास का सिद्धांत

तीसरे और चौथे दशकों में ल० स० विगोत्स्की द्वारा प्रतिपादित उच्चतर मानसिक क्रियाओं के विकास का सिद्धांत भी अस्तित्व में आया।

विगोत्स्की ने मनुष्य के द्वारा प्रकृति के अनुकूल बनने में श्रम की भूमिका और उत्पादन प्रक्रिया में श्रम के उपकरणों की मदद से प्राकृतिक शक्तियों के रूपांतरण विषयक फ़्रेडरिक एंगेल्स के विचारों का आधार बनाकर यह मत प्रतिपादित किया था कि श्रम तथा उपकरणों का प्रयोग मनुष्य के व्यवहार-रूप को बदल देता है और मनुष्य का

---

* प्रगति प्रकाशन से मकारेंको की निम्न रचनाएं हिंदी में प्रकाशित हो चुकी है माता-पिता और बच्चे प्रथम संस्करण—१९५८, दूसरा संस्करण—१९६६ जीवन की ओर (शिक्षा का महाकाव्य) तीन खण्डों में १९५६ सोवियत स्कूली शिक्षा की समस्याएं १९७१।—सं०

पशुओ से भिन्न बनाता है। मनुष्य की यह भिन्नता उसकी सक्रियता के व्यवहित स्वरूप मे निहित है। व्यवहन इसलिए सभव होता है कि मनुष्य जिस प्रकार अपने बाह्य, व्यावहारिक कार्यकलाप मे उपकरण इस्तेमाल करता है, वैसे ही आभ्यतरिक, मानसिक कार्यकलाप मे सकेतो (शब्द सख्या, आदि) का उपयोग करता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उपकरण और सकेत के बीच साम्य इस बात मे है कि वे दोनो ही व्यवहित कार्य को सभव बनाते हैं। उनके बीच अतर इस बात मे है कि उनकी दिशाए भिन्न भिन्न है। उपकरण बाहर की ओर लक्षित होता है, वस्तु के रूप मे परिवर्तन लाता है और मनुष्य के प्रकृति पर नियत्रण पाने की ओर निर्दिष्ट बाह्य कार्यकलाप का साधन होता है। इसके विपरीत सकेत भीतर की ओर लक्षित होता है, वस्तु मे कोई परिवर्तन नही लाता और मनुष्य के व्यवहार को ही प्रभावित करता है। प्रकृति पर नियत्रण और व्यवहार पर नियत्रण परस्पर सबद्ध है, चूकि मनुष्य द्वारा प्रकृति का परिवर्तन स्वय उसकी अपनी प्रकृति को बदल डालता है। सकेतो (सहायक साधनो) का प्रयोग, यानी व्यवहित कार्यकलाप म सक्रमण मनुष्य की समस्त मानसिक सक्रियता को वैसे ही बदल देता है, जैसे कि उपकरणो का प्रयोग शारीरिक अगो की सहज क्रिया का परिवर्तन करता है और मानसिक सक्रियता की सभावनाए बढाता है।

मनुष्य का विकास शिक्षण द्वारा इन्ही सब साधनो (उपकरणो तथा सकेतो) के उपयोग मे पारगत होने की प्रक्रिया मे होता है। इसीलिए बच्चे के जीवन सगठन की समस्त प्रणाली मे शिक्षण का बुनियादी स्थान है और यही उसके मानसिक विकास को निर्धारित करता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मानसिक विकास का न तो अध्ययन ही उस सामाजिक परिवेश से निरपेक्ष रूप से हो सकता है, जिसम कि मनुष्य पूर्ववर्ती पीढियो के अनुभव को आत्मसात् करने की सभावना देनेवाले सकेतात्मक साधनो म दक्षता हासिल करता है और न उसे शिक्षण से निरपेक्ष रूप से समझा ही जा सकता है। इस प्रकार विगोत्स्की के मनोवैज्ञानिक सिद्धात म मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने का मार्क्स-वादी विचार साकार बना है। विगोत्स्की सास्कृतिक विकास के सामान्य आनुवशिक नियम को या परिभाषित करते हैं बच्चे के सास्कृतिक विकास म हर क्रिया दो बार दो धरातलो पर सामने आती है—पहले

सामाजिक धरातल पर और फिर मनोवैज्ञानिक धरातल पर, पहले लोगो के बीच एक अतर्मानसिक प्रवर्ग के रूप म, और फिर बच्चे के अदर एक अत मानसिक प्रवर्ग के रूप म।" "सभी प्रकार की उच्चतर मानसिक क्रियाए अपने विकास के दौरान अनिवार्यत बाह्य अवस्था से गुजरती है क्योकि वे आरभिक्त सामाजिक क्रियाए होती है।

उदाहरण के लिए हाथ म इशारा करने की मुद्रा के साथ यही होता है जो बच्चे की वाणी क विकास म अत्यत महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है और जिसे विगोत्स्की न काफी हद तक व्यवहार के सभी उच्चतर रूपो का आद्य आधार बताया था। आरभ म यह मुद्रा और कुछ नही किसी वस्तु को पकडने की ऐसी असफल हरकत ही होती है जिसे क्रिया का पूर्वाभास देना था (हाथ वस्तु की ओर बढता है किंतु हवा मे ही लटका रह जाता है)। समीप स्थित कोई वयस्क मुद्रा को बच्चे को पसद आयी वस्तु की ओर इशारा समझकर बच्चे की मदद करता है। इस प्रकार इशारा करने की मुद्रा पकडने की असफल हरकत से दूसरो के लिए लक्षित मुद्रा मे बदल जाती है, जो उसे इशारे के अर्थ मे लेते है। मुद्रा सकेत बन जाती है और पकडना इशारा। सिर्फ इसके बाद ही बच्चा खुद अपनी हरकत को इशारे के तौर पर लेने लगता है। दूसरो के लिए मुद्रा (सकेत) स्वय अपने लिए मुद्रा (सकेत) बन जाती है। इस प्रकार अपनी मुद्रा के अर्थ का ज्ञान बच्चे को सबके बाद ही होता है। उसका अर्थ पहले यथार्थ स्थिति द्वारा निर्धारित किया जाता है और उसके बाद बच्चे के आसपास के लोगो द्वारा। विगोत्स्की ने ऐसी ही नियमानुवर्तिता बच्चे की वाणी के विकास मे भी पायी थी। शब्द वस्तु के प्रति सबध को व्यक्त करता है (पहला चरण)। फिर वयस्को द्वारा शब्द और वस्तु का यथार्थ सहसबध बच्चे के साथ सपर्कस्थापन के साधन के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है (दूसरा चरण)। इसके बाद शब्द का अर्थ स्वय बच्चा भी समझ जाता है (तीसरा चरण)। बाद मे शब्द जो कि आरभ मे दूसरो पर प्रभाव डालने का साधन था स्वय अपने नियत्रण सचालन का साधन बन जाता है।

इस प्रकार सभी उच्चतर मानसिक क्रियाओ के पीछे मूलत लोगो के

सामाजिक सबध काम करते है। विगोत्स्की ने लिखा था कि मनुष्य की मानसिक प्रकृति वस्तुत उन सामाजिक सबधो की समष्टि ही है, जो भीतर अतरित किये गये है और व्यक्तित्व के कार्य तथा उसके ढाचे के रूप बन गये है। पारपरिक मनोविज्ञान के विपरीत जो सामाजिक व्यवहार का मूल वैयक्तिक व्यवहार मे देखता था, विगोत्स्की ने बताया कि उच्चतर मानसिक क्रियाए पहले समुदाय मे, लोगो के परस्पर सबधो के रूप मे प्रकट होती है और उसके बाद ही व्यक्ति की मानसिक क्रियाए बनती है। इस तरह, प्रथम दृष्टि मे लगता है कि विचार, तर्क और प्रमाण मूलत विवाद के पूर्ववर्ती है क्योकि विवाद विचारो की टक्कर से पैदा होता है। किंतु विगोत्स्की के सिद्धात के अनुसार, विवाद ही विचारो को जन्म देता है। **व्यक्ति के विकास की प्रक्रिया इस बात मे व्यक्त होती है कि व्यक्ति जैसा है, वैसा वह उसके जरिये बनता है, जो वह दूसरो के लिए पेश करता है।**

आचरण तथा व्यवहार के विकास के माध्यम के तौर पर बाह्य सकेत एक महत्त्वपूर्ण निदान-साधन हैं, यदि मनोविज्ञानवेत्ता को यह मालूम करना है कि बच्चे के बौद्धिक विकास मे कोई दोष तो नही है। जिस बच्चे के बौद्धिक विकास मे कोई गडबडी है, उसका प्रेक्षण दिखाता है कि जब तक वह सकेत इस्तेमाल करता है, तब तक प्रति-पूरक क्षमताए बनी रहती हैं और विकास सभव है। जब सकेतो का इस्तेमाल रुक जाता है या अविकसित रहता है तब बौद्धिक विकास भी विलबित या अवरुद्ध हो जाता है।

§२ आधुनिक सोवियत आयु-वर्ग एव शिक्षा मनोविज्ञान

शिक्षण और पालन के मुख्य मनोवैज्ञानिक सिद्धात

आयु वर्ग एव शिक्षा मनोविज्ञान सोवियत सघ मे मनोविज्ञान की सबसे विकसित शाखा है। इस क्षेत्र मे अनुसधान अनेक शोध केद्रो मे किये जाते हैं, जैसे सोवियत शिक्षाविज्ञान अकादमी का सामान्य तथा शिक्षा मनोविज्ञान शोध सस्थान, सोवियत शिक्षाविज्ञान अकादमी

का स्कूलपूर्व पालन शोध सस्थान, सोवियत शिक्षाविज्ञान अकादमी का दोषविज्ञान शोध सस्थान उक्रइनी विज्ञान अकादमी का मनोविज्ञान शोध सस्थान विभिन्न विश्वविद्यालयो तथा शिक्षावैज्ञानिक उच्च शिक्षा सस्थाओ के मनोविज्ञान विभाग।

आधुनिक सोवियत मनोविज्ञान की सभी महत्वपूर्ण सकल्पनाए विगोत्स्की के विचारो से सबद्ध इस धारणा पर आधारित हैं कि व्यक्ति को सक्रिय रूप से और अपने कार्यकलाप के जरिए मानवजाति के भौतिक तथा आत्मिक सस्कृति की वस्तुओ मे मूर्तिमान ऐतिहासिक अनुभव को आत्मसात् करना चाहिए। केवल तभी वह समाज का पूर्ण विकसित सदस्य बन सकता है। जैसा एक प्रमुख सोवियत मनोविज्ञानवत्ता, अ० न० लेओन्त्येव ने लिखा है 'यह वह प्रक्रिया है, जिसके परिणामस्वरूप ऐतिहासिकत विकसित मानव योग्यताओ एव क्रियाओ का व्यक्ति द्वारा पुनरुत्पादन होता है।'

मानसिक विकास सामाजिक अनुभव के आत्मसात्करण और शिक्षा के द्वारा होता है, यह विचार न केवल शिक्षण मनोविज्ञान, अपितु पालन मनोविज्ञान के लिए भी बुनियादी महत्त्व रखता है। सामाजिक अनुभव को आत्मसात् करनेवाले युवा मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण स्वत नही बल्कि उसके मनोजगत के और उसके आत्मिक दृष्टिकोण के जोकि पालन से सबधित सभी क्रियाओ मे मध्यस्थ का काम करता है बदलने के जरिये होता है। व्यक्ति का दृष्टिकोण, उसके कार्यकलाप के अभिप्रेरको की समष्टि, जिसमे उसकी आवश्यकताए प्रतिबिंबित होती हैं उसके आदर्श मूल्याकन और आत्म मूल्याकन, जो पालन के परिणामस्वरूप बने थे ये सब व्यक्ति को विभिन्न बाह्य प्रभावो से जोकि उपरोक्त आभ्यतरिक उपाधियो से अपवर्तित होते हैं अपेक्षया स्वतत्र बना देते है। इस विचार को व्यवहार मे परिणत करते हुए सोवियत मनोविज्ञानियो ने **मानसिक प्रक्रियाओ और व्यक्तित्व गुणो के सक्रिय विकास की एक योजना बनायी है।** अन्य मनोवैज्ञानिक तथा शिक्षाशास्त्रीय सकल्पनाओ के विपरीत जो मानसिक विकास के प्राप्त स्तर को मात्र अभिलिखित करते थे, सोवियत अनुसधानकर्ता सक्रिय प्रोत्साहन के जरिये बच्चे के मानसिक विकास के प्रायोगिक माडल बनाने को आवश्यक मानकर चलते है।

सोवियत आयु वर्ग और शिक्षा मनोविज्ञान की एक संकल्पना बौद्धिक क्रियाओ के क्रमिक आत्मसात्करण का सिद्धात है। इसका प्रतिपादन छठे दशक मे प० या० गाल्पेरिन ने किया था। इसका मूलतत्व यह है कि छात्र अपनी सक्रियता की प्रक्रिया मे, कुछ निश्चित क्रियाए करते हुए और उनके परिणामस्वरूप ही ज्ञान का अर्जन करता है। मनुष्य को चितन शक्ति प्रकृति से तैयार रूप मे नही मिलती है, सोचना और सोचने की क्रियाए उसे सीखनी, आत्मसात् करनी होती है। शिक्षक का कार्य है इन प्रक्रियाओ का दक्षतापूर्वक सचालन करना, सोचने की क्रिया के परिणामो को ही नही सोचने की शक्ति के विकास को भी अभिनिर्देशित करना।

चेतना और क्रिया की एकता सोवियत मनोविज्ञान का एक सबसे महत्त्वपूर्ण नियम है। इसलिए सोवियत वैज्ञानिक ज्ञान के अर्जन को एक ऐसी प्रक्रिया मानते है जो किन्ही निश्चित क्रियाओ को करने और सीखने के परिणामस्वरूप घटती है। इस दृष्टिकोण से मानसिक क्रिया-कलाप का मूल रूप भौतिक, बाह्य और यथार्थ होता है और परिवेशी वस्तुओ मे परिवर्तन लानेवाला होता है। आभ्यतरिक मानसिक, चितनात्मक सक्रियता के नये तरीके तभी सीखे जा सकते है जब पहले बाह्य भौतिक क्रियाकलाप के चरण से गुज़र लिया जाये। इस प्रकार हमारा प्रथम साक्षात्कार भौतिक सक्रियता (यथार्थ भौतिक वस्तुओ के साथ काम) क चरण या भौतिकीकृत क्रियाकलाप (माडलो के साथ काम) के चरण से होता है। सक्रियता के भौतिक रूप की एक मिसाल तीलियो की मदद से गिनना है। क्रिया चूकि वास्तविक वस्तुओ या नक्शो अथवा खाको की मदद से की जाती है, इसलिए छात्र (और शिक्षक भी) उस क्रिया मे समाविष्ट हर प्रकार्य को ठीक-ठीक नियत्रित कर सकते है। अगला चरण है बोलते हुए क्रिया करना छात्र काम करने के साथ साथ बोलकर उसे समझाता भी जाता है। इस तरह क्रिया बाह्य रूप से आभ्यतरिक रूप मे सक्रमण करती है। फिर अत मे, आखिरी चरण मे, क्रिया पूर्णत आभ्यतरिक धरातल पर सपन्न होती है, यानी ज्ञान का चितन की क्रियाओ मे उपयोग किया जाता है। अध्यापक सीखने के हर चरण पर नज़र रख सकता है और यदि छात्र कही कुछ न समझे या त्रुटि करे, तो उसे क्रिया और ज्ञान के विकास

के पूर्ववर्ती चरण म वापस लौटा सकता है और वह जो चीज नही सीख सका था उस फिर से दोहरा सकता है।

आत्मसात्करण की गति और गुणवत्ता **सज्ञानात्मक सक्रियता** के **अभिविन्यासात्मक भाग** द्वारा, अर्थात उन वस्तुगत उपाधिया की समष्टि द्वारा निर्धारित होती हैं जिन्हे छात्र ने क्रिया करते समय अपना लक्ष्य बनाया होता है। उदाहरणार्थ बौद्धिक क्रियाओ के क्रमिक आत्म सात्करण के सिद्धात के अनुसार सामान्यीकरण चितन सक्रियता का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है और यह पहलू उन्ही, केवल उन्ही बातो के अनुसार रूप ग्रहण करता है जो इस सक्रियता के अभिविन्यासात्मक आधार म शामिल होती है। केवल ये ही बाते महत्त्व रखती हैं, शप महत्त्वहीन होती है चाहे वे ऐसी सभी वस्तुओ मे क्यो न पायी जाती हो जिनस छात्र का वास्ता पडता है।

अनेक सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओ ने पाया कि सामग्री का आत्म सात्करण छात्र की **सज्ञानात्मक सक्रियता की सरचना** पर आधारित होता है जो अपनी बारी मे **शिक्षा की विधियो** पर निर्भर करती है। इस प्रकार यह बात भी सिद्ध हुई कि **ज्ञान का आत्मसात्करण और चितन शक्ति का विकास शिक्षण के स्वरूप, सार तथा विधियो से सबद्ध हैं।** जिन मामलो मे अध्यापक की देखरेख मे छात्र सीखे जा रहे प्रत्ययो के लक्षण और नये प्रकार के कृत्यको की पूर्ति के तरीके स्वय खोजता है शिक्षण मे और अधिक विकास सहायक प्रभाव पैदा हो जाता है। यदि शिक्षण प्रक्रिया मे **बाह्यीकरण से आभ्यतरीकरण** की ओर सक्रमण के लिए (यह ऐद्रिक क्रियामूलक कृत्यको की पूर्ति म ज्ञान का प्रयोग करन म व्यक्त होता है) और बौद्धिक क्रियाकलाप की सामान्यीकृत युक्तियो की खोज के लिए उपयुक्त परिस्थितिया बना दी जाय तो आत्मसात्करण विशेषत आसान हो जाता है।

चितन शक्ति का विकास क्या शिक्षण प्रक्रिया के दौरान होता है यदि प्रश्न सज्ञानात्मक समस्याओ को स्वय ही हल करने की योग्यता और समस्यामूलक स्थिति से निकास स्वय ही ढूढने की क्षमता का हो? यह मत प्रतिपादित किया गया कि पर्याप्त स्वतत्र रूप स सोचने की योग्यता क अभाव का कारण यह होता है कि शिक्षण क दौरान ज्ञान देने की अनुत्पादक विधि इस्तेमाल की जाती है यानी प्राथमिक कक्षा

के छात्र को प्राय सामान्यीकरण के औपचारिक तर्क के तरीके ही सिखाये जाते है। वास्तव मे बहुत वर्षो तक प्राथमिक शिक्षा मे मुख्य बल मूर्त अथवा विशेष से औपचारिकत सामान्य समान और एकरूप की ओर सक्रमण के जरिये सामान्यीकरण करना सिखाने पर ही दिया जाता रहा था। फलस्वरूप बच्चे मे अमूर्त ढग से सोचने की योग्यता नही आ पाती थी अथवा यह योग्यता स्वत स्फूर्त ढग से प्राय शिक्षण की स्कूली विधियो की बदौलत नही अपितु उनके बावजूद विकसित होती थी। इस मत के प्रतिपादको की दृष्टि मे उन बहुसख्य अनुसधानो पर आधारित आपत्तियो मे कोई दम नही है, जो सिद्ध करते है कि प्राथमिक कक्षाओ के छात्र का चितन मूर्त चितन होता है, कि उसमे विशेष से सामान्य की ओर सक्रमण पाया जाता है, यानी वह आगमनात्मक चितन होता है। शिक्षण पद्धति को दूसरे ढग स भी सगठित किया जा सकता है और दूसरे परिणाम भी पाये जा सकते है जो दिखायेगे कि सामान्य से विशेष की ओर सक्रमण के आधार पर ठोस प्रत्यय बनाना सभव है।

अत शिक्षा विषयो को एसा बनाने की कोशिश की गयी कि उनसे स्कूली छात्रो मे अमूर्त ढग से सोचने की योग्यता पैदा हो और वे ठोस परिघटनाओ का आगे विश्लेषण करने मे वैज्ञानिक प्रत्ययो का सहारा ले। दूसरे शब्दो मे, लक्ष्य यह था कि बच्चो को अपन चितन म सामान्य से विशेष की ओर बढना सिखाया जाये। इसके लिए गणित और भाषा जैसे विषयो के विशेष पाठ्यक्रम बनाये गये जो इस सिद्धात पर आधारित थे।

जैसा कि ज्ञात है पुरानी पद्धति के अनुसार बच्चो को सबसे पहल गिनती सिखायी जाती थी जो कि अधिक सामान्य गणितीय प्रत्यय–राशि–का एक विशेष रूप है। मनोविज्ञानवत्ताओ ने एक प्राक्कल्पना पेश की क्या ऐसा नही हो सकता कि बच्चे को पहले राशि के सामान्य प्रत्यय स परिचित कराया जाये और इसके बाद ही विशेष रूपो पर आया जाये? बच्चे के मन मे ऐसा प्रत्यय बन सके इसके लिए आवश्यक था कि पहले वस्तु के आतरिक सार को उदघाटित किया जाय अर्थात वस्तु की भीतरी विशेषताओ को उघाडा और किसी माडल म अकित किया जाये और वस्तु के परिमाणात्मक प्राचल दिखाये जाय जैसे

छात्रो को बताया जाये कि लबाई क्या होती है, भार क्या होता है, वस्तुओ की समतुल्यता क्या होती है, वगैरह। दूसरे शब्दो मे, उन्हे राशियो व परस्पर सबध से परिचित कराया जाये। इस प्रकार राशि के प्रत्यय का समावेश होने से पहले ही बच्चे वस्तुओ के सहसबधो से अवगत हो जायगे यथार्थ वस्तुओ के साथ काम करते, उनमे विभिन्न प्राचल (भार आयतन लबाई क्षेत्रफल, इत्यादि) मालूम करेगे अलग-अलग प्राचलो के मुताबिक इन वस्तुओ की तुलना करेगे और समतुल्यता अथवा असमतुल्यता के सबध को विशेष चिह्नो मे दिखाना सीखेगे (क = ख क > ख)। अक्षर चिह्नो का उपयोग वस्तुओ से विसबधित होने और राशियो को बौद्धिक धरातल पर समझने की सभावना देता था। इस प्रकार स्कूली छात्र गिनती जानने से पहले ही उत्क्रमणीयता अनुत्क्रमणीयता सक्रामिता, एकदिष्टता आदि गणितीय परिघटनाओ को समझने लग गये, जिसकी बदौलत व पहली कक्षा के पूर्वार्ध मे ही समीकरण के सवाल कर सकते थे। अनुसधानो ने दिखाया कि राशियो की मुख्य विशेषताओ को प्रदर्शित करनेवाले अक्षर चिह्न और फार्मूले पहली कक्षा के बच्चो के लिए गिनती से परिचय होने से पहले भी सर्वथा ग्राह्य थे। शिक्षण पद्धति के ऐसे सगठन के परिणामस्वरूप बच्चो मे अमूर्त चितन तथा सामान्यकारी योग्यताओ के विकास और शिक्षा सामग्री के सचेतन आत्मसात्करण के लिए आवश्यक पूर्वापेक्षाए पैदा हो जाती है और जिज्ञासा बढ जाती है।

बहुत कुछ इसी प्रकार से भाषा की शिक्षा भी दी जाने लगी। स्कूली छात्रो के सामने शब्द के रूप तथा अर्थ के बीच मौजूद कार्यात्मक सबध उदघाटित किया जाता अर्थात बच्चो को भाषावैज्ञानिक विश्लेषण सिखाया जाता वे सामान्य से विशेष की ओर बढते, भाषा को महसूस करने लगते और इस तरह आगे चलकर व्याकरण और शैली को हृदयगम करना उनके लिए अधिक आसान हो जाता।

आयु-वर्ग एव शिक्षा मनोविज्ञान मे प्रयुक्त विधिया

मनोविज्ञान की एक शाखा होने के नाते आयु-वर्ग एव शिक्षा मनोविज्ञान ऐसे मनोवैज्ञानिक तथ्यो के सग्रह के लिए जिनका कि

वैज्ञानिक विश्लेषण किया जा सकता है, मुख्यत दो विधियां इस्तेमाल करता है—**प्रेक्षण और प्रयोग**। किंतु मनोवैज्ञानिक तथा शिक्षावैज्ञानिक अनुसधान के विषय की विशिष्टता के कारण इन विधियो के उपयोग मे कुछ आपरिवर्तन आवश्यक हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, आयु-वर्ग मनोविज्ञान म प्रेक्षण प्राय ऐसे तथ्यो के क्रमिक अभिलेखन का रूप ले लेता है जो बच्चे के मनोविकास पर प्रकाश डालते है। दूसरे शब्दो मे, उसमे प्रेक्षण का रूप **दैनंदिनी की प्रविष्टियो** जैसा होता है।

पिछले वर्षों मे आयु-वर्ग एव शिक्षा मनोविज्ञान मे मनोवैज्ञानिक प्रयोगो की भूमिका बहुत बढ गयी है और उनमे भी अधिकाशत बल **प्रयोगशाला प्रयोग** के बजाय **प्राकृतिक प्रयोग** पर ही दिया जा रहा है, जिसे बच्चे के अध्ययन म प्रमुख स्थान प्राप्त है।

प्राकृतिक प्रयोग प्रयोगकर्त्ता द्वारा विशेष रूप से निर्मित तथा जान-बूझकर परिवर्तित अवस्थाओ मे छात्रो की सज्ञानात्मक सक्रियता व्यक्तित्व की विशेषताओ और उनके परस्पर सबधो की गवेषणा करने की सभावना देता है। सोवियत शिक्षा मनोविज्ञान **निर्माणात्मक (शैक्षणिक) प्रयोग** को बहुत महत्त्व देता है जो कि प्राकृतिक प्रयोग का ही एक रूप है। इस तरह के प्रयोग मे छात्र के मनोविकास मे होनेवाले परिवर्तन उसपर (छात्र पर) अध्यापक (प्रयोगकर्त्ता) के सक्रिय प्रभाव के फलस्वरूप देखे जाते है। जो भी तथ्य छोटी कक्षाओ के छात्रो द्वारा अमूर्त प्रत्ययो को ग्रहण किये जाने की सभावना को दर्शाते हैं वे सभी निर्माणात्मक (शैक्षणिक) प्रयोगो के फलस्वरूप ही पाये गये हैं।

तथ्य सकलन की एक अन्य विधि तथाकथित **यमलीय विधि** है। इसमे प्रेक्षण तथा प्रयोग के दौरान एकअडी यमलो के मानसिक विकास की तुलना की जाती है और चूंकि यमलो की आनुवशिक विशेषताए समान होती है इसलिए कई परिवेशी कारको, पालन व शिक्षा के प्रभावो को स्पष्टत अलग किया जा सकता है।

बच्चे के मनोविकास का अध्ययन **अनुप्रस्थ काट** विधि से भी किया जा सकता है, जब अनुसधानकर्ता मानस निर्माण के किसी निश्चित क्षण की मानसिक विशेषताओ को जानने का प्रयत्न करता है। ऐसी काट कई-कई बार दोहरायी जाती हैं और उनसे एक साथ बहुत सारे

छात्रो के बारे मे जानकारी पायी जा सकती है। कभी-कभी विशेषज्ञ लबे अरसे (कई सालो) तक एक ही छात्र का अध्ययन करता रहता है और उसके मानस मे आनेवाले कतिपय महत्त्वपूर्ण परिवर्तनो को दर्ज करता जाता है। इस प्रकार के अध्ययन को अनुदैर्घ्य अध्ययन कहा जाता है।

आयु वर्ग एव शिक्षा मनोविज्ञान बहुत सी ठोस गवेषणात्मक विधियों का व्यापक प्रयोग करता है जिनमे प्रेक्षण तथा प्रयोग के सभी रूप और रूपातर (सभाषण कार्यकलाप के फलो का विश्लेषण, परीक्षाए, आदि) शामिल है। ठोस गवेषणात्मक विधियो का बाहुल्य तथा वैविध्य आधुनिक शिक्षा तथा आयु-वर्ग मनोविज्ञान की सिद्धात तथा व्यवहार, दोनो की ही दृष्टियो से महत्त्व रखनेवाली जटिल समस्याओ का समाधान सुनिश्चित करते हैं।

अध्याय २

मानसिक विकास और शिक्षण

§१ मानसिक विकास की अवस्थाए

विकास – बच्चे द्वारा सामाजिक व ऐतिहासिक अनुभव के आत्मसात्करण की प्रक्रिया

मनुष्य और पशुओ का मानस निरतर विकास की हालत म [illegible] है। किंतु पशुओ और मनुष्य के विकास के स्वरूप तथा मार्ग में [illegible] अतर होता है। मनुष्य और पशुओ की मानसिक क्रियाए [illegible] से भी और सरचना की दृष्टि से भी समरूप नहीं हो [illegible]। [illegible] का मानसिक विकास मुख्य रूप से जैविक्त नियत [illegible] के अतरण के जरिये होता है। उसके आधार पर [illegible] बाह्य परिवेश के अनुकूल बनाता है। इसके विपरीत [illegible] क्रियाओ की विशिष्टता यह है कि वे बच्चे द्वारा [illegible] और ऐति-हासिक अनुभव को आत्मसात् किये जाने की प्रक्रिया [illegible] हैं। बच्चा मनुष्यो के बीच, मनुष्यो द्वारा [illegible] और वस्तुओ के सबधो के बीच पैदा होता और रहता है। [illegible] आचरण का अनुभव स्थिरांकित होता है। [illegible] की प्रक्रिया ही बच्चे का विकास है। [illegible] म, अर्थात उनके द्वारा सिखाया जाता [illegible] है।

मनुष्य की मानसिक सक्रियता [illegible] म व्यवहित होती है। लोगो ने प्राचीन काल म ही [illegible] प्रतीको चिह्नो सकेतो, आदि का उपयोग करना शुरू किया था [illegible] आदि के दौरान निश्चित सूचनाओ के [illegible] तथा अतरण के [illegible] होते है। सकेत और वाणी [illegible] और शिक्षा-प्रक्रिया के [illegible]

का कार्य करते है। अत सबसे पहले इन साधनो का उद्भव और विकास – और इसमे संस्कृति का विकास भी आ जाता है – ही मानव के ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया को द्योतित करता है। इन साधनो म दक्षता प्राप्त करन पर ही वैयक्तिक विकास निर्भर होता है। बच्चे की चितन स्मरण तथा प्रत्यक्षण क्षमता काफी हद तक बोली, काम करने क तरीका सकतो चिह्नो आदि के प्रयोग म उसकी दक्षता का परिणाम होती है।

मानवजाति क इतिहास मे कार्यकलाप के साधनो का ही विकास नही हुआ है अपितु इन साधनों के अतरण, उत्तरवर्ती पीढियों को ऐतिहासिक अनुभव के अतरण का विशेष तरीका भी जमा है, बढा है और जटिलतर होता गया है। यह विशेष तरीका शिक्षण है। वह सामाजिक अनुभव को अतरित करने की एक लक्ष्योद्दिष्ट, विशेषत गठित प्रणाली है। इस प्रकार शिक्षण बच्चे के मानसिक विकास की प्रक्रिया में निर्णायक भूमिका अदा करता है।

मानसिक विकास की जैविक अवस्थाए

जैसा कि बताया जा चुका है जैविक और आनुवशिक नियमो मे मनुष्य के मानसिक विकास की मुख्य विशेषताओ की व्याख्या करना सैद्धातिक दृष्टि से भ्रामक है और व्यवहार मे बडी कठिनाइया उत्पन्न कर सकता है चूकि तब अध्यापक की भूमिका निष्क्रिय प्रेक्षक से अधिक कुछ नही होती। मार्क्सवादी आयु वर्ग और शिक्षा मनोविज्ञान यह मानकर चलता है कि मनुष्य के मानसिक विकास के नियम समाज की उपज होते हैं और विकास की प्रक्रिया बच्चे के रहन-सहन तथा पालन की अवस्थाओ की जटिल समष्टि म निर्धारित होती है।

विकास की जैविक अवस्थाओ आनुवशिकता और शारीरिक विकास की तत्रिकाक्रियात्मक विशेषताओ की क्या भूमिका है?

मनुष्य की मानसिक सक्रियता एक बहुत ही जटिल वस्तु है। उसकी विशेषताए सबसे पहले रहन-सहन और पालन की उपज होती हैं। शब्द-तर्कपरक स्मृति सप्रत्ययात्मक चितन वस्तुपरक प्रत्यक्षण और अन्य उच्चतर विशिष्टत मानवीय मानसिक क्रियाए जैविक और

आनुवशिक तरीको से न तो अकित होते है न अतरित ही किये जाते हैं। इस कारण हम उन्हे ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया मे बदलता और अधिकाधिक परिष्कृत होता पाते है।

मनुष्य की जटिल, जीवनकाल मे विकासमान मानसिक सक्रियता (चिंतन, बोली) और अधिक सामान्य नैसर्गिक क्रियाओ (अनुकूलित सबध आदि बनाने की गति) के बीच भेद किया जाना आवश्यक है। मानसिक सक्रियता मे बहुत सी अन्य चीजो के अलावा ये सामान्य क्रियाए भी शामिल होती हैं। उदाहरणार्थ ज्ञात है कि मनुष्य की सगीत योग्यता और सूक्ष्म ध्वनि पहचान क्षमता के बीच, गणितीय चितन और देशिक विश्लेषण व सश्लेषण क्रिया के बीच सबध होता है। सामान्य, नैसर्गिक गुण, जिन्हे आम तौर पर सहज वृत्तिया कहा जाता है मनुष्य की अधिक जटिल और बाह्य परिस्थितियो से प्रभावित मानसिक क्रियाओ के अग होते है।

कुछ मामलो मे, जब सामान्य क्रियाए अल्पविकसित अथवा अवरुद्ध होती है, वे अपने से उच्चतर अधिक जटिल मानसिक सक्रियता को निर्धारित करने लगती है। उदाहरणार्थ, प्रातस्था की पश्चकपाल भित्ति पर गभीर चोट लगने से मनुष्य ठीक से गणना नही कर पाता अर्थात उसमे परिकलन अक्षमता पैदा हो जाती है। सामान्य विकास की हालत मे कतिपय सहज वृत्तिया मानसिक सक्रियता के विकास की केवल एक शर्त होती है, लेकिन चूकि मानसिक सक्रियता कतई भी इन सामान्य क्रियाओ तक सीमित नही है, इसलिए वह उनपर प्रत्यक्षत निर्भर नही भी हो सकती है। यहा तक सिद्ध किया जा चुका है कि स्वय सामान्य क्रियाए भी एक विशेषत सगठित कारक के प्रभाव से विकसित हो सकती है। इस तरह, मनोविज्ञानवेत्ताओ ने मिसाल के लिए, सूक्ष्म ध्वनि पहचान शक्ति विकसित करने के तरीके ढूढे है। स्थानिक मस्तिष्क विकारो के रोगियो के क्षतिपूरक पुनःस्थापक उपचार के परिणामस्वरूप जटिल मानसिक सक्रियता (बोली चितन प्रक्रियाए) के ढाचे के पुनर्निर्माण का प्रचुर अनुभव बताता है कि जटिल मानसिक सक्रियता और सामान्य क्रियाओ के बीच एक गतिशील व्यवहित सबध है (सोवियत वैज्ञानिक अ० र० लूरिया और उनके सहयोगियो के अनुसधान)।

उच्चतर तंत्रिका सक्रियता के प्ररूप को कुछ वैज्ञानिक शिशु के कार्य की एक आनुवंशिक अंतर्निहित विशेषता मानते हैं। वह तंत्रिका प्रक्रियाओं की शक्ति, गतिशीलता और संतुलन को द्योतित करता है। किंतु विकास की मनोवैज्ञानिक और शरीरक्रियात्मक विशिष्टताओं का यह संबंध भी एकांगी नहीं है। वह स्वयं बच्चे के व्यक्तित्व की संरचना और उसके विकास की प्रक्रिया की अधिक जटिल प्रणाली में शामिल है और काफी हद तक उनसे निर्धारित होता है। उदाहरणार्थ, तंत्रिका प्रक्रियाओं की अति गतिशीलता अगर कुछ परिस्थितियों में आशिक्त सूझ-बूझ की तीव्रता और कार्य रीति को बदलने की संभावना का आधार होती है तो अन्य परिस्थितियों में ध्यानाभाव तथा आवेगशीलता में सहायक बनती है।

इस प्रकार शरीरक्रियात्मक, सरलतम और आनुवंशिकतः अंतर्निर्धारित मानसिक विकास की प्रक्रिया के कतिपय पहलुओं पर प्रभाव डाल सकती हैं। किंतु उनका महत्त्व निर्णायक नहीं है। विकास प्रक्रिया की मूल अंतर्वस्तु और क्रियातंत्र बहुत सी परिस्थितियों की समष्टि पर निर्भर होते हैं। उनमें प्रमुख बच्चों के शिक्षण व पालन की परिस्थितियां हैं।

§२ शिक्षण तथा पालन की प्रक्रिया में बच्चों के मनोविकास की मुख्य दिशाएं

मनुष्य के मानसिक विकास का मूल समाज में देखने का अर्थ यह कतई नहीं है कि विकास की प्रक्रिया को ज्ञान और अनुभवों के मामान्य संचय तक सीमित मान लिया जाये। मनुष्य के मानसिक विकास की सामाजिक प्रकृति को ध्यान में रखकर हम इस प्रक्रिया की जटिलता और बहुमुखी स्वरूप को समझ सकते हैं, क्योंकि ऐसा उपागम होने से ही विकास किन्हीं क्रियाओं की परिपक्वता का अथवा परिमाणात्मक वृद्धि का नहीं, अपितु मनुष्य के समग्रत विकास का, अर्थात व्यक्तित्व के विकास का पर्याय बनता है।

शिक्षण की अतर्वस्तु और मानसिक विकास

शिक्षण की प्रक्रिया मे बच्चो के विकास का मुख्य और निर्धारी पहलू ज्ञान और कार्य रीतियो का जटिलीकरण होता है। आज बहुत से अनुसधानकर्त्ता सिद्ध कर चुके है कि **शिक्षण की अतर्वस्तु**, यानी बच्चे को सिखाये जानेवाले ज्ञान व कार्य-रीतियो को बदलकर उसके विकास को भी काफी कुछ बदला जा सकता है।

सोवियत वैज्ञानिको की अनेक खोजे बताती है कि शिक्षण की अतर्वस्तु मे विशेष साधनो (जैसे सवेदन विकास के दौरान आकृति और रग के मानक, माप के मानक, गणित की शिक्षा के दौरान विभिन्न माडल तथा ग्राफ) का समावेश किये जाने से बौद्धिक विकास की उन सीढियो मे बुनियादी परिवर्तन आ जाता है, जिन्हे निरपेक्ष और अपरिवर्तनीय माना जाता रहा था। स्विस मनोविज्ञानवेत्ता जा पियाजे (१८९६-१९८०) ने अपने अध्ययनो के आधार पर दावा किया था कि गणितीय सक्रियाए ७-८ वर्ष से कम आयु के बच्चे के लिए दुर्बोध होती है। पियाजे द्वारा उल्लिखित 'परिमाण की असरक्षणता" की परिघटना सर्वविदित है, जो निम्न प्रयोग म देखी जा सकती है। दो समान घडो म समान मात्रा मे पानी भरा जाता है। इसके बाद बच्चा देखता है कि एक घडे से पानी दूसरे, अधिक सकरे व ऊचे घडे मे भरा जा रहा है। पानी के स्तर को ऊचा उठा देखकर बच्चा कहता है कि पानी ज्यादा हो गया है। लेकिन जैसा कि सोवियत वैज्ञानिको के अध्ययनो ने दिखाया है ५ वर्ष की आयु के बच्चो के सबध मे भी उपरोक्त परिघटना सही नही होगी, यदि उन्हे मापने की सक्रिया सिखायी जाये।

तार्किक सक्रियाए जो जैसा कि पियाजे की मान्यता थी ११ १२ वर्ष की आयु मे जाकर ही विकसित हो पाती है वस्तुत स्कूलपूर्व आयु म ही पहुच क भीतर बन जाती है, यदि उन सक्रियाओ को करने के विशेष साधन उपयोग किये जाये। उदाहरणार्थ, जब ६ ७ वर्ष की आयु के बच्चो को किसी विशेष पहचान चिह्न के मुताबिक चीजो को जोडने के लिए मानक प्रतिरूप इस्तेमाल करना सिखाया जाता है तो उनमे वर्गीकरण की सक्रियाओ के विकास की क्रियाविधियां और

मीडिया काफी बदल जाती है। अध्ययनों से प्राप्त सामग्री बताती है कि प्राथमिक कक्षाओं के बच्चे और कभी-कभी तो स्कूलपूर्व आयु के बच्चे भी पाठ्य विषयों की वैज्ञानिक अंतर्वस्तु को हृदयंगम करने में सक्षम होते हैं। वैज्ञानिक ज्ञान को आत्मसात् करना बच्चों की चिंतन शक्ति के विकास को बुनियादी तौर पर पुनर्गठित करना आवश्यक बना देता है।

किसी भी वैज्ञानिक विषय के अनुरूप ज्ञान की संरचना जटिल होती है और इस संरचना में विशेष अभ्यास, वस्तुएं तथा सक्रियाएं समाविष्ट रहती है। यह आवश्यक है कि बच्चे नयी सक्रियाओं को उनके विशिष्ट प्रकार्यों में, अर्थात उस कार्यकलाप के संदर्भ में आत्मसात करें, जिसे संपन्न करने का साधन यह सक्रिया है। उदाहरणार्थ, अंक-गणितीय सक्रियाओं को अंकगणितीय प्रश्नों को हल करने के साधन के रूप में सिखाया जाता है। किसी निश्चित प्रश्न को हल करने के लिए आवश्यक सक्रियाओं की समष्टि उस प्रश्न के हल करने की रीति होती है।

इस प्रकार शिक्षण में बच्चे निश्चित प्रश्नों और उन्हें हल करने की रीतियों का सीखते अथवा आत्मसात् करते हैं। ज्यादा विविध प्रश्नों को हल कर पाना रीति के सामान्यीकरण पर निर्भर होता है। सामान्यीकरण की विभिन्न मात्रावाली रीतियों की संरचनाओं में अंतर होता है। बहुत से बच्चे किसी निश्चित क्रिया को मन में रखकर और उससे सीधे अंकगणितीय क्रिया पर आकर अंकगणित के प्रश्न हल करते है। इसीलिए उनसे तथाकथित प्रतिलोम प्रश्नों को हल करने में गलतियां होती हैं। उदाहरण के लिए प्रश्न है एक लड़का दूसरे लड़के को तीन पेंसिलें दे देता है और उसके पास पांच पेंसिलें बच जाती है। उसके पास कुल कितनी पेंसिलें थी? इस सवाल में बच्चे घटाने की सक्रिया इस्तेमाल कर बैठते है क्योंकि उनकी चेतना में यही क्रिया आम तौर पर दे देना बच जाना ' शब्दों से जुड़ी होती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बच्चे अंकगणितीय सक्रिया के सामान्यीकृत अर्थ को नहीं समझते। इसका कारण यह है कि अंकगणितीय प्रश्नों को हल करने की सामान्यीकृत रीति का ढांचा जटिल होता है और उसमें 'समान – असमान 'अंश – पूर्ण' के संबधों और

अकगणितीय सक्रिया का समावेश होता है। जिन बच्चो को सामान्यीकृत रीति सिखायी जाती है, वे सीधे प्रश्नो और प्रतिलोम प्रश्नो को समान सहजता से हल कर लेते है।

इस प्रकार शिक्षण की अतवस्तु बच्चो द्वारा सीखी जा रही रीतियो और ज्ञान की विशेषताए और शिक्षण म एक निश्चित क्रमबद्धता बच्चो के विकास क एक मुख्य पहलू को द्योतित करते है। बच्चे के **बौद्धिक विकास का सामान्य प्ररूप और सरचना शिक्षण की अतर्वस्तु पर निर्भर होते हैं।**

रीतियो और ज्ञान के प्रयोग के मानसिक तत्रो का विकास

एक ही तरह की रीतिया सक्रियता क सामान्य प्ररूप को निधारित करती हुई बच्चो द्वारा कमोवेश सफलता के साथ इस्तेमाल की जा सकती है। सफलता की मात्रा दत्त कार्य के किये जाने के मूल मे निहित मानसिक तत्रो की विशेषताओं पर निर्भर होती है। मनोवैज्ञानिक अनुसधानो से प्राप्त तथ्य दिखाते है कि ये तत्र अलग-अलग पाठ्य विषयो के लिए विशिष्ट सक्रियाए और सबध नही होते बल्कि उनका **सामान्यीकृत स्वरूप** होता है। सोवियत मनोविज्ञानवेत्ता बच्चो के बौद्धिक विकास की सामान्य प्रक्रिया मे बौद्धिक सक्रियता की सामान्यीकृत युक्तियो (अमूर्तन, तुलना, विश्लेषण, सश्लेषण) का महत्त्व प्रदर्शित कर चुके हैं। उदाहरणार्थ अकगणित के प्रश्न को हल करने मे 'अश — पूर्ण' सबध का उपयोग करने के लिए बच्चे को इस सबध के बारे मे सामान्यीकृत ज्ञान का प्रश्न की ठोस शर्तो के साथ सहसबध स्थापित करना होगा और शर्तो मे से वे चीजे अलग करनी होगी जो इस सबध के अनुरूप है (लडके के पास जितनी पेंसिले थी, वे "पूर्ण" है और जो बच गयी और जो उसने दे दी वे "अश" है)। प्रतीत हो सकता है कि यह सब स्वत हो रहा है और ऐसी घटना के पीछे कोई भी विशेष क्रियाए नही है। किंतु वास्तव म बात एसी नही है। रीति के प्रयोग की प्रक्रिया मे रीति और अर्जित ज्ञान का उस मूर्त प्रश्न से सहसबध स्थापित करना आवश्यक है जिसमे वे प्रयोग किय जाते हैं। छात्रो को ऐसे सहसबध क उच्चतर रूप सिखाये जान चाहिए

जैसे मूर्त और अमूर्त भाग को एक को दूसरे से जोडना, परस्पर सबद्ध बनाना।

विभिन्न कार्यकलापो के दौरान और विभिन्न पाठ्य विषयो मे भी प्राय ये मनोवैज्ञानिक तत्र का प्ररूप अथवा स्तर सामान्यत वही होता है। उदाहरणार्थ जो बच्चे मुख्यतया सामग्री की मूर्त अनवस्न्न मे निरूपित होते है और अमूर्त सामान्यीकृत अर्थ को अलग करने मे कठिनाई अनुभव करते है उनके साथ ऐसा प्राय गणित मे भी होता है और भौतिकी मे भी इतिहास मे भी होता है और साहित्य मे भी। ठीक इसी प्रकार बच्चो के विविध कार्यकलापो मे यथाविहितवादी प्रवृति और सामग्री की ठोस विशिष्टताओ का विश्लेषण करने व उन्हे ध्यान मे रखने के बजाय अमूर्त भावो पर अधिक जोर देने की प्रवृत्ति भी प्रकट हो सकती है। अत सामान्यीकृत क्रियाओ (तुलना, विश्लेषण सश्लेषण आदि) का विकास सीखी हुई रीतियो के प्रयोग की सफलता को निर्धारित करता है।

मानसिक तत्रो का निर्माण बच्चो के विकास की प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है।

व्यक्तित्व के सामान्य विशेषकों का विकास

विकास की प्रक्रिया मे ज्ञान तथा कार्य रीतिया बदलते और जटिलतर ही नही बनते है। बच्चे के मानसिक विकास मे उसके समस्त व्यक्तित्व का बदलाव, अर्थात व्यक्तित्व के सामान्य विशेषकों का विकास भी शामिल रहता है। विकास की प्रक्रिया मे बच्चो की मानसिक सक्रियता के विभिन्न पहलू बदलते रहते है रीतियो और अधिकाधिक सख्या मे विभिन्न क्रियाओ को करने की योग्यताओ का सचयन और परिवर्तन होता है ज्ञान और धारणाए बदलती है, नये अभिप्रेरको और अभिरुचियो का विकास होता है। फिर भी इन सब परिवर्तनो मे जो सबसे सामान्य और निर्णायक हैं, उन्हे हम निर्दिष्ट कर सकते है। ये हैं १) **बच्चे के वैयक्तिक झुकाव के सामान्य विशेषक**, २) **उसकी सक्रियता की मानसिक सरचना की विशेषताए**, और ३) **चिंतन के तत्रो का विकास-स्तर।**

१ वैयक्तिक झुकाव का विकास। विकास की प्रक्रिया में बननेवाले अभिप्रेरकों की समस्त बहुविधता के बावजूद बच्चों और किशोरों का अध्ययन करके उस मुख्य झुकाव को पहचाना जा सकता है जो उनके आचरण व व्यवहार की मुख्य विशेषताओं को निर्धारित करता है। कुछ बच्चों में मुख्य पढ़ाई की ओर झुकाव होता है उनके लिए अच्छा पढ़ना शिक्षक की अपेक्षाओं को पूरा करना महत्त्वपूर्ण होता है, उन्हें अपने परीक्षा परिणामों की बहुत चिंता रहती है। कभी-कभी ऐसा झुकाव किंचित् औपचारिक रूप भी ले लेता है छात्र को रट्टू बना देता है। दूसरे बच्चों में ज्ञान की ओर झुकाव होता है। वे प्रश्न समस्याएं हल करना पसंद करते हैं, नयी-नयी बातें जानना चाहते हैं। किंतु सभी पाठ्य विषयों से उनका समान लगाव नहीं होता। इन बच्चों के लिए अंक अथवा परीक्षा परिणाम उतने महत्त्वपूर्ण नहीं होते, जितनी यह बात कि उनकी जानकारी में कितनी वृद्धि हुई है। बहुत से बच्चों के लिए सर्वाधिक महत्त्व अपने साथी संगियों, आसपास के लोगों के साथ संबंधों का होता है। इन बच्चों का व्यवहार समुदाय में, अपने समवयस्कों में और वयस्कों के सामने एक खास स्थान पाने की ओर लक्षित रहता है। प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों के लिए पहले ही स्कूलपूर्व आयु में ही विकसित हो चुके व्यवहार और संबंधों के सरूपों का कभी कभी अत्यधिक महत्त्व होता है।

मुख्य वैयक्तिक झुकाव पर बच्चों के मानसिक विकास के बहुत से अन्य महत्त्वपूर्ण पहलू भी निर्भर होते हैं। उदाहरण के लिए ज्ञान की ओर झुकाव होने पर बच्चे बाह्य जगत की वस्तुओं और परिघटनाओं के बारे में जानने को उत्सुक रहते हैं और ऐसी जानकारी पाने की रीति को अपनी चेतना में अंकित कर लेते हैं। किंतु साथ ही ये बच्चे क्रियाओं या दक्षता के मामले में किंचित् लापरवाह भी हो सकते हैं, क्योंकि बहुधा उनकी कार्य के परिणाम पाने में रुचि नहीं होती (विशेषत जब इसका संबंध व्यावहारिक कृत्यकों को पूरा करने से होता है)। पढ़ाई की ओर झुकाव रखनेवाले बच्चे पढ़ाई से संबंधित कृत्यकों को और कुछ खास क्रियाओं को गंभीरतापूर्वक लेते हैं किंतु उनमें कभी कभी ढर्रे के मुताबिक काम करने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है और किसी नये (सीखे हुए नमूने से मेल न खानेवाले) प्रश्न या

हल करन की सामान्य रीति खुद ही खोजने मे व कठिनाई अनुभव कर सकते है। जिन बच्चो के लिए दूसरो के साथ सबध विशेष महत्व रखते है, वे अपने इस झुकाव को अलग-अलग तरीको स साकार बना सकते है। उदाहरणार्थ, कुछ बच्चे कक्षा मे सबसे पहले हाथ उठात है और कुछ इसी से सतोष कर लेते है कि उन्ह गिरोह का सरदार, शरारती आदि कहा जाता है।

सामान्य झुकाव ही बच्चो के स्कूली जीवन को, उनकी धारणाओ, ज्ञान तथा व्यवहार सरूपो के विकास की विशेषताओ को निर्धारित करेगा। अत **वैयक्तिक झुकाव को ध्यान मे रखना सर्वाधिक कारगर शिक्षण तथा पालन की सर्वप्रथम और आवश्यक पूर्वशर्त है।**

किंतु झुकाव कोई जड अपरिवर्तनीय और व्यक्तित्व के प्ररूप को हमेशा के लिए तय कर देनेवाली चीज नही है। यह पाया गया है कि पहले प्राथमिक कक्षाओ मे शनै शनै पढाई के प्रति झुकाव बढता है और फिर चौथी कक्षा से आसपास के लोगो के साथ सबध महत्वपूर्ण बनन लग जाते है।

२ **सक्रियता की मानसिक सरचना का विकास।** हर सक्रियता म कुछ खास तत्त्व समाविष्ट रहते हैं। वे सब मिलकर ही उस सक्रियता की सरचना को द्योतित करते है। ये तत्त्व है **अभिप्रेरक**, यानी वह चीज जिसकी खातिर कोई काम किया जाता है **उद्देश्य**, यानी उस चीज की धारणा जिसे दत्त कार्य को करने के परिणामस्वरूप पाया जाना है **सक्रिया और रीति**, जो दत्त परिणाम को पाने के लिए आवश्यक है और **वस्तु अथवा विषय**, यानी वह सामग्री, जिसे रूपातरित करके आवश्यक परिणाम पाया जायेगा। उदाहरणार्थ, स्कूली बच्चे किंडरगार्टन क बच्चो के लिए नववर्ष वृक्ष को सजाने की चीज या उपहार की वस्तुए बनात है। इस कार्य के अभिप्रेरक अलग-अलग बच्चो क मामले म अलग-अलग हो सकते है। कुछ उसे नन्हे बच्चो का खुश करन क लिए करत हैं कुछ वयस्को के आदेश का पालन करने क लिए और कुछ इसलिए कि इस काम को करने मे खुद उन्ह आनन्द आता है। उद्देश्य सजाने या उपहार की चीज बनाना है। वस्तु वह सामग्री है जिसस य चीज बनायी जाती हैं। सक्रियाए व सभी ठोस क्रियाए है जिन्ह वाछित परिणाम अथवा उत्पाद को पान के लिए

किया जाना है (कागज काटना रगना चित्र बनाना चिपकाना आदि)। इस सार कार्य म बच्चे अपने व्यक्तित्व को अलग-अलग ढगो से अभिव्यक्त करते हैं। कुछ पहले से ही निर्धारित करके कि कौन सी चीजें बनानी हैं (लक्ष्य), तदनुकूल सामग्री चुनते है सभी आवश्यक सक्रियाए करते हैं और वाछित परिणाम या उत्पाद पा लेते है। अन्य लक्ष्य के बारे मे भूल जाते हैं और मिसाल के लिए कार या घर बनाना शुरू कर देते है। कुछ बच्चे मुख्यत उस सामग्री से निर्दिष्ट होते है जो उनके पास है या जिससे काम करने का उन्हे अनुभव है। उदाहरण के लिए पहली कक्षा के एक बच्चे ने कागज का झुनझुना बनाना चाहा। लेकिन मेज पर रूई पडी है और वह गोला बनाने लग जाता है। पूछे जाने पर कि वह क्या बना रहा है वह जवाब देता है 'मालूम नही, क्या बनेगा। दो गोलो को जोडकर वह बर्फ का पुतला बनाता है, फिर पेसिल देखकर पुतले के लिए एक छडी बनाता है और बाकी पसिलो को सडक और स्लेजगाडी की शक्ल मे सजाकर कहता है "बच्चो ने बर्फ का पुतला बनाया है और स्लेज की सवारी कर रहे हैं।" यहा न केवल ठोस उद्देश्य (झुनझुना बनाना) बल्कि अधिक व्यापक उद्देश्य (नववर्ष वृक्ष को सजाने की चीज बनाना) भी भुला दिया गया है।

उद्देश्य और उसका अभिप्रेरको के साथ सबध सक्रियता मे निर्णायक महत्त्व रखते हैं। बच्चे म लक्ष्योन्मुख सक्रियता शनै शनै ही विकसित होती है। उदाहरणार्थ, ३ वर्ष तक के बच्चे अपनी क्रियाओ को पूर्व निर्धारित उद्देश्य के अनुसार नियोजित नही कर सकते और उद्देश्य को आसानी से भुला बैठते है। ५ ७ वर्ष की आयु के बच्चो की क्रियाए काफी हद तक सामग्री से और उस वस्तुपरक स्थिति से निर्धारित होती हैं, जिसमे वे क्रियाए की जाती है। उदाहरण के लिए, वे जब चौकोर टुकडो से घर बनाते है, तो उनकी क्रियाए इसपर निर्भर होती है कि उनके सामने कैसे (किस रूप अथवा रग के) टुकडे पडे है। घर बनाने की पहले से सोची हुई योजना पर उनकी क्रियाए बहुत ही कम निर्भर होती है। स्कूलपूर्व आयु के अत मे ही भावी उत्पाद अथवा परिणाम की धारणा क्रियाकलाप म प्रमुख स्थान लेने लगती है। किंतु ऐसा सभी बच्चो के मामले म नही होता। स्कूल मे पहुचने के बाद भी बहुत से

बच्चो की सक्रियता मे लक्ष्योन्मुखता, सगठनशीलता तथा सकल्प का स्तर काफी नीचा होता है और यह उनके शिक्षण को अत्यधिक कठिन बना देता है।

प्राथमिक कक्षाओ के अत तक अधिकाश छात्रो म सक्रियता के उद्देश्य और अभिप्रेरक के बीच स्वय ही सबध स्थापित करने की योग्यता पैदा हो जाती है। कार्य का सामान्य प्रयोजन बदलने पर बच्चे उसके उद्देश्य को भी बदल सकते हैं और अपनी क्रियाओ को तदनुकूल सगठित कर सकते हैं। यह बात, मिसाल के लिए, निम्न प्रयोग मे देखी जा सकती है। पहली से चौथी कक्षा तक के बच्चो को चौकोर टुकडो और अन्य सामग्रियो से नगर बनाने को कहा गया। किंतु आम कृत्यक हर बार बदल दिया जाता था। मिसाल के लिए, पहली बार ऐसा नगर बनाना था जिसमे बौने और भीमकाय रहते हो। दूसरी बार ऐसे निवासियो का नगर बनाया जाना था जो केवल दो ही रग पहचानते है – लाल और नीला। तीसरी बार कहा गया कि ऐसा नगर बनाये, जिसके निवासी चलते नही, उडते हो। पहली और दूसरी कक्षाओ के बहुत से छात्रो ने तीनो बार एक ही तरह के नगर बनाये और बनाने के ढग म भी कोई तब्दीली नही की। किंतु तीसरी और विशेषत चौथी कक्षाओ के छात्रो ने हर बार उद्देश्य भी बदला और अपनी क्रियाए भी।

आयु म वृद्धि के साथ अपनी सक्रियता को सगठित करने और अपनी योजना को साकार बनाने की योग्यता भी बढती है। ये सब योग्यताए बच्चो के शिक्षा कार्यकलाप मे भी प्रकट होती है। कुछ बच्चे नियत कार्य पूरा करते हुए प्रश्न के केवल अलग-अलग हिस्सो पर ध्यान केंद्रित करते हैं और उन्हे आपस म सबद्ध नही करते, दूसरे पूरे तौर पर प्रश्न की समझ और अन्य पाठ्य सामग्रिया से उसके सबध, आदि को ध्यान म रखकर अनुरूप कार्य-रीतिया चुनते है। इस प्रकार सक्रियता की मानसिक सरचना के विकास की प्रक्रिया म बच्चो के सामान्य व्यवहार की विशेषताए भी बदलती है (लक्ष्योन्मुखता, सगठनशीलता और सकल्प का विकास होता है) और स्वय शिक्षा कार्यकलाप की सरचना भी बदलती है।

३ चेतना के तत्वो का विकास। चेतना के विकास की प्रक्रिया म

बच्चे द्वारा वास्तविकता व आदर्श प्रतिबिंब की अंतर्वस्तु संरचना तथा तत्रा म परिवर्तन आत है। यह बात ग्राम तौर म उसकी चिंतन-क्रिया की विशेषताओं के परिवर्तन म भी प्रकट होती ह। उदाहरणार्थ स्कूलपूर्व आयु का बच्चा अधिकांशत स्थितियों को उनकी अविभाज्यता म और वस्तुआ को उनकी बाह्य विशेषताआ के मुताबिक ही ग्रहण करता है। बाद मे वह वस्तुआ क प्रकार्य को और फिर उनकी सरचना आदि का भी पहचानने समझने लगता है। शनै शनै सकल्पनाए और सकल्पना शृखलाए भी बनने लगती है।

बच्चे की चिंतन शक्ति क विकास क ये विभिन्न स्तर सकल्पनाओ की तुलना जैसे प्रश्न का उत्तर देने म प्रकट होते है। यह पूछे जाने पर कि पत्थर और अडे म क्या अंतर है बच्चे उत्तर देते हैं पत्थर सडक पर, शहर म होता है और अडा दुकान म बिकता है (यह तुलना बच्चे क ठोस, स्थितिमूलक अनुभव पर आधारित है) अडा सफेद होने पर भी अंदर म पीला होता है और पत्थर सिर्फ सफेद या भूरा होता है" (बाह्य लक्षणो का पृथक्करण) अडा खाया जाता है, पत्थर नही", 'अडा खाने के काम आता है और पत्थर मकान बनाने के" (वस्तु क प्रकार्य का पृथक्करण) अडा मुर्गी देती है और पत्थर प्रकृति म खुद बनता है" (उत्पत्ति भेद दर्शाना) दोनो वस्तुए है, लेकिन पत्थर खाया नही जा सकता और अडा खाया जाता है" (वर्ग और प्रकार निदर्शी सकल्पना का इस्तेमाल)। इस प्रकार एक ही यथार्थ अंतर्वस्तु विभिन्न बच्चो द्वारा विभिन्न रूपो मे प्रतिबिंबित की जा सकती है। वे इस अंतर्वस्तु क विभिन्न पक्षो और लक्षणो को पृथक्कृत करते है। फलस्वरूप बच्चे की चेतना की यथार्थ अंतर्वस्तु भी बदल जाती है।

बच्चे की चेतना और चिंतन शक्ति के विकास का स्तर जितना ऊंचा होगा, उसके द्वारा प्रयुक्त और आत्मसात्कृत सकल्पनाए उतनी ही बहुविध लक्षणो से युक्त और जटिल होगी। इसका कारण यह है कि चेतना वस्तुओ के बाह्य गुणधर्मो का सामान्य यांत्रिक प्रतिबिंब नही है, उसमे उस तरह-तरह की अंतर्वस्तु का विश्लेषण सश्लेषण और अंतर्सबंधन भी होता है, जिसे बच्चा पहले लक्षित कर चुका था। इसीलिए विभिन्न लक्षणो को एक समग्र, अविभाज्य वस्तु मे सबधित,

सश्लेषित करने की योग्यता जानने के विकास का एक मुख्य सूचक है। बच्चों को निर्माण के लिए ४ से ७ लक्षण (ठोस, हरा, लंबा, कड़ा) गिनाये जाते हैं और कहा जाता है कि उन वस्तुओं के नाम बताये जिनमें ये सभी लक्षण हों। पता चलता है कि विभिन्न बच्चे (पहली से चौथी कक्षाओं के छात्र) कृत्यक को एक ही जैसी सरलता के साथ हल नहीं कर पाते। कुछ सभी लक्षणों को ध्यान में रख सकते हैं (उनके अनुसार उपरोक्त लक्षण समूह से युक्त चीज "रलगाड़ी" हो सकती है ... साँप हो सकता है)। दूसरे कुछ ही लक्षणों को ध्यान में रखते हैं और "प्याज", "पत्ता" आदि का नाम लेते हैं। कुछ बच्चों को तो दो लक्षणों को जोड़ने में भी दिक्कत होती है। वे एक ही लक्षण को ध्यान में रखते हुए और उनके मन में जो सहचारी संबंध बना हुआ है उसके मुताबिक जवाब देते हैं ('हरा–पेड़', 'कड़ा–पत्थर', 'लंबा–रस्सी' आदि)।

आयु के साथ उन लक्षणों की सख्या ही नहीं बढ़ती, जिन्हें बच्चे किसी अविभाज्य में समेकित कर सकते हैं। सश्लेषण किये जानेवाले लक्षणों का स्वरूप भी बदलता है। ५ से ७ वर्ष तक की आयु के बच्चे मुख्यतया केवल ठोस मूर्त लक्षणों को ही किसी चीज में संबंधित कर सकते हैं। दूसरी-तीसरी कक्षाओं में अमूर्त लक्षणों को सश्लेषित करने की क्षमता बढ़ जाती है। केवल विकास के अधिक ऊंचे स्तरों पर (उनका सभी बच्चों के लिए समान होना जरूरी नहीं है) अमूर्त और मूर्त लक्षणों का सश्लेषण करने की योग्यता प्रकट होती है। अध्ययनों के परिणाम दिखाते हैं कि अमूर्त सैद्धांतिक लक्षणों और मूर्त लक्षणों का विश्लेषण करने और उन्हें किसी अविभाज्य अंतर्वस्तु में जोड़ने की क्षमता चिंतन क्रिया की कारगरता और कृत्यकों को स्वयं सृजनात्मक ढंग से करने की संभावना से परस्पर संबद्ध होती है।

इस प्रकार बच्चे के विकास की अविभाज्य प्रक्रिया में तीन बुनियादी पहलुओं को हम अलग कर सकते हैं: १) शिक्षण की प्रक्रिया में ज्ञान और कार्य-रीतियों का विकास, २) सीखी हुई रीतियों के प्रयोग के मानसिक तंत्रों का विकास, और ३) व्यष्टित्व के सामान्य विशेषकों (झुकाव, सक्रियता की मानसिक सरचना, चेतना और चिंतन शक्ति) का विकास। विकास के इनमें से हर पहलू की कुछ खास विशेषताएं

होती हैं किन्तु ये तीनो पहलू मिलकर ही व्यक्तित्व के परिवर्तन की वैसी प्रक्रिया को रचते हैं जिसे मानसिक विकास कहा जा सकता है।

§३ शैक्षिक परिस्थितियां और शिक्षण की प्रक्रिया में बच्चों के विकास के नियम

मानसिक निर्मितियों के आरंभ तथा विकास के सामान्य नियमों और उन खास विशेषताओं को पहचाना जा सकता है जो बच्चे के विकास के उपरोक्त पहलुओं में से प्रत्येक पहलू के लिए लाक्षणिक है।

मनोविकास की शर्त के रूप में
बच्चे के व्यष्टित्व की क्रियाशीलता

ऐसा एक सामान्य नियम यह है कि बच्चे में नयी मानसिक निर्मितियों का प्रादुर्भाव अनिवार्यतः स्वयं बच्चे की क्रियाशीलता से संबद्ध होना चाहिए। हर नयी चीज, चाहे वह शिक्षण में बाहर से उदाहरणार्थ, रीति के रूप में, दी जा रही है बच्चे के कार्यकलाप में शामिल और इस कार्यकलाप के परिवर्तन से संबंधित होनी चाहिए।

किसी भी सामग्री को तरह-तरह से सीखा आत्मसात् किया जाता है। फलस्वरूप यह बच्चे के विकास के स्तर को देखते हुए विभिन्न शैक्षिक परिस्थितियों की अपेक्षा करता है। इ० म० सेचेनोव कहा करते थे कि 'सीखना दूसरे के अनुभव के फलों का अपने पास उपलब्ध तथ्यों में मिलाना है।" सीखने की प्रक्रिया में बच्चा एक व्यष्टि के रूप में सामने आता है जिसके झुकाव, चेतना और सक्रियता की अपनी विशेषताएं हैं। बच्चे के व्यष्टित्व के मुख्य पहलुओं का विकास सीखने के तरीों को बदलना आवश्यक बना देता है और यह शिक्षण विधियों में प्रतिबिम्बित होना चाहिए। उदाहरणार्थ, यह जरूरी है कि किस आयु-वर्ग का बच्चा है उसके लिए लाक्षणिक मुख्य झुकाव की [illegible] ताओं को ध्यान में रखा जाय। ज्ञात है कि [illegible]

भी नयी मानसिक निर्मितिया बच्चो की क्रीडा-सक्रियता के आधार पर प्रकट होती है। इस कारण उनकी शिक्षा प्राय शिक्षात्मक खेलो के रूप म आयोजित की जाती है। व नयी बातो, नयी रीतियो का ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया म बच्चे की क्रियाशीलता की वृद्धि म सर्वाधिक सहायक होते है।

प्राथमिक कक्षाओ के छात्रो का नयी बातो को सीखना काफी हद तक स्कूली पढाई की सार्थकता और साथ ही सकारात्मक अभिरुचियो की वृद्धि से संबंधित होता है। अत शिक्षा कार्यकलाप को ऐसा बनाया जाना चाहिए कि उसम सीखने की ओर झुकाव, अपनी (अपने ज्ञान, अपनी योग्यता की) जाच और अपनी उपलब्धियो का मूल्याकन करने की क्षमता भी शामिल हो। शिक्षा की प्रक्रिया मे नयी बात का ज्ञान बच्चे के लिए अर्थवान और रुचिकारक होना चाहिए। आगे चलकर अधिक व्यापक अभिप्ररको (उदाहरणार्थ, सामाजिक अभिप्रेरको, आत्म परिष्कार की आकाक्षा आदि) के द्वारा शिक्षा कार्यकलाप स्वय ही प्रभावित होने लग जाता है। अनेक अग्रणी शिक्षाशास्त्रियो का अनुभव बहुत पहले ही सिद्ध कर चुका है कि शिक्षण मे सबसे अधिक सफलता तब मिलती है जब उसमे दत्त आयु वर्ग के या व्यष्टिक प्रारंभिक समूह के लिए जो झुकाव और अभिप्रेरक प्ररूप लाक्षणिक है, उन्हे ध्यान मे रखा जाता है। शिक्षा कार्यकलाप की प्रत्येक छात्र के लिए सार्थकता ही उसकी कारगरता की सबसे मुख्य शर्त है।

मानसिक निर्मितियो के विकास का एक सामान्य नियम यह है कि वे व्यष्टि की सक्रियता के आधार पर बनती है। उल्लेखनीय है कि यह सक्रियता वयस्को की मदद से और उनकी देखरेख म विकसित हो सकती है। बच्चे की सक्रियता मे नये तत्वो का समावेश बाहर से अर्थात बाह्य क्रियाकलाप के रूप मे होता है और शनै शनै यह बाह्य सक्रियता आतरिक सकल्पनात्मक मानसिक सक्रियता मे बदलती जाती है।

अत अभिप्रेरणात्मक क्षेत्र का विकास, चेतना, चिंतन शक्ति और सक्रियता का विकास एक ऐसी बुनियादी आभ्यतरिक पूर्वापेक्षा है, जो नयी मानसिक निर्मितियो के उद्भव तथा विकास को निर्धारित तथा व्यवहित करती है।

ज्ञान के विकास, उसके प्रयोग के तंत्रों और व्यक्तित्व के सामान्य विशेषकों के विकास की शैक्षिक परिस्थितियां

यह सिद्ध किया जा चुका है कि शिक्षण की प्रक्रिया में बच्चों के विकास के जो सामान्य नियम हैं, उनके अलावा बच्चे के मानसिक विकास के विभिन्न पहलुओं के लिए विशिष्ट ठोस शैक्षिक परिस्थितियों को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। शिक्षण की प्रक्रिया में छात्र विभिन्न शिक्षा-विषयों से संबंधित ज्ञान तथा कार्य-रीतियों को सीखते हैं। शिक्षा पाते हुए बच्चा मानवजाति और विज्ञान द्वारा तय किये हुए सारे रास्ते की पुनरावृत्ति नहीं करता है। ज्ञान और कार्य-रीतियों का वह नये सिरे से आविष्कार नहीं करता, अपितु वे बाहर से उसे अंतरित किये जाते हैं और वह उन्हें आत्मसात करता है। शिक्षण में नयी क्रियाओं और नयी रीतियों का समावेश अनिवार्यतः किसी विशिष्ट कृत्यक के संदर्भ में किया जाता है और वे इस कृत्यक की पूर्ति का साधन होती हैं। यह जरूरी है कि बच्चे पहले पूर्ण कर दिये गये कृत्यकों की तुलना में इस नये कृत्यक की विशेषताओं को और उसकी पूर्ति के साधन के तौर पर नयी क्रिया की विशेषताओं को समझ सकें। केवल तभी नयी क्रियाओं का और विशेषतः संकेतों से युक्त संक्रियाओं का आत्मसात्करण सुविचारित और सार्थक होगा।

अनेक मनोवैज्ञानिक और शिक्षाशास्त्रीय अनुसंधानों द्वारा प्रमाणित हो चुका है कि नयी अंतर्वस्तु को संप्रेषित करने की सर्वाधिक कारगर विधि वह है, जिसमें वह अंतर्वस्तु बच्चों के लिए विशेषतः पृथक्कृत और प्रतिरूपण के जरिये अंकित की जाती है। इस तरह से वह सामान्यीकृत, अमूर्त रूप में आत्मसात् हो जाती है और फिर ठोस परिस्थितियों में उपयोग की जाती है। शिक्षण का यह तरीका ऐसी अंतर्वस्तु को आत्मसात करने में विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है, जो मूर्त वस्तुओं में प्रत्यक्ष नहीं दिखायी देती, अर्थात सैद्धांतिक और खास तौर से वैज्ञानिक ज्ञान को आत्मसात् करने में।

दूसरी शैक्षिक परिस्थितियों में उन मानसिक तंत्रों का निर्माण और विकास होता है, जो छात्रों के किसी ठोस क्रियाकलाप में कार्य

रीतियो और ज्ञान के सफल **प्रयोग** को सुनिश्चित बनाते हैं। सक्रियता के ये घटक बच्चो को रीति की भांति तैयार रूप मे, सामान्यीकृत क्रिया के रूप मे 'अतरित" नही किये जा सकते। उनका विकास शनै शनै और किसी ठोस सामग्री से क्रियाए करने की प्रक्रिया मे होता है। विशेष अभ्यासो के जरिये बच्चो मे ऐसी बौद्धिक क्रियाए विकसित की जा सकती है जो ज्ञान और कार्य रीतियो का अधिकतम प्रयोग सभव बनाती है।

व्यक्तित्व के सामान्य विशेषको, जैसे लक्ष्योन्मुखता, सगठनशीलता और सकल्प (अर्थात अधिक ऊचे स्तर की सरचनाओवाली सक्रियता) के विकास के लिए भी विशेष परिस्थितिया अपेक्षित होती हैं। यह आवश्यक है कि बच्चे अपनी सक्रियता को सगठित करने के साधनो का इस्तेमाल करना जाने। उन्हे उसके निश्चित चरणो को पहचानना सिखाया जाता है। ये चरण है नियोजन, तैयारी, क्रियान्वयन, जाच और मूल्याकन। आरभ मे खास तौर से स्कूलपूर्व आयु और प्राथमिक कक्षाओ के बच्चो के मामले मे सक्रियता के इन चरणो म से प्रत्येक की पूर्ति को दर्ज करना लाभकर होता है। बच्चे प्राय नियोजन, जाच और मूल्याकन पर सामान्यत कम ध्यान देते है। इसलिए उनकी पूर्ति को बाहर से निरतर प्रोत्साहित किया जाना चाहिए—पहले प्रत्यक्ष निर्देशो और दखरेख द्वारा और फिर मात्र बाह्य सकेतो से। बच्चे अपनी सक्रियता के दौरान उसके विभिन्न चरणो का ग्राफ बनाकर उसका अवलब ले सकते है और इसके बाद शनै शनै आभ्यतरीय साधनो पर आ सकते है।

लक्ष्योन्मुखता का विकास बच्चे के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओ म सबद्ध एक बहुत ही जटिल प्रक्रिया है। अत एक ओर तो बच्चो को अपनी क्रियाओ को उद्देश्य के साथ भावी उत्पाद के साथ अपनी सक्रियता के अभीष्ट परिणाम के साथ जोडना और उद्देश्य या कृत्यक म परिवर्तन होने पर क्रिया को भी बदलना पुनर्गठित करना सिखाना चाहिए। दूसरी ओर उनसे न केवल निश्चित परिणाम पाने, काम की पूर्ण परिणति पर पहुचाने और नियत अपेक्षाओ को ध्यान म रखने की माग की जानी चाहिए अपितु प्राप्त परिणाम को उनके लिए विशेष रूप म निर्दिष्ट करके और लक्ष्य तथा कृत्यक की दृष्टि से उसका

विश्लेषण करके भी दिखाना चाहिए। साथ ही जिन बच्चो ने सर्वोत्तम परिणाम प्राप्त किये है, उन्हे शाबाशी दी जानी चाहिए। किंतु मूल्यांकन का स्वरूप बच्चे की नजरो मे औपचारिक व अनिवार्य न होकर उसकी सक्रियता की उपलब्धियो से सबधित होना चाहिए।

इस प्रकार बच्चे के विकास की प्रक्रिया को किसी एक ही पहलू का परिवर्तन नही कहा जा सकता। यह एक जटिल और बहुमुखी प्रक्रिया है। फलस्वरूप मानसिक विकास के विभिन्न पहलुओ को सुनिश्चित करनेवाली शैक्षिक परिस्थितिया भी काफी भिन्न भिन्न होती हैं।

§४ आयुगत विकास का काल-विभाजन

आयु। आयु वर्ग अथवा विकास का आयुगत चरण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर मनुष्य के मनोविकास की प्रकृति की समझ के सबध मे सामान्य उपागम पर निर्भर करता है। एक बहुप्रचलित दृष्टिकोण के अनुसार आयु वर्ग अपरिवर्तनीय और निरपेक्ष होते है। आयु-वर्ग की ऐसी धारणा मानसिक विकास को एक नैसर्गिक जैविक प्रक्रिया मानने से सबद्ध है। इसका विरोधी दृष्टिकोण आयु वर्ग की अवधारणा को मानने से लगभग इन्कार ही कर देता है और विकास को ज्ञान और अनुभव का मात्र सामान्य सचय समझता है।

सोवियत मनोविज्ञान इस सबध मे आयु कालो के ऐतिहासिक स्वरूप विषयक प्रस्थापनाओ का अनुसरण करता है। ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया मे सामान्य सामाजिक परिस्थितिया, जिनमे कि बच्चा बडा होता है, और शिक्षण की अतर्वस्तु तथा विधिया बदलती रहती हैं, जिसके फलस्वरूप आयु-वर्ग अथवा विकास के आयुगत चरणो मे भी परिवर्तन आना अनिवार्य हो जाता है।

हर आयु-वर्ग गुणात्मक रूप से मानसिक विकास का एक विशेष चरण होता है और अपने साथ ऐसे अनेक परिवर्तन लाता है, जो अपनी समष्टि मे बच्चे के विकास के दत्त स्तर पर उसके व्यक्तित्व की विशिष्ट सरचना का निर्माण करते हैं। ल० स० विगोत्स्की ने आयु अथवा आयु-वर्ग को विकास का एक निश्चित युग, चक्र या सीढ़ी

और एक विशेष, अपेक्षया पूर्ण अवधि कहा था, जिसका महत्व विकास के सामान्य चक्र मे उसके स्थान से निर्धारित होता है और जिसमें विकास के सामान्य नियम हर बार गुणात्मक दृष्टि से नये रूप मे प्रकट होते हैं। एक आयु वर्ग से दूसरे आयु वर्ग मे सक्रमण करते हुए नई मानसिक निर्मितिया पैदा होती है, जो पूववर्ती कालो म नही थी और स्वय विकास का क्रम भी वदलता और पुनर्गठित हो जाता है।

किसी भी आयु वर्ग की विशेषताए अनेक बातो की समष्टि पर निर्भर होती है जैसे जीवन के दत्त चरण मे बच्चे से की जानेवाली अपेक्षाए, परिवेश के साथ सबधो का सार, बच्चे के ज्ञान और सक्रियता का रूप और इस ज्ञान को आत्मसात करने की रीतिया। आयु-वर्ग की विशिष्टता को निर्धारित करनेवाले कारको की समष्टि म बच्चे के शारीरिक विकास के विभिन्न पहलुओ की विशेषताए भी शामिल होती है (उदाहरणार्थ बाल्यकाल मे कुछ निश्चित आकृतिक निर्मितियो का परिपक्वन किशोरावस्था म होनेवाले शारीरिक परिवर्तनो की विशेषताए आदि)।

आयु वर्ग की विशेषताओ को निर्धारित करनेवाली बाह्य परिस्थितिया बच्चे को प्रत्यक्षत प्रभावित नही करती। वस्तुगत रूप से परिवेश के एक ही घटक प्रत्येक बच्चे पर अलग अलग तरह से प्रभाव डाल सकते है। यह इसपर निर्भर होता है कि वे बच्चे की किन पूर्वविकसित मानसिक विशेषताओ से अपवर्तित होती है। इन बाह्य और आभ्यतरिक कारको अथवा परिस्थितियो की समष्टि ही किसी आयु वर्ग के विशिष्ट स्वरूप को निर्धारित करती है और उनके परस्पर सबध मे परिवर्तन अगले आयु वर्ग मे सक्रमण की आवश्यकता तथा विशेषताओ को जन्म देता है।

इस प्रकार किसी भी आयु वर्ग की पहचान जीवन के उस चरण मे बच्चे के जीवन की परिस्थितियो तथा उससे की जानेवाली अपेक्षाओं की विशिष्टता से, परिवेश के साथ बच्चे के सबधो से, उसकी मानसिक सरचना व्यक्तित्व, ज्ञान तथा चितन शक्ति के विकास के स्तर से और कुछ खास शरीरक्रियात्मक विशेषताओ की समष्टि से होती है।

विकास के आयुगत चरणो के परिवर्तन का मुख्य क्रियातत्र

आयु वर्ग का निर्धारण परिवेश के साथ सबधो के विकास के स्तर से और ज्ञान, रीतियो तथा योग्यताओ के विकास के स्तर से होता है। विकास प्रक्रिया के इन दो विभिन्न पहलुओ का सबध अगले आयु-वर्गो मे सक्रमण का सबसे मुख्य आभ्यतरीय आधार (प्रेरक शक्ति) होता है। उदाहरणार्थ, प्रारभिक बचपन से ही बाह्य जगत के साथ बच्चे का सबध वयस्को के साथ उसके सबधो द्वारा व्यवहित होता है। ऐसी सबध प्रणाली के आधार पर ही बच्चा नयी बाते सीखता है, उसकी धारणाओ के सामान्य स्तर बनते हैं, वयस्कों के साथ सपर्क स्थापन की नयी रीतियो से वह परिचित होता है, उसकी वाक्शक्ति विकास करती है, आदि। यह सब बच्चे की स्वतत्र क्रियाशीलता को बढाता है और इसलिए आसपास के लोगो के साथ सबधो के सरूप को भी बदलता है। अपनी बारी मे सबधो के सरूप का परिवर्तन मनोविकास के आगे के क्रम की परिस्थितियो मे तब्दीली लाता है (उदाहरणार्थ, बच्चा अब बाह्य जगत का सज्ञान स्वय अपनी सक्रियता के माध्यम से भी करने लगता है)। ऐसी ही स्थिति (यद्यपि सर्वथा भिन्न स्तर पर) किशोरावस्था मे भी पैदा होती है, जब बच्चे के पूर्ववर्ती विकास की उपलब्धियो और जीवन की परिस्थितियो मे हुए परिवर्तनो की समष्टि परिवेश के साथ बच्चे के सबधो की अतर्वस्तु तथा सरूप का बदलना और खुद वयस्को द्वारा भी उसके साथ अपने सबधो के स्वरूप को बदलना आवश्यक बना देती है। तथाकथित "विकास के सकट-काल" पालन की उन परिस्थितियो मे भी पैदा होते है जब बदले हुए सबधो को ध्यान मे नही रखा जाता और पूर्वविकसित तथा पूर्ववर्ती आयु-काल के लिए लाक्षणिक परिवेश के साथ सबधो का इस आयु-काल के दौरान विकसित योग्यताओ व क्षमताओ के साथ सतुलन भग हो जाता है।

शिक्षा और पालन की प्रक्रिया मे यह ध्यान मे अवश्य रखा जाना चाहिए कि एक ओर परिवेश के साथ सबधो के सरूपो और दूसरी ओर, बच्चे के ज्ञान तथा मानसिक सक्रियता की रीतियो के विकास के बीच सतुलन दोनो ही ओर से बनता या बिगडता है। उदाहरणार्थ

बच्चे की सक्रियता की संभावनाओं का विस्तार और उसकी आवश्यकताओं का परिवर्तन परिवेश के साथ संबंधों की समस्त प्रणाली का बदलना भी आवश्यकता पैदा कर देता है। अपनी बारी में खुद नया संबंध प्रणाली बच्चे की सक्रियता के आगे विकास का आधार बन जाती है।

मनोविज्ञानवेत्ताओं ने प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों में एक ओर तो परिवेश के साथ उनके संबंधों के विकास के स्तर तथा इस आधार पर निर्मित अभिप्रेरकों और दूसरी ओर, उनकी सक्रियता की अंतर्वस्तु तथा रीतियों के बीच एक प्रकार का असंतुलन अथवा अननुरूपता पायी है। प्रायः बच्चे जब स्कूल जाने लगते हैं, उनके संज्ञानात्मक अभिप्रेरक, चाहे बहुत सरल रूप में ही सही, विकसित हो चुके होते हैं और वे पढ़ाई के लिए बहुत उत्कंठित रहते हैं। किंतु स्कूलों में शिक्षण की जो अंतर्वस्तु और रीतियां प्रचलित थीं, वे बच्चों की ज्ञान लिप्सा से मेल नहीं खाती थीं। पाठ्यक्रम में ऐसी बहुत सी, शुद्ध तकनीकी बातें होती थीं, जो न केवल बच्चे के लिए अप्रेरणात्मक थीं तथा मानसिक स्तर पर जिनका अर्थ वह अभी समझ नहीं पाया था बल्कि जो उससे बौद्धिक सक्रियता दिखाने की बेहद कम अपेक्षा भी करती थीं। यह उन अभिप्रेरणात्मक संबंधों और उन क्षमताओं के कतई अनुरूप नहीं था, जो अब तक बच्चे में विकसित हो चुके थे। फलस्वरूप यह संज्ञानात्मक सक्रियता के और प्रायः पढ़ाई के भी अभिप्रेरकों व अभिरुचि को मंद तथा कभी-कभी अवरुद्ध कर देता था। सोवियत संघ के प्राथमिक विद्यालयों में प्रचलित वर्तमान पाठ्यक्रम इस दोष या असंतुलन को काफी हद तक दूर कर देता है। वह चूंकि बच्चों को चाहे सामान्य ही सही, लेकिन पूर्णतः वैज्ञानिक ज्ञान देने की ओर लक्षित है और अवबोधन व चिंतन की अपेक्षा करता है और चूंकि शिक्षण के रूप भी अब प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों की आयुगत विशेषताओं के काफी हद तक अनुरूप हैं, इसीलिए आज के बच्चे बड़े चाव और मनोयोग से स्कूल में पढ़ते हैं।

बच्चे के जीवन की परिस्थितियों और पालन व शिक्षण के रूपों का परिवर्तन ही वह आधारभूत कारक है, जो आयु-वर्ग की विशिष्टता को निर्धारित करता है।

स्कूल मे प्रवश के लिए बच्चो को तैयार करने के वास्ते बच्चो को किंडरगार्टन मे जो शिक्षा—पूर्वप्राथमिक शिक्षा—दी जाती है, उसने स्कूलपूर्व आयु-वर्गों की सीमाओ तथा अतर्वस्तु को काफी बदल डाला है। शिक्षा मानोवैज्ञानिक अध्ययनो का अनुभव और अधिक परिष्कृत कार्यक्रमो के अनुसार शिक्षण के परिणाम दिखाते है कि शिक्षा-प्रक्रिया का एक खास ढग से सगठन और शिक्षण की अतर्वस्तु तथा विधियो मे परिवर्तन किये जाने से प्राथमिक कक्षाओ के छात्रो की आयुगत विशेपताओ मे उल्लेखनीय तब्दीलिया आ जाती है। विशेपत उनमे चितन सक्रियता के कुछ आरभिक सैद्धातिक रूप विकसित होने लगते है और शिक्षा सक्रियता भी अधिक ऊचे स्तरो पर पहुच जाती है। इसलिए आयु वर्ग और शिक्षा मनोविज्ञान मे शिक्षाशास्त्रीय मानदडो पर आधारित आयु विभाजन इस्तेमाल किया जाता है। स्कूलपूर्व आयु वर्गों का निर्धारण किंडरगार्टन के वर्गों के अनुसार किया जाता है शिशु वग—३ वर्प की आयु तक, कनिष्ठ वर्ग—४ वर्प, मध्यम वर्ग—५ वर्प, ज्येष्ठ वर्ग—६ वर्प, उपक्रम अथवा प्राक्-स्कूल वग—७ वर्प (कतिपय शिक्षाशास्त्री इन्हे तीन ही वर्गों मे बाटते है शिशु वर्ग, प्राक्-स्कूलपूर्व वर्ग और स्कूलपूर्व वर्ग)। स्कूली शिक्षा के मुख्य चरणो और उनसे सबधित बच्चो की विशेपताओ के मुताबिक स्कूली बच्चो को तीन आयु-वर्गों मे बाटा जाता है प्राथमिक कक्षाओ के छात्र (पहली से तीसरी-चौथी कक्षा तक), बिचली कक्षाओ के छात्र (चौथी पाचवी से सातवी-आठवी कक्षा तक), और बडी कक्षाओ के छात्र (आठवी से दसवी कक्षा तक)।

ध्यान रहे कि विभिन्न आयु वर्गों के लक्षण वर्णन सामान्य लक्षणो व विशेपताओ पर आधारित है। शिक्षाशास्त्री के लिए आवश्यक है कि वह बच्चो की सामान्य आयुगत विशेपताओ के साथ साथ वैयक्तिक विशेपताओ को भी ध्यान मे रखे, जो हर बच्चे के मामले मे काफी भिन्न हो सकती है।

अध्याय ३

प्राक्-स्कूलपूर्व और स्कूलपूर्व आयु-वर्गों की मनोवैज्ञानिक विशेषताएं

§१ शैशवावस्था में मानसिक विकास की पूर्वापेक्षाएं और विशेषताएं

नवजात (एक दो महीने तक का बच्चा)

मानवशिशु जन्म के समय अधिसंख्य प्राणियों के बच्चों से कहीं ज्यादा असहाय होता है। उसके व्यवहार के अननुकूलित परावर्ती रूप, बाह्य परिवेश में अनुकूलन-क्षमताएं अपेक्षया सीमित होते हैं। वह जिन प्रतिवर्तों के साथ पैदा होता है वे हैं विभिन्न शरीरक्रियात्मक कार्यों का नियमन करनेवाले प्रतिवर्त, जैसे चूसने का प्रतिवर्त, प्रतिरक्षा तथा अभिविन्यास प्रतिवर्त और पकड़ने, सहारा लेने, डग भरने के प्रतिवर्त आदि के प्रतिवर्त। ये सभी मस्तिष्कीय तथा अवप्रांतस्था तंत्रिका केंद्रों से नियमित होते हैं, जो बच्चे की ज्ञानेन्द्रियों की भांति जन्म के समय तक पर्याप्त विकसित हो चुके होते हैं। अधिकांश बाह्य प्रभावों का उत्तर नवजात बच्चा हाथों और पैरों की अविभेदीकृत हरकतों से देता है। बड़े गोलार्द्धों की प्रांतस्था अभी पूरी तरह नहीं बनी होती है, तंत्रिका कोशिकाओं से शाखाएं लगभग नहीं फूटी होती हैं और चालन मार्ग सुरक्षात्मक माइलिनी आवरणों से नहीं ढंके होते हैं। इसके फलस्वरूप उत्तेजन का व्यापक किरणन होता है और अनुकूलित प्रतिवर्त बनने में कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। व्यवहार के काफी अधिक जन्मजात रूपों का अभाव बच्चे का कमजोर पक्ष नहीं, अपितु शक्ति है, क्योंकि इस वजह से उसमें नये अनुभव और मनुष्य के लिए लाक्षणिक व्यवहार के नये रूपों को ग्रहण अथवा आत्मसात् करने की क्षमता आ जाती है।

नवजात बच्चे के मस्तिष्क के ठीक विकास के लिए विश्लेषको – इद्रियो – का सक्रिय रूप से काम करना बहुत आवश्यक है। यदि वह "सवेदन अलगाव" (पर्याप्त बाह्य प्रभावो के अभाव की स्थिति) मे पड जाता है, तो उसका विकास अति मद हो जायेगा। नवजात बच्चे के विकास की एक विभेदकारी विशेषता यह है कि उसके विश्लेषको की सक्रियता कायिक सक्रियता से अधिक तेजी से बढती है। उच्चतर विश्लेषको – दर्शन और श्रवण इद्रियो – की सक्रियता का विकास तो बहुत ही तीव्र गति से होता है। इसके परिणामस्वरूप अभिविन्यास प्रतिवर्त भी विकसित होता है और नये-नये तथा विविध अनुकूलित प्रतिवर्ती सबध भी बनने लगते हैं। जीवन के पहले दस दिन मे ही बहुत से बच्चो म दुग्धपान करते समय स्थिति का अनुकूलित प्रतिवर्त पैदा हो जाता है। पहले दो महीनो मे सभी विश्लेषको से सबध रखनेवाले अनुकूलित प्रतिवर्त बन सकते हैं।

अभिविन्यास प्रतिवर्त का विकास दृष्टि और श्रवण-शक्ति की एकाग्रता के पैदा होने मे प्रकट होता है, जिसके दौरान आवेगी और अव्यवस्थित हरकते रुक जाती है। यदि जन्म के बाद के पहले दिनो मे निद्रा तथा जागृत अवस्थाओ मे कम भेद होता है तो दो-तीन महीने के अत तक उनमे पूर्ण भेद हो जाता है और जागृतावस्था अधिक सारगर्भित तथा सक्रियतापूर्ण बन जाती है। उदीयमान मानसिक सक्रियता आवेगी हरकतो के दमन मे प्रकट होती है।

दो-तीन महीने का होते-होते बच्चा वयस्को के प्रति कुछ खास प्रतिक्रियाए दिखाने लगता है। वह समझने लग जाता है कि परिवेश के साथ सपर्क मे वयस्क एक अनिवार्य माध्यम है कि वह उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति का स्रोत है। शनै शनै वयस्क के सामने आने पर बच्चे मे एक विशिष्ट सवेगात्मक व अग-सचालनात्मक प्रतिक्रिया विकसित होने लग जाती है, जिसे जीवतता मनोग्रथि" कहते हैं। यह मनोग्रथि हाथ पैर जोर-जोर से चलाने मे व्यक्त होती है। बच्चा अपने ऊपर झुके आदमी के चेहरे पर दृष्टि एकाग्र करता है और उसे देखकर मुस्कराता है। "जीवतता मनोग्रथि' के आविर्भाव को नवजात अवस्था के अत और शैशव का आरभ माना जाता है।

शिशु वर्ग मे एक दो महीने से एक वर्ष की आयु तक के बच्चे सम्मिलित किये जाते है।

अनेक बुर्जुआ मनोविज्ञानवेत्ताओ के अनुसार जीवन के पहले महीनो मे बच्चा समाज उदासीन होता है और अपनी ही बद दुनिया म रहता है। इसीलिए नवजात के रदन को व एक परायी, प्रतिकूल दुनिया के सामने बच्चे की घबडाहट का सूचक मानते है। आस्ट्रियाई मनोविज्ञानवेत्ता सिगमड फ्रायड (१८५६-१९३९) न सद्य जात बच्चे के रोने को उस पीडा का परिचायक रुदन कहा था जो बच्चा तब अनुभव करता है जब वह मा के शरीर से विलग होता है। फ्रायड के अनुसार, इस क्षण से बच्चे की मूलप्रवृत्तिक आवश्यकताओ और समाज मे जीवन की आवश्यकताओ के बीच स्थायी टकराव पैदा हो जाता है। फ्रायड इसका निराशावादी चित्र खीचत है कि ये टकराव कैस बच्चे क मानसिक जीवन को एक अनवरत नाटक म बदल दते है।

फ्रायड के इस विचार का जा पियाजे के आरभिक अध्ययनो पर काफी प्रभाव पडा। पियाजे की मान्यता थी कि बच्चा जन्म के क्षण मे दो वर्ष की आयु तक वास्तविकता से पूरी तरह कटा रहता है उसका मनोजगत अपनी आवश्यकताओ को यथार्थ विश्व मे नही, अपितु अपन ही स्वप्नलोक म स्वप्नवत अनुभवो मे तुष्ट करने की जन्मजात क्षमता तक सीमित होता है।

फ्रायड और पियाजे की इन मान्यताओ की गभीर आलोचना हुई। प्रगतिशील फ्रासीसी विद्वान आरी वाल्लो (१८७९-१९६२) न कहा कि किसी पूर्वाभास या किसी चीज के बार मे खेद को रदन का मनोवैज्ञानिक अभिप्रेरक मानना सरासर निराधार है। बाल मानस की आरभिक असपृक्तता स सबधित पियाजे के विचार को विगोत्स्की न और बाद मे अन्य सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओ ने भी सर्वथा अयुक्तिसगत ठहराया है।

सोवियत और प्रगतिशील विदेशी विद्वानो के अध्ययना से प्राप्त बहुसख्य तथ्य सिद्ध करते है कि शिशु का जीवन पूर्णत वयस्को पर निर्भर होता है। वयस्क आदमी बच्चे की बुनियादी आवश्यकताए तुष्ट

करता है, यानी उसे खिलाता है, नहलाता है, पलटता है। वयस्क आदमी बच्चे की मानसिक सक्रियता की आवश्यकता भी पूरी करता है—वह उसे गोद म लेता है और वह चहक उठता है। वयस्क की मदद से स्थान परिवर्तन करते हुए बच्चा बहुत सारी वस्तुओ को देखने और उनके एक दूसरे की सापेक्षता मे जगह बदलने को देखने की सभावना पाता है जो उसके सवेदनात्मक अनुभव का निर्माण करता है। वयस्को की मदद से ही वह अपने ध्वनि तथा स्पर्श बिब भी बनाता है।

ल० स० विगोत्स्की ने कहा था कि बाह्य ससार से बच्चे का सबध आरभ से ही सामाजिक सबध होता है। उनके अनुसार शिशु को इस दृष्टि से अधिकतम सामाजिक प्राणी कहा जा सकता है। उसका सारा जीवन ही ऐसे बना होता है कि उसमे सभी स्थितियो मे दूसरे आदमी की दृश्य अथवा अदृश्य उपस्थिति अवश्य रहती है।

वयस्क आदमी बच्चे के लिए वस्तुजगत से सपर्क स्थापन मे मध्यस्थ का काम करता है। प्राय बच्चा वयस्क की उपस्थिति मे किसी वस्तु को उठान उसे उलटने, पलटने, देखन आदि लगता है किंतु वयस्क के हटते ही वह उसमे रुचि खो बैठता है। जब वह चाहता है कि वयस्क उसके साथ मिल-जुलकर त्रिया करे सयुक्त सक्रियता वयस्क के साथ उसके सपर्क का मुख्य रूप बन जाती है। बच्चे की सामाजिक प्रतिक्रियाए सारे शैशव काल म विकसित होती रहती हैं।

सपर्क के दायरे मे ही बोली की प्रथम पूर्वापेक्षाए भी पैदा होती हैं। दूसरे महीने मे ही तुतलाने के पहले लक्षण दिखायी दे जाते है जिसमे आगे चलकर अनुकरण के जरिये मातृभाषा क ध्वनिग्राम प्रकट होते हैं। पहले वर्ष के अत तक शिशु कुछ शब्द समझने लग जाता है। यह इससे प्रकट होता है कि किसी वस्तु का नाम लेते ही बच्चा उसकी ओर सिर घुमा देता है या जिस क्रिया का नाम लिया गया है उसे करने लगता है। इसके साथ ही वह पहले शब्द भी उच्चारण करने लगता है। इस प्रकार वयस्क के साथ सपर्क की प्रक्रिया मे, एक ओर बच्चे की आवश्यकताए पैदा होती और लगातार बढती है (उनम मुख्य सपर्क की आवश्यकता है, जिसे सवग भूख भी कहा

जाता है) और, दूसरी ओर, उनकी तुष्टि की सभावनाए उत्पन्न होती है।

यह सोचना ठीक न होगा कि बच्चे मे परिपक्वता पहले आती है और उसके बाद ही उसे सिखाया जाता है। सभी प्रकार के मानवोचित व्यवहार, मानसिक गुण तथा विशेषताए बच्च मे केवल इसी की बदौलत आ पाते है कि शैशव काल म उसे चलना, वस्तुए इस्तेमाल करना, देखना सुनना, प्रेक्षण करना जानना और याद रखना सिखाया जाता है। बेशक शैशव काल मे बच्चे का शिक्षण प्राय अनियोजित तथा स्वत स्फूर्त ही होता है।

सयोगवश यदि बच्चे को मानव परिवेश मे रहने का अवसर नही मिल पाता तो उसम मानवोचित क्षमताओ का विकास रुक जाता है। केवल समाज के बीच रहकर ही और विशेष शिक्षण द्वारा ही बच्चा ऐसी व्यष्टि बन पाता है, जो आदमियो जैसे अनुभव कर सकता है और सोच सकता है। यहा वयस्क आदमी बच्चे और पूरे समाज के बीच की कडी होता है। लोगो के बीच रहते और उनसे निरतर नयी नयी जानकारिया पाते हुए बच्चे मे उत्तरोत्तर अदम्य ज्ञानपिपासा उत्पन्न होती है। नन्हे शिशु के अभिविन्यास प्रतिवर्त जिज्ञासा मे बदल जाते है। वह अपने आसपास की सभी चीजो मे रुचि लेने लगता है। इस प्रकार की जिज्ञासा को रूसी शरीरक्रियाविज्ञानी इ० प० पाव्लोव (१८४९ १९३६) ने 'निस्वार्थ जिज्ञासा' कहा था क्योकि वह किसी बुनियादी आवश्यकता की तुष्टि से प्रत्यक्षत सबद्ध नही होती।

शिशु का मनोविकास

जीवन के प्रथम वर्ष म बच्चा अगसचालन के विकास और मानसिक प्रक्रियाओ तथा विशेषताओ के निर्माण म काफी सफलताए पा लेता है। वह सिर को सभालना, बैठना, रेगना और अतत खडा होना व कुछ डग भरना सीख लेता है। तीसरे चौथे महीने मे पकडने की हरकत विकास करने लगती हैं। बच्चे को कोई रग बिरगी चीज़ अच्छी लगती है वह उसकी ओर हाथ बढाता है और पकडने की चेष्टा करता है। आरभ मे इन हरकतो म तालमेल नही होता बच्चा प्राय गलती कर

बैठता है, उसका हाथ चूक जाता है। किंतु शनै शनै हरकते सधती जाती है और पकडी जानेवाली वस्तुओ की जगह आकार तथा आकृति से उनका तालमेल बैठने लगता है। इस प्रकार की गत्यात्मक क्रिया का बहुत बडा महत्त्व होता है। उसकी बदौलत बच्चा अनेक आवश्यक गति कौशल सीख जाता है। इसके अतिरिक्त, वस्तुओ की विशेषताओ के अनुरूप हरकतो को ढालने के परिणामस्वरूप ये विशेषताए चाक्षुष प्रत्यक्ष मे पृथकत उभरने लगती है। यदि आरभ मे बच्चा केवल बाह्य अभिविन्यासात्मक क्रियाए भी करता है और अनेकानेक चेष्टाए करके हाथो की स्थिति को वस्तुओ की विशेषताओ के अनुकूल बनाता है, तो बाद मे ये अभिविन्यासात्मक क्रियाए आतरीभूत हो जाती है, यानी चाक्षुप प्रत्यक्ष के धरातल पर आ जाती है।

पकडने की क्षमता बढने के साथ-साथ बच्चा वस्तुओ को हिलाना, झटकना, पटकना ठोकना, आदि भी शुरू कर देता है जो प्रहस्तन के सामान्यतम रूप है। ऐसी क्रियाए करके बच्चा वस्तुओ की बहुसख्य विशेषताओ से परिचित होता है। क्षणिक, परिवर्तनशील अनुभवो के स्थान पर बच्चे के सामने स्थायी उससे स्वतत्र रूप मे अस्तित्वमान वस्तुओ का ससार उद्घाटित होने लगता है। इस तरह उसका प्रत्यक्ष ज्ञान वस्तुपरक और स्थायी बनता जाता है।

शैशव काल के दौरान बच्चे की मानसिक सक्रियता का रूप बदलता है। उसकी सक्रियता पूर्वनियोजित बनती जाती है। उसमे सायोगिक हरकतो की पुनरावृत्ति करने की क्षमता आ जाती है। यद्यपि इन हरकतो को करने से पहले बच्चे को उनका पूर्वज्ञान नही होता फिर भी वह उन्हे जान-बूझकर दोहराने मे समर्थ बन जाता है, ताकि उनमे परिवेश मे जो परिवर्तन आते है, उन्हे देख सके।

शैशवावस्था के अत मे बच्चे मे **अनुकरण** की वयस्को की देखा देखी बहुत सी क्रियाए दोहराने की प्रवृत्ति आ जाती है।

पूर्वनियोजित क्रिया और अनुकरण इसका प्रमाण है कि बच्चे की बुद्धि तेजी मे विकास कर रही है। सचमुच बच्चे जब जान-बूझकर वस्तुओ से क्रियाए करने लगते हैं (जैसे ठोकना, हिलाना मरोडना आदि) और वयस्को की सामान्यतम क्रियाओ की नकल करने मे कुछ सफलता पा लेते है उनकी क्रियाओ मे चितन के भ्रूणरूप दिखने लग

जाते है। स्वय वस्तुओ के प्रहस्तन म बच्चे के लिए एक एसी समस्या मूलक स्थिति पैदा हो जाती है, जिसे वह हस्तादि प्रयोग द्वारा ही निपटान की चेष्टा करता है। दूसरे शब्दो म, इस प्रहस्तन म सामान्य समस्या मूलक स्थितिया पैदा होती और निपटायी जाती है। इस प्रकार बच्चा कोई त्रिया करते हुए अथवा अपनी व दूसरो की हरकतो की अनुकृति करते हुए सोचना सीखता है।

§२ आरभिक बाल्यकाल

आरभिक बाल्यकाल की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धिया

आरभिक बाल्यकाल की सीमा एक वर्ष से तीन वर्ष तक है।

व्यक्तिवृत्त मे मनुष्य का मानस समान कालावधियो म विकास की दृष्टि से विभिन्न दूरिया तय करता है। जीवन के पहले तीन वर्षो मे बच्चे के मानस म जो गुणात्मक परिवर्तन आते है वे बहुत ही महत्त्व पूर्ण होते है। इसलिए बहुत से मनोविज्ञानवेत्ता जब इस प्रश्न पर सोचने लगे कि जन्म से लेकर वयस्कता प्राप्ति तक मनुष्य के विकास के मार्ग का मध्यबिंदु कौन सा है तो तीन वर्ष की अवस्था ही वह मध्यबिंदु लगा।

तीनवर्षीय बच्चा अपना काम स्वय कर सकता है वह अपने आसपास के लोगो से परस्पर सबध बनाना भी जानता है। वह दूसरो के साथ सपर्क के लिए बोलचाल तथा भाषा का ही नही, व्यवहार के बुनियादी रूपो का भी इस्तेमाल कर सकता है। तीन वर्ष की आयु का बच्चा पर्याप्त त्रियाशील तथा स्वतत्र होता है और अपने को लोगो को समझा सकता है।

एक से तीन वर्ष की आयु के बच्चे का विकास कई कारको पर निर्भर होता है।

बच्चे के मनोविकास मे **ऋजु चलन की योग्यता** का बहुत हाथ होता है। शैशवावस्था के अत तक बच्चा पहले डग भरने लग जाता है। खडी स्थिति मे एक जगह से दूसरी जगह जाना उसके लिए कठिन

होता है। छोट छोटे पैर बडी मुश्किल मे उठत है। गमन सहायक तत्र अभी पूरी तरह नही वना होता है इसलिए वच्चा हर समय सतुलन खो वैठता है। फिर भी गिरने के भय पर कावू पाने और चलन का प्रयास वारवार करने के लिए उसे क्या चीज विवश करती है? मुख्य प्रेरक तो पेशीय अनुभूति है, जो चलने पर काम करनेवाली पैर, हाथ और सारे शरीर की पेशियो स उत्पन्न होती है। कहा जा सकता है कि अपने शरीर पर नियत्रण की अनुभूति बच्चे के लिए एक प्रकार के आत्मपारितोषिक का काम करती है। चलने के निश्चय को वाछित लक्ष्य पाने और इसी प्रकार वयस्को की सहभागिता तथा शावाशी स भी वल मिलता है। पहले सहमे सहमे डग भरने क शीघ्र ही वाद सामजस्यपूर्ण ऋजुरेखीय चलने फिरने की क्षमता आनी शुरू हो जाती है। जीवन के दूसरे वर्ष मे वच्चा चलत फिरते हुए सहर्ष अपने लिए वाधाए खोजता है। कठिनाइया और उन्हे लाघना बच्चे मे सकारात्मक सवेग जगाते है।

चलने फिरने की क्षमता चूकि एक शारीरिक उपलब्धि है, अत उसके मनोवैज्ञानिक परिणाम भी निकलते हैं। इस क्षमता की बदौलत वच्चा वाह्य जगत क साथ अधिक निर्वाध व स्वतत्र सपर्क क दौर मे प्रवेश करता है। चलना जानने से दिग्विन्यास योग्यता बढती है। पशीय अनुभूति वस्तु की दूरी और दैशिक स्थिति को मापने का मापदड वन जाती है। यह दृष्टि, गति सवेदन तथा स्पर्श की सयुक्त क्रिया द्वारा सभव होता है। वच्चा वस्तु को देखते और उसके निकट आत हुए व्यावहारिकत उसकी दिशा और दूरी का अववोध करता है। चलना-फिरना सीख लेने से उसे अपनी जिज्ञासा का विषय बननेवाली वस्तुओ का दायरा कही अधिक बढाने की सभावना मिलती है। वह ऐसी वहुविध वस्तुओ को भी हाथ म लेन उलटने पलटने, आदि मे समर्थ वन जाता है जिन्ह पहले माता पिता उसकी पहुच से बाहर रखना ही उचित समझते थे। नयी वस्तुए अपने साथ प्रेक्षण और जाच की नयी रीतिया लेकर आती है और वस्तुओ के जो गुणधर्म तथा परस्पर सबध बच्चे से अब तक छिपे हुए थे, उन्ह उद्घाटित करती है।

बच्चे के मानसिक विकास पर वस्तुमूलक क्रियाओ के विकास का काफी प्रभाव पडता है। शैशवावस्था म पायी जानवाली प्रहस्तन

सन्नियता का स्थान आरभिक बाल्यावस्था मे वस्तुमूलक सक्रियता ले लेती है। इसका विकास वस्तुओ का उपयोग करने की उन रीतियो म निपुणता पाने से सबद्ध है, जिन्ह समाज ने विकसित किया है। मनुष्य के लिए वस्तुओ का एक नियत स्थायी प्रयोजन होता है— जीवो के विपरीत लोग स्थायी वस्तुओ के ससार में रहते है। जैसा कि ज्ञात है गिलास से पानी बदर भी पी सकता है। किंतु जीवो के लिए वस्तुओ का स्थितिमूलक अभिप्राय होता है यदि पानी गिलास म है, तो बदर गिलास से पियेगा यदि बाल्टी मे है, तो बाल्टी से और अगर जमीन पर हे तो जमीन पर से। बच्चा वयस्को स वस्तुओ के उस स्थायी प्रयोजन को ध्यान म रखना सीखता है जो मनुष्य की सक्रियता ने नियत किया हुआ है। बच्चे के इर्द गिर्द का वस्तु ससार— फर्नीचर वस्त्र बर्तन खिलौने, आदि—ऐसी वस्तुओं की समष्टि है जिनका लोगो क जीवन म एक निश्चित प्रयोजन है। वस्तुओ के प्रयोजन को ही बच्चा आरभिक बाल्यकाल मे सीखता है।

वस्तुओ की नियत अतर्वस्तु बच्चे को स्वत नही मालूम हो जाती। बच्चा आलमारी क किवाड को दर्जनो बार खोल और बद कर सकता है इसी तरह वह देर तक चम्मच म फर्श पर ठक-ठक भी कर सकता है किंतु ऐसी सक्रियता उसे वस्तुओं के प्रयोजन से अवगत नही करा सकती। वस्तुओ के प्रकार्यात्मक गुणो का ज्ञान उसे वयस्को के पालन व शिक्षणमूलक प्रभाव के जरिये ही होता है। बच्चे को पता चलता है कि भिन्न भिन्न वस्तुओ से की जानवाली क्रियाओ मे स्वतत्रता की भिन्न भिन्न मात्रा होती है। कुछ वस्तुए अपने बाह्य गुणो के कारण क्रियाए एक बहुत ही निश्चित रीति से किये जान की अपेक्षाए करती हैं (इनम इस प्रकार की परस्पर सबद्ध क्रियाए शामिल हैं, जैस डिब्बे का ढक्कन बद करना छल्लो क पिरामिड मे छल्ले डालना, आदि)। कुछ वस्तुओं क मामने म क्रिया रीति उनका सामाजिक प्रयोजन नियत करता है। ये व वस्तुए हैं जो उपकरण का काम करती है जैसे पेंसिल चम्मच हथौडी आदि। उल्लेखनीय है कि परस्पर सबद्ध और उपकरण मूलक क्रियाए ही बच्चे के मानसिक विकास पर सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालती हैं। इसम कोई फर्क नही पडता कि बच्चा आरभिक बाल्यकाल म अपेक्षया बहुत कम उपकरणो का प्रयोग ही सीख पाता है। प्रश्न

उनके कम या ज्यादा होने का नही, बल्कि इसका है कि ये वस्तुए ही बच्चे मे हर नये वस्तु उपकरण मे उसका विशिष्ट प्रयोजन खोजने की प्रवृत्ति अथवा आदत पैदा करती है।

आरभिक बाल्यकाल के अत तक (जीवन के तीसरे वर्ष मे) सक्रियता के नये रूप प्रकट होने लगते है। उनका पूर्ण प्रस्फुटन इस आयु वर्ग को लाघ लेने के बाद ही होता है और शनै शनै वे मानसिक विकास को निर्धारित करने लग जाते है। ये है तरह-तरह के खेल और सक्रियता के उत्पादक रूप, जैसे चित्र बनाना, मिट्टी प्लास्टिसीन, आदि से विभिन्न आकृतिया गढना, अलग-अलग पुर्जो को जोडकर कोई चीज बनाना। भविष्य मे सक्रियता के ये रूप जो महत्त्व रखेगे उसे ध्यान मे रखना और उनके अकुरण के लिए आरभिक बाल्यकाल मे ही अनुकूल परिस्थितिया बनाना बहुत जरूरी है।

वस्तुमूलक सक्रियता से अर्जित अनुभवो का सचय बच्चे की बोली के विकास के आधार का काम करता है। जब शब्द के पीछे यथार्थ-जगत के बिब निहित होते है, तभी शब्द को सफलतापूर्वक सीखा व हृदयगम किया जाता है। परिवेश से सपर्क की आवश्यकता जो शैशव-काल मे ही पैदा हो जाती है ज्यो ज्यो बढती जाती है बच्चे की बोली भी निखरती जाती है। बोली सपर्क तब उत्पन्न होता है जब बच्चे से सप्रेषण क्षमता की अपेक्षा की जाती है, यानी जब वयस्क बच्चे को साफ साफ बोलने और अपने विचारो को शब्दो म अधिकतम स्पष्ट ढग से व्यक्त करने को बाध्य करते है। यदि वयस्क बच्चे की हर इच्छा को भापकर ही काम चला लेते है तो उसमे बोली के विकास के लिए कोई प्रेरणा रुचि नही पैदा होगी। बोली के विकास के लिहाज से आरभिक बाल्यावस्था सवेदनशील काल होती है क्योकि इसी काल मे बच्चे का बोलना सीखना सबसे कारगर ढग से होता है। यदि किन्ही कारणो से बच्चा इन वर्षो मे बोली के विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियो से वचित हो जाता है, तो आग चलकर यह कमी बडी मुश्किल स पूरी हो पाती है। इसलिए जीवन के दूसरे-तीसरे वर्षो म बच्चे की बोली के विकास के लिए सघन प्रयत्न करना बहुत जरूरी है।

आरभिक बाल्यावस्था मे ही वयस्को के साथ अपनी सयुक्त सक्रियता के दौरान बच्चा उच्चारित शब्दो और उनके पीछे विद्यमान यथार्थ

वास्तविकता के सबध को पहचानने लग जाता है। शब्दो को उनसे अभिप्रेत वस्तुओ और क्रियाओ से जोडने की योग्यता तुरत नही आती। इसी प्रकार वयस्को की बातो और अपनी क्रियाओ के बीच सबध स्थापित करने की योग्यता भी दीर्घ विकास का परिणाम होती है। तीसरे वर्ष म वयस्को की बोली की बच्चे की समझ मे गुणात्मक परिवर्तन आ जाता है। बच्चा अब अलग अलग शब्द ही नही समझता, वयस्को के निर्देशानुसार क्रियाए सपन्न करने मे ही समर्थ नही हो जाता। जो बात सीधे उसे सबोधित नही होती वह उसे भी रुचिपूर्वक सुनने लगता है। प्रत्यक्ष सबोधन करके न कही हुई वयस्को की बातो को सुनना और समझना बच्चे के लिए एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। वह उसे प्रत्यक्ष अनुभव की सीमा से बाहर स्थित वास्तविकता को जानने के लिए बोली को एक मुख्य साधन के तौर पर इस्तेमाल करने की सभावना देती है।

आरंभिक बाल्यकाल बच्चे की **वाक् सक्रियता के निर्माण** का काल है। डेढ वर्ष की आयु तक बच्चा ३०-४० से १०० शब्दो तक ही सीख पाता है और उन्हे भी बहुत कम इस्तेमाल करता है। वह अभी काफी निष्क्रिय होता है। बोली के विकास मे उल्लेखनीय परिवर्तन लगभग डेढ वर्ष की आयु मे आता है। बच्चा अब उपक्रमी भी बन जाता है। वह लगातार चाहता है कि उसे वस्तुओ के नाम बताये जाये। बोली के विकास की गति बढ जाती है। दूसरे वर्ष के अत मे उसका शब्द भडार ३०० तक और तीसरे वर्ष के अत म १५०० शब्दो तक पहुच जाता है।

बोली के विकास का अर्थ मातृभाषा के ध्वनि पक्ष और व्याकरणिक सरचना को सीखना भी है। आरभ म बच्चा शब्दो के सामान्य लय-ताल का ग्रहण करके बोलना सीखता है। दूसरे वर्ष के अत तक उसम अपनी मातृभाषा के सभी ध्वनिग्रामो को ग्रहण करने की क्षमता भी विकसित होने लग जाती है। इस आधार पर उसका शब्द भडार भी बढता है और वह सही उच्चारण भी सीखता है।

व्याकरणिक सरचना के आत्मसातकरण के अपने विकास-काल होते है।

पहला काल—एक वर्ष म दो वर्ष की आयु तक—आकारहीन शब्द मूलो से बने वाक्यो का काल है। इस दौर मे वाक्य एकशब्दीय

अथवा द्विशब्दीय ही होते है। बच्चे की बोली वयस्क की बोली से बहुत कम मिलती जुलती है बच्चा ऐस शब्द इस्तेमाल करता है, जिन्ह वयस्क सामान्यत प्रयोग मे नही लाते। ऐसी बोली को निरुपाधिक बोली कहा जाता है। बच्चे की वाक् शक्ति यदि ठीक से विकसित हो तो निरुपाधिक बोली का दौर शीघ्र ही खत्म हो जाता है।

बच्चे की बोली मे व्याकरणिक सरचना के विकास का दूसरा काल तीन वर्ष की आयु तक जारी रहता है। इस दौर मे बच्चा काफी सुसबद्ध ढग से बोलने और वस्तु जगत के बहुत स सबधो की समझ का प्रदर्शन करने लगता है। तीसरे वर्ष तक बच्चा कई कारक चिह्नो का प्रयोग भी सीख जाता है। वस्तुमूलक सबधो के द्योतक बोली रूपो को सीखने मे बच्चे की सक्रियता का काफी बडा हाथ होता है, जिसके दौरान वह वस्तुओ के प्रयोग की रीतियो को सीखता है। बच्चा जल्दी ही यथार्थ वस्तुमूलक सबधो को व्यक्त करनेवाले व्याकरणिक अर्थो के सबध से निर्दिष्ट होने लग जाता है। उदाहरणार्थ, "हथौडा रखा' "हथौड से ठोका" शब्दो के सही प्रयोग को सीखकर वह से" अत प्रत्यय मे निहित उपकरणमूलक अर्थ को पकड लेता है और यानिक ढग से उसे सभी उपकरणो पर लागू करने लगता है 'चाकू से वगैरह। फिर वाक सपर्क की निरतर प्रक्रिया के दौरान यह यान्त्रिकता खत्म हो जाती है और बच्चा सही कारक चिह्नो का प्रयोग करने लग जाता है। मातृभापा के व्याकरणिक रूपो को सीखकर बच्चा भापा को महसूस करना सीखता है। वह शब्दो से वाक्य बनाने लगता है। आरभिक बाल्यकाल के अत तक बच्चा मातृभापा की मुख्य वाक्यरचनात्मक विशेपताओ, व्याकरणिक रूपो और ध्वनियो को हृदयगम कर लेता है।

वाक् सक्रियता का निर्माण बच्चे के समस्त मानसिक विकास के लिए बुनियाद का काम करता है।

आरभिक बाल्यकाल मे चितन शक्ति का विकास

बच्चे की चितन शक्ति का विकास दो बातो पर निर्भर होता है पहले स्वय बच्चे की सक्रियता पर क्योकि चितन के मूल मे उसका

एंद्रिक अनुभव निहित होता है और दूसरे वयस्कों के प्रभाव पर जो बच्चे की क्रिया-रीतियां निर्धारित हैं और वस्तुओं के सामान्यीकृत नामों से अवगत कराते हैं। वस्तुओं के साथ व्यावहारिक क्रिया के फलस्वरूप बच्चा किसी ठोस स्थिति में उत्पन्न समस्याओं को प्रायः स्वयं ही हल कर लेता है। क्रिया के दौरान सहज शिक्षण की प्रक्रिया घटती है किसी वस्तु से काम करते हुए बच्चा देखता है कि कुछ क्रियाएं सफल रहती हैं और कुछ नहीं रहतीं। पूर्ववर्ती क्रिया का अनुभव परवर्ती क्रिया में प्रतिबिंबित होता है। बच्चा वस्तुमूलक समस्या के समाधान की प्रक्रिया में सोचता भी जाता है। इस प्रकार का चिंतन एंद्रिक क्रियामूलक चिंतन होता है।

चिंतन शक्ति के विकास में निजी व्यावहारिक अनुभव का महत्त्व कितना भी बड़ा क्यों न हो बच्चे की चिंतन शक्ति के विकास पर विशेष प्रभाव सामाजिक परिवेश का ही पड़ता है। ल० स० विगोत्स्की कहते थे कि सामाजिक स्थिति बच्चे के व्यवहार पर उसके जीवन के पहले दिन से ही अति गहन प्रभाव डालती है। अपने बौद्धिक क्रियाकलाप में बच्चा हर समय वयस्कों से निर्दिष्ट होता है। वस्तुओं के साथ वयस्कों की क्रियाओं को देख-देखकर बच्चा व्यावहारिक वस्तुमूलक सक्रियता के मानवीय रूप आत्मसात् करता जाता है। वस्तुओं के साथ व्यावहारिक क्रिया करते हुए उसे पता चलता है कि विभिन्न वस्तुओं को मिलते-जुलते ढंग से इस्तेमाल किया जा सकता है। ऐसी खोज के फलस्वरूप वह न केवल मिलती-जुलती (किन्हीं लक्षणों की दृष्टि से मिलती-जुलती) वस्तुओं बल्कि सक्रियता के अनुभव का भी सामान्यीकरण करने में समर्थ बन जाता है।

चिंतन शक्ति के विकास के लिए उपकरणमूलक क्रियाएं विशेषतः महत्त्वपूर्ण हैं। उपकरण वस्तु जगत पर बच्चे के प्रभाव को व्यवहित करता है। विभिन्न स्थितियों में और विभिन्न वस्तुओं के संबंध में प्रयोग किये जाते हुए उपकरण सामान्यीकरण का प्रथम साधन बन जाता है।

बच्चे की अभिवृद्धि के प्रथम चरणों में चिंतन शक्ति में गुणात्मक परिवर्तन बच्चे द्वारा व्यावहारिक वस्तुमूलक सक्रियता के मानवीय रूपों को सीखने और मानव बोली के शनैः शनैः संपर्क में आने पर निर्भर

होते हं। बच्चा वयस्कों से सबसे अधिक भाषायी सपर्क की बदौलत सीखता है। वह मानवजाति द्वारा विकसित सकल्पनाओं और चिंतन रीतियों को आत्मसात् करता है। वयस्कों की अनुकृति करके वह विचारों को व्यवस्थित करना तथा निष्कर्ष निकालना सीखता है। बच्चे के बौद्धिक विकास की चर्चा करते हुए इ० म० सेचेनोव ने लिखा था कि बच्चे को उसके जीवन के प्रथम क्षणों में ही हम कथनी में भी और करनी में भी जो अनुभव अतरित करते हं वह तैयारशुदा, पराया अनुभव होता है।

आरभिक बाल्यकाल में वयस्क के शब्द बच्चे के ऐंद्रिक क्रियामूलक चिंतन के विकास में सहायक हो सकते है। वयस्क क्रिया द्वारा ही नही, शब्दों के जरिये भी बच्चे को किसी स्थितिमूलक कृत्यक को सपन्न करने की रीति सुझा सकता है। उदाहरणार्थ, यदि बच्चा अपनी पलग के सीखचों में कोई डिब्बा ज़बर्दस्ती घुसा रहा है और दूसरी तरफ नही निकाल पा रहा है, यानी उसकी क्रिया सफल नही हो पा रही है, तो वयस्क की सलाह कि ' घुमाकर डालो, निकल जायेगा " बच्चे को तदनुरूप सोचने व क्रिया करने को प्रेरित करती है।

आरभिक बाल्यकाल में बच्चा कोई काय ज्यों ज्यों करता जाता है, त्यों-त्यों बोलता भी रह सकता हे। किंतु पहले चरण में यह बोलना एक प्रकार से स्वतत्र प्रक्रिया जैसा होता है इस काल म बच्चे के व्यवहार में दो तरह की सक्रियताए दिखायी देती है – शाब्दिक और बौद्धिक। आगे चलकर दोनों एक दूसरे म विलयित होकर शब्द चिंतन का रूप ग्रहण कर लेती है।

बच्चे के व्यक्तित्व के निर्माण का आरभ

आरभिक बाल्यावस्था में बच्चे और वयस्क की सयुक्त वस्तुमूलक सक्रियता का सघन विकास होता है। इस सहयोग का स्वरूप वयस्क द्वारा निर्धारित होता है। वयस्क सप्रेषण ' के निदेशन का दायित्व सभालता है और परस्पर समझ बनी रह इसकी व्यवस्था करता है। जीवन के तीसरे वर्ष में बच्चा अधिक आत्मनिर्भर बन जाता है

वह अपने काम शुरू करना सीख गया है और गणित और गणना का इस्तेमाल आकृतियाँ गढ़ना तथा कागजों इत्यादि के काम करना जान जाता है। बच्चा अपने को शब्दों में व्यक्त करना भी सीख जाता है और अपने को स्वतंत्र सत्ता – मैं – की तरह मानना शुरू करता है यानी उसमें आत्मचेतना के अंकुर प्रस्फुटित हो जाते हैं। शुरू में वह अपने को तीसरे पुरुष की भाँति और अपनी क्रियाओं को अन्यपुरुष रूप की भाँति प्रस्तुत करता है साम अब आ गया है साम अब लेट गया है साम अब गिर पड़ा है वगैरह। दूसरे शब्दों में वह अपनी क्रियाओं और अपने बीच भेद करना सीख जाता है।

विकास में प्राप्त सफलताएँ बच्चे के समग्र व्यवहार को गुणात्मक रूप से बदल देती हैं। हालाँकि वयस्क की भूमिका फिर भी मुख्य रहती है अपने व्यावहारिक जीवन के सर्वाधिक सरल और अपनी सीमित क्षमताओं के दायरे में बच्चा वयस्कों की मदद के बिना काम करने का प्रयास करता है। नयी प्रवृत्तियाँ बच्चे की क्रियाशीलता को बढ़ा देती हैं (मैं खुद) और वयस्कों के साथ नये पारस्परिक संबंधों के जन्म का कारण बनती हैं। इस अवधि को नाज़ुक माना जाता है (तीसरे वर्ष का संकट) क्योंकि वयस्क बच्चे के साथ अपने संबंधों में कठिनाइयाँ महसूस करने लगता है जो अपनी स्वात्मवृत्ति और जिद्दीपन की वजह से असाध्य तक बन सकता है।

तीसरे वर्ष का संकट वयस्कों के साथ बच्चे के संबंधों के विकास की एक यथार्थ परिघटना है। बच्चे में अपनी आवश्यकताओं को स्वयं तुष्ट करने की प्रवृत्ति पैदा होती है जबकि वयस्क संबंधों का प्ररूप पूर्ववत् ही बनाये रखता है और इस तरह बच्चे की सक्रियता को सीमित कर देता है। सामान्य और सही ढंग से विकास करता हुआ बच्चा पहले जैसे संबंधों का प्रतिरोध करता है। वह नखरे दिखाता है सब काम उल्टे करता है वयस्कों की अपेक्षाओं के प्रति हर प्रकार से अपना नकारात्मक रवैया प्रदर्शित करता है। बेशक ऐसा व्यवहार वह सभी से या सबके सामने नहीं करता उसकी नकारवृत्ति काफी चयनात्मक होती है और उन्हीं के सामने उभरती है जो उसकी स्वतंत्रता पर अंकुश लगाने की कोशिश करते हैं। यदि वयस्क बच्चे की स्वतंत्रता आत्म

निर्भरता को विवेकपूर्ण ढग से प्रोत्साहित करे, तो परस्पर सबधो मे उत्पन्न कठिनाइया दूर हो जाती है।

तीसरे वर्ष का सकट एक अस्थायी परिघटना है, किंतु उससे सबधित नयी बाते – परिवेश से अपना पृथक्करण दूसरो से अपनी तुलना – मानसिक विकास की दिशा मे महत्त्वपूर्ण कदम होती है।

वयस्को जैसा बनने की आकाक्षा मेल के रूप मे ही अपना अधिकतम समाधान पा सकती है (केवल खेल मे ही बच्चा दूकान जा सकता है, खाना पका सकता है, राकेट मे उड सकता है, इत्यादि)। इसलिए तीसरे वर्ष का सकट बच्चे के क्रीडा सक्रियता मे सक्रमण के जरिये ही हल किया जाता है।

§३ स्कूलपूर्व आयु-वर्ग के बच्चे के विकास की मानसिक विशेषताए

स्कूलपूर्व आयु (तीन मे सात वर्ष तक) मे बच्चे के शरीर का सघन परिपाक जारी रहता है। सामान्य वृद्धि के साथ-साथ ऊतको और अगो का शारीरी और प्रकार्यात्मक विकास होता है। अस्थि ढाचा दृढ व कठोर बनता है पेशियो की सहति बढती है, श्वसन तथा रक्त परिसचरण अगो का विकास होता है। मस्तिष्क भार बढकर १११० ग्राम स १३५० ग्राम हो जाता है। बडे गोलार्धो की प्रातस्था की नियामक भूमिका और धूसर द्रव्य पर उसका नियत्रण बढता है। अनुकूलित प्रतिवर्त अधिक तीव्रता से बनने लगते है और द्वितीय सकेत प्रणाली विशेष तेजी स विकसित होती है।

शारीरिक विकास बच्चे के अधिक स्वतत्र बनने के लिए और पालन तथा शिक्षण की प्रक्रिया मे उसके द्वारा नये प्रकार के सामाजिक अनुभवो के आत्मसात्करण के लिए आवश्यक परिस्थितिया तैयार करता है।

स्कूलपूर्व आयु म बच्चे का विकास एक नयी सामाजिक स्थिति मे होता है। आसपास के लोगो के बीच स्कूलपूर्व आयु-वर्ग के बच्चे

का स्थान आरंभिक बाल्यावस्था में बच्चे के स्थान से काफी भिन्न होता है। अब बच्चा कुछ सामान्य उत्तरदायित्व भी वहन करने लग जाता है। वयस्कों के साथ उसका संबंध नये रूप ग्रहण कर लेता है, संयुक्त सक्रियता का स्थान वयस्कों के निर्देशों का बच्चे द्वारा स्वतंत्र रूप से पूरा किया जाना ले लेता है। पहली बार बच्चे का किसी निश्चित कार्यक्रम के अनुसार अपेक्षया प्रणालीबद्ध ढंग से शिक्षा लेना संभव बन जाता है। किंतु, जैसा कि ल० स० विगोत्स्की ने कहा था, यह कार्यक्रम उसी हद तक व्यवहार में चरितार्थ हो सकता है, जिस हद तक कि वह बच्चे का खुद अपना कार्यक्रम बनता है।

स्कूलपूर्व आयु वर्ग की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता बच्चे के अपने समवयस्कों के साथ निश्चित परस्पर संबंधों का आविर्भाव, यानी 'बाल मंडली' का निर्माण है। दूसरे लोगों के प्रति बच्चे का अपना आंतरिक रवैया उसके अपने 'अहं' की तथा अपने कार्यों के अर्थ की बढ़ती हुई समझ और वयस्कों की दुनिया, उनके क्रियाकलाप तथा परस्पर संबंधों में गहन रुचि में व्यक्त होता है।

स्कूलपूर्व आयु के बच्चे का विकास जिस सामाजिक स्थिति में होता है, उसकी विशेषताएं इस बच्चे के लिए 'नाटकीय सक्रियता' रूपों, विशेषतः कथानक व भूमिकापरक खेल में प्रतिबिंबित होती हैं। वयस्कों की दुनिया के समग्र में आने की आकांक्षा और इसके साथ ही इसके लिए आवश्यक ज्ञान व दक्षताओं के अभाव का परिणाम यह होता है कि बच्चा इस दुनिया को खेल के रूप में ही, जो कि उसकी पहुंच के भीतर है, अपना पाता है। सामाजिक स्कूलपूर्व पालन की प्रणाली स्कूलपूर्व आयु के बच्चों के विकास के लिए विशेष अनुकूल परिस्थितियां बनाती है। स्कूलपूर्व बाल संस्थाओं में बच्चों को विशेष कार्यक्रम के अनुसार शिक्षण दिया जाता है, उनकी संयुक्त सक्रियता के आरंभिक रूप उत्पन्न होते हैं और उनका आम मत तैयार किया जाता है। जैसा कि विशेषतः किये गये अनुसंधानों के परिणाम दिखाते हैं, जो बच्चे किंडरगार्टन नहीं जाते, उनकी अपेक्षा किंडरगार्टन जाने वाले बच्चों के मानसिक विकास का स्तर और स्कूली शिक्षा के लिए तैयारी का स्तर औसतन ऊंचा होता है।

स्कूलपूर्व आयु-वर्ग के
बच्चो की सक्रियता के मुख्य रूप

इस आयु वर्ग मे बच्चो की सक्रियता का प्रमुख रूप खेल है। उसकी प्रमुखता का कारण यह नही कि आज का बच्चा सामान्यत अपना अधिकाश समय मन बहलानेवाले खेलो मे बिताता है और वयस्को के श्रम क्रियाकलाप मे भाग अपेक्षया कम अथवा बिल्कुल भी नही लेता है। खेल बच्चे के मानस मे गुणात्मक परिवर्तन लाता है उसके दौरान शिक्षा सक्रियता की जो आगे चलकर, स्कूली जीवन मे प्रमुख सक्रियता बन जाती है, बुनियाद पडती है।

बच्चो की वयस्को के साथ सहजीवन की आकाक्षा सयुक्त श्रम के जरिये तुष्ट नही हो सकती। अपनी इस आवश्यकता को बच्चे खेल मे तुष्ट करने लगते है, जिसमें वे अपने को वयस्को की भूमिका मे रखकर न केवल श्रम जीवन की, बल्कि सामाजिक सबधो की भी प्रतिकृति कर सकते हैं। इस प्रकार समाज मे बच्चे का विशिष्ट स्थान वयस्को के जीवन मे तादात्म्य स्थापित करने के एक अनूठे तरीके के रूप मे भूमिकापरक खेल की उत्पत्ति का आधार बन जाता है। खेल मे बच्चे का पहली बार लोगो के बीच वस्तुत विद्यमान सबधो से साक्षात्कार होता है उसकी समझ मे आने लगता है कि सक्रियता का रूप कोई भी क्यो न हो उसमे भाग लेना आदमी से कुछ दायित्वो की पूर्ति की अपेक्षा करता है और उसे कुछ अधिकार भी दता है। उदाहरणार्थ, ग्राहक की भूमिका अदा करते हुए बच्चा समझ जाता है कि वह जो वस्तु खरीदना चाहता है, उसकी भली भाति जाच कर लेने का उस अधिकार है, कितु चुनाव कर लेने पर उसे दूकान से बाहर ले जान से पहले उसे उसका दाम भी चुकाना होगा। कथानक मूलक खेल म कोई भूमिका अदा करने का सार ही यह है कि उस भूमिका द्वारा प्रदत्त दायित्वो का पालन और अधिकारो का उपभोग किया जाये। निर्धारित भूमिकाओ का सुसगत निर्वाह खेलनवाले बच्चा मे अनुशासन पैदा करता है। सयुक्त सक्रियता म वे अपनी क्रियाओ क बीच सामजस्य स्थापित करना सीखते है। समूह क अन्य सदस्यो के साथ ये यथार्थ परस्पर सबध बच्चे म न केवल सामूहिकतावाद

की भावना का पोषण करते हैं अपितु उनकी आत्मचेतना को उभारते भी हैं। समवयस्कों से समुदाय के मत से निर्दिष्ट होना बच्चे में सामाजिक भावना – आत्मनिर्भरता, समुदाय के पीछे चलने की योग्यता, संवदनशीलता, आदि – उत्पन्न करता है।

इस प्रकार यदि खेल का कथानक बच्चे को वयस्कों के क्रियाकलाप और परस्पर संबंधों से अवगत होने की संभावना देता है तो यथार्थ परस्पर संबंध उसे बाल क्रीडाओं में पायी जानेवाली विभिन्न स्थितियों में यथानुकूल आचरण करना सिखाते हैं। प्रत्येक हर बच्चा खेल की सामान्य स्थिति, अपने समूह की अपेक्षाओं तथा स्वयं अपनी वैयक्तिक योग्यताओं के अनुरूप आचरण करना सीखता है। व्यवहार का चयन अन्य बच्चे कैसे हैं इसपर और अपनी क्षमताओं के मूल्यांकन पर निर्भर होता है। कुछ बच्चे हुक्म चलाना पसंद करते हैं और कुछ पीछे और चुप रहना। किंतु खेल में स्थान बच्चे की निष्क्रियता का मानदंड नहीं होता। छोटी से छोटी भूमिका अदा करते हुए भी बच्चा कहीं अधिक सक्रिय और सर्जनात्मक हो सकता है, बजाय उस स्थिति के कि जब उसे कोई अधिक बड़ी भूमिका अदा करने को बाध्य किया जाता है।

उपरोक्त बातों से स्पष्ट है कि बच्चों का क्रीडारत समूह एक प्रकार का सामाजिक संबंधों का स्कूल है, जिसमें व्यवहार के सामाजिक रूप निरंतर गढ़े और मजबूत बनाये जाते हैं। खेल के दौरान बच्चे परस्पर सहयोग का पाठ सीखते हैं।

खेल मे बच्चा बहुत जल्दी ही जान जाता है कि यथार्थ वस्तु को खिलौने अथवा किसी सायोगिक वस्तु से बदलना संभव है। यथार्थ वस्तुओं का प्रतिस्थापन वह वयस्कों से सीखता है। स्कूलपूर्व आयु का बच्चा रोटी की जगह पर कंकड़, आदमी की जगह पर डंडा इस्तेमाल कर सकता है। वह एक तरह की वस्तुओं का दूसरी तरह की वस्तुओं से प्रतिस्थापन ही नहीं करता, बल्कि वस्तुओं, जीवों और दूसरे लोगों के स्थान पर स्वयं अपने को भी रख सकता है। उदाहरणार्थ, वह गोली दागता है और भेडिये के बदले, जिसे गोली लगी है, खुद गिर जाता है, वह कल्पित इंजन चलाता है और इंजन की हैसियत से खुद सीटी देता है अथवा रफ्तार तेज कर लेता है।

इस प्रकार इस चरण मे खेल सारत प्रतीकात्मक बन जाता है। प्रतीकात्मक खेल, बच्चे द्वारा प्रतीको का उपयोग उसके मानस के विकास का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है। प्रतीको का उपयोग, एक प्रकार की वस्तुओ का दूसरे प्रकार की वस्तुओ से प्रतिस्थापन एक ऐसी उपलब्धि है, जो बच्चे को **आगे चलकर सामाजिक सकेतो मे पारगत होने की सभावना देती है।** प्रतीकात्मक प्रकार्य के विकास की बदौलत बच्चे म वर्गीकरण क्षमता आती है उसकी बौद्धिक व अन्य योग्यताओ मे गुणात्मक परिवर्तन होते है। उल्लेखनीय है कि एक प्रकार की वस्तुओ की जगह पर दूसरे प्रकार की वस्तुओ का व्यापक उपयोग देखकर ही हम यह नही कह सकते कि बच्चो के खेल मे कोई भी चीज कुछ भी बन सकती है। बच्चा प्रतिस्थापक वस्तुओ की विशेषताओ से निर्दिष्ट होता है। मिसाल क लिए, खेल क लिए सामग्री चुनते हुए वह इससे सतोष कर सकता है कि आइसक्रीम की जगह सफेद ईट, सासेज की जगह लाल डडी, सेव की जगह प्लास्टिक के हरे गोले आदमी की जगह छडी अथवा मकान की जगह कोई डिब्बा ले लेगा। ये और इस तरह के सभी अनुकल्पन आकार, रग अथवा प्रकार्यात्मक विशेषताओ के साम्य की उपज होते है। इसी तरह यह भी उल्लेखनीय है कि बच्चा जब किसी वस्तु को कोई नाम दे देता है तो उसक बाद वह उसक साथ उसकी मूल विशेषताओ के अनुसार नही, बल्कि **उसके नये नाम के अनुसार** क्रियाए करन लगता है। डडा यदि बदूक बन गया है तो उससे गोली ही दागी जाती है, यदि घोडा, तो उसपर सवार हुआ जाता है वगैरह।

क्रीडामूलक सक्रियता जान बूझकर ध्यान देने और जान-बूझकर याद रखने की आदत के विकास मे सहायक होती है। बच्चे प्रयोगशाला प्रयोगो के मुकाबले खेल म अपना ध्यान कही ज्यादा एकाग्र कर पाते है और कही ज्यादा बाते याद रख सकते है। **सचेतन उद्देश्य – ध्यान एकाग्र करना, याद रखना और याद करना – बच्चे द्वारा सबसे पहले और सबसे आसानी से खेल मे ही पहचाना जाता है।** स्वय खेल की शर्ते उसम भाग लेनेवालो से खेल की वस्तुओ, क्रियाओ तथा विषय पर ध्यान एकाग्र करने की अपेक्षा करती है। यदि बच्चा इसपर ध्यान नही देगा कि खेल की अगली स्थिति उसस क्या अपेक्षा करती है और

यदि वह गेम की शर्तों का पालन नहीं करेगा, तो कोई उसके साथ नहीं खेलना चाहेगा। दूसरा की संगति की आवश्यकता, सकारात्मक प्रोत्साहन की आवश्यकता बच्चों को अपने में सोद्देश्य एकाग्रता और स्मरण की आदत डालने के लिए बाध्य करती है।

खेल बच्चे की बोली के विकास पर बहुत बड़ा प्रभाव डालता है। यह उसमें भाग लेनेवाले प्रत्येक बच्चे में कुछ विशेष संप्रेषण योग्यताओं की अपेक्षा करता है। यदि बच्चा गेम के बारे में अपनी राय, अपनी इच्छाएं साफ-साफ व्यक्त नहीं कर पाता और यदि वह अपने साथियों के मौखिक निर्देशों को समझने में समर्थ नहीं है, तो समवयस्क उसे बोझ मानने लगेंगे। ऐसी स्थिति में सकारात्मक असंतोष बोली के विकास को प्रेरित करता है। मनोवैज्ञानिक साहित्य में ऐसे जुड़वा लड़कों के असंतोषजनक मानसिक विकास का वर्णन मिलता है, जिन्हें अपने समवयस्कों की संगति नहीं मिल पायी थी। एक दूसरे की ही संगति उपलब्ध होने से दोनों की अपनी केवल उन्हें ही बोधगम्य निरुपाधिक बोली ही विकास कर पायी। केवल जब उन्हें अलग करके कुछ समय के लिए विभिन्न बाल समुदायों में रखा गया, तभी उनमें सामान्य बोली संपर्क की क्षमता आ सकी।

खेल बौद्धिक विकास पर प्रभाव डालता है। खेल में बच्चा वस्तुओं और क्रियाओं का सामान्यीकरण करना, शब्दों के सामान्यीकृत अर्थ को इस्तेमाल में लाना आदि सीखता है। क्रीडामूलक स्थिति में प्रवेश बच्चे की बौद्धिक सक्रियता के विभिन्न रूपों के विकास की एक शर्त है। बच्चा वस्तु संचालनमूलक चिंतन से बिंबमूलक चिंतन में संक्रमण तभी कर लेता है जब वह वस्तु को उसका अपना नाम नहीं (हालांकि उसे वह अच्छी तरह जानता है) बल्कि दत्त क्रीडामूलक स्थिति में जो वस्तु अपेक्षित है उसका नाम देने लगता है। इस मामले में चुनी हुई वस्तु पहले तो कल्पित वस्तु संबंधी विचारों के लिए एक प्रकार के बाह्य अवलंब का काम करती है और, दूसरे, स्वयं इस कल्पित वस्तु के साथ वास्तविक क्रियाओं का अवलंब बनती है। इस प्रकार भूमिकामूलक खेल में चिंतन के धरातल पर कार्य करने की योग्यता बढ़ने लगती है। निस्संदेह आरंभ में, चिंतन के धरातल पर क्रियाएं केवल यथार्थ वस्तुओं के सहारे ही होती है। किंतु फिर बच्चा वस्तुओं

के साथ, जिन्हे वह नये नाम और फलस्वरूप नये प्रकार्य दता हे, वास्तविक क्रियाओ से शनै शनै आतरिक पूर्णत बौद्धिक क्रियाओ की ओर बढने लगता है। बौद्धिक क्रियाओ मे सक्रमण का आधार खेल स सबधित क्रियाओ का सक्षिप्तीकरण तथा सामान्यीकरण होता है। भूमिकामूलक खेल का मानसिक सक्रियता के अन्य रूपो के विकास क लिए भी बहुत बडा महत्त्व है। इस प्रकार कल्पनाशक्ति केवल खेल की परिस्थितियो मे और उसके प्रभाव से ही विकसित होने लगती है।

सारी स्कूलपूर्व आयु के दौरान खेल की अतर्वस्तु म गुणात्मक परिवतन आते रहते ह। कनिष्ठ स्कूलपूव वर्ग के बच्चे खेल मे वस्तुओ के साथ मुख्यतया ऐसी क्रियाए सपन्न करते है, जिनम यथार्थ वस्तुओ के साथ वयस्को द्वारा की जानेवाली क्रियाओ की अनुकृति की जाती है। उदाहरणार्थ, बच्चे कोई तीन वर्ष की आयु मे मेज पोछते हे, भाड़ू लगाते है, रोटी काटते है जूता साफ करते हैं, वगैरह। **क्रियाओ की अनुकृति ही नन्हे बच्चे के खेलो की मुख्य अतर्वस्तु होती है।** उल्लेखनीय है कि इस काल मे बच्चे सामान्यत अकेले ही खेलते हैं। यहा तक कि जब क्रीडा सामग्रियो के कारण या वयस्कों के कहने पर वे मिलजुलकर खेलते ह तब भी यह सयुक्त खेल नही, बल्कि **आस पास खेलना** ही होता है। बच्चे एक दूसरे के खेल पर बहुत कम ध्यान देत है ओर हर कोई शाति से अपनी वस्तु के साथ क्रिया करता रहता है। किंतु ज्येष्ठ स्कूलपूर्व आयु-वर्ग के बच्चे कुछ दूसर ही ढग मे खेलत है। कनिष्ठ वर्ग के बच्चे वयस्को की देखादेखी कुछेक क्रियाए करते हुए इन क्रियाओ के अनुरूप भूमिकाए अपन ऊपर आरोपित नही करते, किंतु ज्येष्ठ वर्ग के बच्चे कोई न कोई भूमिका अवश्य ही निभाने लगत ह। उदाहरणार्थ, यदि दो-तीन वर्ष की बच्ची गुडिया को थपकिया देती है तो वह ऐसा करते हुए अपने को मा नही समझती और ऐसी स्थिति म पूछे जाने पर कि तुम कौन हो, वह अपना नाम बता देती है। किंतु पाच-छह वर्ष की बच्ची का ऐसी स्थिति म उत्तर होगा कि मैं इसकी (गुडिया की) मा हू। ज्येष्ठ स्कूलपूर्व आयु मे बच्चा क्रियाए स्वय क्रियाओ की खातिर नही करता। उसके लिए वे भूमिका का अग होती ह। अब क्रियाए शिथिल तथा बारबार दोहरायी जानेवाली नही रह जाती, बल्कि कमोबेश सुगठित सुसहत बन जाती है। खेल के विकास

की इस अवस्था में बच्चा लोगों के परस्पर संबंधों में रुचि लेने लगता है और क्रियाएं संबंधों का उपादान या साधन बन जाती हैं। खेल की शुरुआत में पहले ही बच्चे आपस में तय कर लेते हैं कि कौन क्या बनेगा। सामान्यतः ये सामाजिक भूमिकाएं ही होती हैं। कभी-कभी बच्चे खुद बच्चों की भूमिकाएं भी लेते हैं। इन खेलों में उन्हें मानव संबंधों की प्रणाली में अपने स्थान का बेहतर ज्ञान प्राप्त होता है और उन्हें अपनी कमजोरियों और अपनी ताकत का पता चलता है।

वयस्कों के साथ वास्तविक संबंधों में बच्चे को न केवल बच्चा होने की, बल्कि बच्चे की भूमिका अदा करने की भी संभावना प्राप्त रहती है। परवर्ती मामले में वह वयस्कों का निदेशन-नियमन भी कर सकता है, हालांकि वास्तविक सत्ता वयस्कों के ही हाथों में रहती है। उदाहरण के लिए बच्चा वयस्कों का ध्यान अपने ऊपर केंद्रित रखने अथवा वांछित वस्तु पाने के लिए अपने "बच्चा होने" का लाभ उठा सकता है। बच्चे की कमज़ोरी एक प्रभावी शक्ति में बदल जाती है और बच्चा उसे इस्तेमाल करना सीख लेता है। जीवन के अनुभव का अभाव और सब कुछ यथाशीघ्र जानने की उत्कंठा बच्चे को असाधारण रूप से अतिवादी बना देते हैं। "ऐसा होता है", "ऐसा नहीं होता", "यह ठीक है", "यह खराब है" – ये बाल मूल्यांकनों के बहुप्रचलित रूप हैं। इसी से बच्चा में नियमों के प्रति प्रेम भी पैदा होता है।

स्कूलपूर्व आयु वर्ग के ज्येष्ठ बच्चों के लिए खेल की अंतर्वस्तु में मुख्य बात नियमों का पालन होता है। वे आत्मनियंत्रण और अनुशासनबद्ध संबंधों को सर्वोपरि महत्त्व देने लगते हैं। वे खेल में बड़ी सहजता से अपनी क्रियाओं को समन्वित कर लेते हैं, एक दूसरे की अधीनता मान लेते हैं, झुक जाते हैं, क्योंकि यह उनकी भूमिकाओं की अंतर्वस्तु में सम्मिलित होता है। भूमिकाओं की परस्पर अधीनता और क्रियाओं का समन्वय उस दौर की विशेषताएं हैं, जिसमें बच्चा अपने किसी समवयस्क में अपेक्षया काफी लंबे समय तक रुचि भी लेने लगता है, जब खेल सक्रिय संपर्क का बहाना बन जाता है। किंतु सामाजिक संपर्क की विधियों के अनुभव के बिना दूसरे बच्चे के साथ मिलकर कुछ करना इतना आसान नहीं होता। समवयस्क के साथ संबंध बनाने और उसकी सद्भावना न खोने के लिए बच्चा परस्पर समझ कायम

करने म उत्साह बढ़ाता है। सबधो म निश्चित सापेक्षता सगान और सामियो का प्राय वर्णन का कारण यह होता है कि बच्चा मानव सबधो का अभी ठीक ज्ञान नहीं पाता है। नये-नये मित्र साथी बनाकर वह आचार व्यवहार रूपो म परिचित होता है जो उस अवस्था ज्ञान-व्यवहार के समायोजन के और कुछ रूप या स्वतन्त्रता प्रदान करते है।

स्कूलपूर्व आयु-वर्ग के बच्चे के मानसिक विकास म खेल के अलावा उत्पादक सक्रियता भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है जैसे चित्रकारी, मॉडलिंग (मूर्तियाँ) का काम, डिजाइनिंग आदि। इनम स हर प्रकार की सक्रियता किन्ही निश्चित विशेषताओ स युक्त उत्पाद (चित्र, मकान आदि) की प्राप्ति की ओर लक्षित होती है। बच्चे स अपेक्षा की जाती है कि वह किसी खास क्षण म इस प्रकार की जिस सक्रियता म प्रवृत्त है उसकी प्रक्रिया म उस समय विशेष रुचि न होने पर भी वाछित परिणाम प्राप्त करता जाये ताकि उसम अपनी कल्पना को गुणात्मक रूप म साकार बनाने की क्षमता विकसित हो सके। स्वाभाविक है कि स्कूलपूर्व आयु-वर्ग के कनिष्ठ बच्चे अभी अपनी क्रियाओ को पूर्णत इन्ही अपेक्षाओ के अनुरूप नहीं बना सकते। आरम्भ म उन्हे परिणाम उतना आकृष्ट नहीं करता, जितना कि सक्रियता की प्रक्रिया जैसे लकड़ी के टुकड़ो को एक दूसरे के ऊपर रखना, मिट्टी का रूप बदलना, कागज पर पेंसिल चलाना, वगैरह। परिणामामुखता शनै शनै, सक्रियता म रुचि बढ़ने के साथ ही आती है। ज्यो ज्यो इसकी उद्देश्यपरकता विकसित होती जाती है, बच्चा आवश्यक बाह्य तथा व्यावहारिक और आतरिक तथा मानसिक क्रियाओ म प्रवीण बनता जाता है और उसम सौन्दर्यबोध तथा सृजनात्मक क्षमता उत्पन्न होते है।

विशेषज्ञो का ध्यान सबसे ज्यादा बच्चो की चित्रकारी आकृष्ट करती है। स्कूलपूर्व आयु के बच्चो के बनाये हुए चित्रो की कुछ खास विशेषताए होती है व रूढाकृतिक होते है (मिसाल के लिए उनम आदमी कुछ ही रेखाए खीचकर दिखाया जाता है), उनम आकार के अनुपात प्राय भुला दिये जाते है (मिसाल के लिए, फूल मकान से बड़ा हो सकता है) दैशिक सबधो को ध्यान म नही रखा जाता कभी कभी वस्तु एक साथ कई पहलुओ से चित्रित की जाती है वगैरह।

कुछ हद तक इसका कारण यह है कि बच्चा के चित्र प्राय किसी कथा के अथवा किन्ही दिलचस्प घटनाओ की कहानियो के अग होते है। जो चित्र द्वारा सप्रेषित नही हो पाता, उसे बच्चा शब्दो अथवा मुद्राओ द्वारा व्यक्त करता है। कारण यह भी है कि बच्चा अत्यल्प चित्रण उपाय जानता है। किंतु इसके साथ ही इन चित्रो की विशेषताओ मे बच्चे के प्रत्यक्षण तथा चितन के कुछ मूलभूत लक्षणो की छाप रहती है। इसका प्रमाण यह तथ्य है कि अनेक मामलो मे बच्चे अपने समवय स्को द्वारा चित्रित वस्तुओ को आसानी से पहचान जाते है, जबकि वयस्क इसमे कठिनाई अनुभव करते है। चित्रकारी की शिक्षा यदि ठीक से दी जाये यानी जिन वस्तुओ के चित्र बनाये जाते है, बच्चा को यदि उनका ध्यानपूर्वक तथा भली प्रकार से अध्ययन करना तथा उनके विशिष्ट लक्षणो को पहचानना सिखाया जाये और आवश्यक तकनीकी युक्तियो का प्रशिक्षण भी दिया जाये तो बच्चे स्कूलपूर्व आयु मे ही वस्तुओ का काफी यथार्थपरक चित्रण करने लग जाते है। ऐसा शिक्षण सक्रिय सोद्देश्य प्रत्यक्षण और विश्लेषणात्मक क्रियाओ के विकास मे सहायक होता है। बच्चे को अपने विचारो को साकार बनाने के "उपकरण" मिल जाते है और यह सृजन योग्यता का विकास करता है।

स्कूलपूर्व आयु के बच्चो को कुछ श्रम कृत्यक सपन्न करना भी सिखाया जाता है। हालांकि उनके लिए श्रम अभी सक्रियता का एक विशिष्ट स्वतत्र रूप नही होता है फिर भी इस प्रकार के कार्य करते हुए उनमे कतिपय ऐसे मानसिक गुण जडे जमाने लगते है, जो श्रम के विकसित रूपो के लिए लाक्षणिक है। उनमे मुख्य गुण अपनी सक्रियता को सामाजिक अभिप्रेरको के अधीन बनाने और इस सक्रियता मे दूसरे लोगो को जो लाभ हो सकता है उससे निर्देशित होने की योग्यता है। इसके परिणामस्वरूप बच्चा स्कूलपूर्व आयु मे ही शिक्षा सक्रियता के कतिपय तत्वो से परिचित हो जाता है। वैसे तो सीखना किसी न किसी रूप मे बच्चो की हर प्रकार की सक्रियता मे शामिल रहता है। किंतु बच्चे के लिए शिक्षा एक विशेष सक्रियता शिक्षा लक्ष्य यानी कोई नयी बात सीखने के लक्ष्य के प्रकट होने के साथ ही बनती है। शिक्षा लक्ष्य का जन्म स्कूलपूर्व आयु के अत मे जाकर ही होता है जब बच्चा वयस्को को ध्यान से सुनना व उनके निर्देश पूरे करना

सीख लेता है, नियत कार्यों को सपन्न करने की रीतियो मे रुचि लेने लगता है और थोडा बहुत आत्मनियन्त्रण भी सीख लेता है। शिक्षा सक्रियता बच्चे के मानस से, विशेषत मानसिक प्रक्रियाओ – प्रत्यक्षण ध्यान स्मृति तथा चिंतन – की सकल्पाधीनता तथा नियन्त्रणीयता के मामले में काफी ऊची अपेक्षाए करती है और इस प्रकार तदनुरूप मानसिक गुणो के विकास मे सहायक होती है।

स्कूलपूर्व आयु मे सवेदो का विकास

स्कूलपूर्व आयु वह अवधि है, जिसके दौरान बच्चे का ऐंद्रिक अनुभव बहुत अधिक बढता तथा व्यवस्थित बनता है बच्चा प्रत्यक्षण तथा चिंतन के विशिष्ट मानवीय रूपो मे दक्षता प्राप्त करता है उसकी कल्पना-शक्ति का तीव्र विकास होता है और स्वेच्छा से ध्यान देने की आदत तथा समझ पर आधारित स्मृति के भ्रूण उत्पन्न होते है।

तीन से सात वर्ष की आयु के बीच दृष्टि श्रवण स्पर्श सवेदो के अवरोध काफी कम हो जाते है। दृष्टि प्रखर बनती जाती है, आखे रगो और उनक भेदो को अधिक सूक्ष्मता से पहचानने लगती है, स्वनिमात्मक और सूक्ष्म स्वर श्रवण शक्ति विकसित होती है हाथ सक्रिय स्पर्श इद्रिय बन जाता है। किंतु ये सभी परिवर्तन स्वत नही आते। वे यथार्थ जगत की वस्तुओ तथा परिघटनाओ और उनकी नानाविध विशेषताओ तथा सबधो के अध्ययन की ओर लक्षित प्रत्यक्षण की नयी क्रियाओ म बच्चे के दक्षता प्राप्त करते जाने का परिणाम होते है। प्रत्यक्षण की क्रियाओ का जन्म बच्चे की उन सार्थक सक्रियताओ म दक्षता म सबध होता है, जो वस्तुओ तथा परिघटनाओ क गुणो को पहचानने तथा ध्यान म रखने की अपेक्षा करत है। आकृति परिमाण तथा रग के चाक्षुष प्रत्यक्षण क विकास के लिए उत्पादक क्रियाकलाप – एप्लीक का काम, चित्रकारी, डिजायनिग – का विशेष महत्त्व होता है। स्पर्श प्रत्यक्षण मॉडलिग तथा हस्तश्रम की प्रक्रिया म स्वनिमात्मक श्रवण शक्ति वाक् सपर्क की प्रक्रिया मे और सूक्ष्म स्वर श्रवण शक्ति सगीताभ्यासो म विकसित होते हैं।

स्कूलपूर्व आयु म प्रत्यक्षण क विकास मे बच्चो द्वारा सवेद मानको

की प्रणाली को हृदयगम किये जाने का विशेष महत्त्व होता है (सवेद मानक वस्तुओ के गुणो के मानवजाति द्वारा एक खास ढग से विभेदित तथा परस्पर सबधित प्ररूपो को कहते है, जैसे वर्णक्रम के रग, ज्यामितीय आकृतिया सगीत के स्वर, भाषा के स्वनिम, आदि)। सवेद मानक बच्चो द्वारा इद्रियबोध की क्रियाए करते हुए प्रयोग किये जाते है। वे एक प्रकार के मापदड होते है जो प्रेक्षणाधीन वस्तुओ की विशेषताए समझ पाने की सभावना देते है।

स्कूलपूर्व आयु के अत मे भी बच्चा अभी सर्वमान्य मानको से पूर्णत परिचित नही होता। ठोस सुपरिचित वस्तुओ के गुणो के बारे मे उसकी अपनी धारणाए ही उसके प्रत्यक्षण के मापदड होते है। यह विशेषत उन शाब्दिक सकेतो से प्रकट होता है, जिनसे बच्चा वस्तुओ के गुणो को इगित करता है। उदाहरणार्थ, तिकोनी आकृति के लिए वह कहेगा घर जैसा ' छत जैसा ", गोल आकृति के लिए कहेगा 'गेद जैसा लाल रग के लिए कहेगा "चेरी जैसा', वगैरह। सर्वमान्य मानक प्रणालियो का ज्ञान प्रत्यक्षण को परिष्कृत करता है और बच्चे को सामाजिक अनुभव के जरिये विश्व का अवबोध करने की सभावना देता है। यदि बच्चे को मानक प्रणालियो से खास तौर से अवगत नही कराया जाता, तो वह उन्हे विभिन्न – मुख्यतया उत्पादक – सक्रियताए करते हुए शनै शनै और स्वत स्फूर्त ढग से ही हृदयगम कर पाता है। प्रयुक्त सामग्री (रगीन पेंसिलो रगो, मोजाइक डिजायनिग मे इस्तेमाल किये जानेवाले टुकडो आदि) मे मुख्य रगो तथा आकृतियो के नमूने और परिमाणो की सारिणिया होती हैं। बच्चा वस्तु की विशेषताओ के अनुरूप नमूनो को इस्तेमाल करते हुए उसका चित्र अथवा प्रतिरूप बनाता है। ऐसा व्यावहारिक प्रतिरूपण चिंतन के धरातल पर प्रतिरूपण मे सक्रमण के लिए आरभबिंदु का काम करता है।

प्रत्यक्षण का विकास विशेषत सगठित सवेदात्मक शिक्षा की परिस्थितियो मे बहुत ही कारगर ढग से होता है। चित्रकारी शिक्षण मे, सगीत के अभ्यासो मे शिक्षात्मक खेलो के दौरान स्कूलपूर्व आयु के बच्चो को सुनियोजित ढग से सवेद मानको से परिचित कराया जाता है वस्तुओं के अध्ययन के तरीके सिखाये जाते है उनके गुणो की

परिचित मानको से तुलना करने की शिक्षा दी जाती है। इसका परिणाम यह निकलता है कि बच्चे का प्रत्यक्षण पूर्ण परिशुद्ध और विभेदित हो जाता है।

प्रत्यक्षण के विकास का एक विशेष क्षेत्र कलाकृतियो (चित्रो, सगीत रचनाओ आदि) के सौदर्यबोधात्मक प्रत्यक्षण का निर्माण है। किसी चित्र को ठीक से समझने के लिए बच्चे को उसकी विशेषताओ को ध्यान मे रखना आना चाहिए। उसे समाज म विकसित चित्रकला के नियमो का ज्ञान होना चाहिए। इसके बिना बच्चा सडक पर जाते बच्चो के परिप्रेक्ष्यात्मक चित्र को देखकर कह सकता है "यह बडा लडका है, यह छोटा और यह बिल्कुल गुडिया जैसा।" चटकीले रगोवाले चित्र को देखकर तो वह मुग्ध होगा और मात्र छाया प्रकाशवाले चित्रो को देखकर मुह मोड लेगा, क्योकि छाया उसे गदगी लगेगी। चित्र को ठीक स समझने, अकित वस्तुओ तथा आकृतियो को न केवल बताने बल्कि चित्र की कथा को पकड पाने की योग्यता वयस्को की देखरेख मे चित्रो को देखने के अभ्यास के फलस्वरूप आती है। चित्र को गौर स देखना और समझना चित्रकला के रसास्वादन की एक पूर्वशर्त है। रसानुभूति पहले रगो और उनके मेलो से जुडी होती है और कुछ बाद मे चित्र के लय और अन्य विन्यासात्मक विशेषताओ से जुड जाती है। इसम देखे जा रहे चित्रो की गुणवत्ता का बडा महत्त्व होता ह। उन्ह पर्याप्त सादा और सजावटी होना चाहिए।

बच्चो की सगीत को ग्रहण करने की क्षमता और उससे सबधित रसानुभूतियो का इतना अधिक अध्ययन नही किया गया है। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि स्कूलपूर्व आयु मे बच्चे सगीत का रसास्वादन करने मे पूर्णतया सक्षम होते है और उनकी सगीत से सबधित अनुभूतिया मुख्यतया ध्वनिगुणता और लय-ताल पर निर्भर होती हैं। छह सात वर्ष की आयु मे बच्चा धुन को काफी कुछ सही सही दोहराने लग जाता है और जो मुख्य बात है, उसका सौदयपरक मूल्याकन भी करने लग जाता है ('पसद है', "पसद नही है")। जहा सगीत को नियमित रूप से सुनने और आसपास के लोगो स गहन सबगात्मक प्रतिक्रिया सीखने के अवसर उपलब्ध होते है वहा बच्चो की सगीत योग्यता जल्दी ही प्रकाश मे आ जाती है।

की प्रणाली को हृदयगम किये जाने का विशेष महत्त्व होता है (सवेद मानक वस्तुओ के गुणो के मानवजाति द्वारा एक खास ढग से विभन्ति तथा परस्पर सबंधित प्ररूपो को कहते है, जैसे वर्णक्रम के रग, ज्यामितीय आकृतिया सगीत के स्वर, भाषा के स्वनिम, आदि)। सवेद मानक बच्चो द्वारा इद्रियबोध की क्रियाए करते हुए प्रयोग किये जाते है। वे एक प्रकार के मापदड होते है, जो प्रेक्षणाधीन वस्तुओ की विशेषताए समझ पाने की सभावना देते है।

स्कूलपूव आयु के अत मे भी बच्चा अभी सर्वमान्य मानको से पूर्णत परिचित नही होता। ठोस सुपरिचित वस्तुओ के गुणो क बारे म उसकी अपनी धारणाए ही उसके प्रत्यक्षण के मापदड होते है। यह विशेषत उन शाब्दिक सकेतो से प्रकट होता है, जिनसे बच्चा वस्तुओ के गुणो को इगित करता है। उदाहरणार्थ, तिकोनी आकृति के लिए वह कहेगा घर जैसा "छत जैसा', गोल आकृति के लिए कहेगा गद जैसा ' लाल रग के लिए कहेगा "चेरी जैसा", वगैरह। सर्वमाय मानक प्रणालियो का ज्ञान प्रत्यक्षण को परिष्कृत करता है और बच्चे को सामाजिक अनुभव के ज़रिये विश्व का अवबोध करने की सभावना देता है। यदि बच्चे को मानक प्रणालियो से खास तौर से अवगत नही कराया जाता तो वह उन्हे विभिन्न – मुख्यतया उत्पादक – सक्रियताए करते हुए शनै शनै और स्वत स्फूर्त ढग से ही हृदयगम कर पाता है। प्रयुक्त सामग्री (रगीन पसिलो, रगो, मोजाइक, डिजायनिग मे इस्तेमाल किये जानेवाले टुकडो, आदि) मे मुख्य रगो तथा आकृतियो क नमून और परिमाणो की सारिणिया होती हैं। बच्चा वस्तु की विशेषताओ के अनुरूप नमूनो को इस्तेमाल करते हुए उसका चित्र अथवा प्रतिरूप बनाता है। एसा व्यावहारिक प्रतिरूपण चितन क धरातल पर प्रतिरूपण म सक्रमण के लिए आरभबिदु का काम करता है।

प्रत्यक्षण का विकास विशेषत सगठित सवदात्मक शिक्षा की परिस्थितिया म बहुत ही कारगर ढग से होता है। चित्रकारी शिक्षण म, सगीत क अभ्यासो म शिक्षात्मक खेलो के दौरान स्कूलपूर्व आयु के बच्चा को सुनियोजित ढग से सवद मानको म परिचित कराया जाता है वस्तुआ क अध्ययन क तरीक सिखाये जाते है उनके गुणो की

परिचित मानकों से तुलना करने की शिक्षा दी जाती है। इसका परिणाम यह निकलता है कि बच्चे का प्रत्यक्षण पूर्ण, परिशुद्ध और विभेदित हो जाता है।

प्रत्यक्षण के विकास का एक विशेष क्षेत्र कलाकृतियों (चित्रों, संगीत रचनाओं, आदि) के सौंदर्यबोधात्मक प्रत्यक्षण का निर्माण है। किसी चित्र को ठीक से समझने के लिए बच्चे को उसकी विशेषताओं को ध्यान में रखना आना चाहिए। उस समाज में विकसित चित्रकला के नियमों का ज्ञान होना चाहिए। इसके बिना बच्चा सड़क पर जाते बच्चों के परिप्रेक्ष्यात्मक चित्र को देखकर कह सकता है 'यह बड़ा लड़का है यह छोटा और यह बिल्कुल गुड़िया जैसा।' चटकीले रंगोंवाले चित्र को देखकर तो वह मुग्ध होगा और मा‍‍ र छायाप्रकाशवाले चित्रों को देखकर मुह मोड़ लेगा, क्योंकि छाया उसे गदगी लगेगी। चित्र को ठीक से समझने, अकित वस्तुओं तथा आकृतियों को न केवल बताने बल्कि चित्र की कथा को पकड़ पाने की योग्यता वयस्कों की देखरेख में चित्रों को देखने के अभ्यास के फलस्वरूप आती है। चित्र को गौर से देखना और समझना चित्रकला के रसास्वादन की एक पूर्वशर्त है। रसानुभूति पहले रगों और उनके मेलों से जुड़ी होती है और कुछ बाद में चित्र के लय और अन्य विन्यासात्मक विशेषताओं से जुड़ जाती है। इसमें देखे जा रहे चित्रों की गुणवत्ता का बड़ा महत्त्व होता ह। उन्हें पर्याप्त सादा और सजावटी होना चाहिए।

बच्चों की सगीत को ग्रहण करने की क्षमता और उससे सबधित रसानुभूतियों का इतना अधिक अध्ययन नहीं किया गया है। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि स्कूलपूर्व आयु में बच्चे सगीत का रसास्वादन करने में पूर्णतया सक्षम होते है और उनकी सगीत से सबधित अनुभूतिया मुख्यतया ध्वनिगुणता और लय-ताल पर निर्भर होती है। छह सात वर्ष की आयु में बच्चा धुन को काफी कुछ सही सही दोहराने लग जाता है और जो मुख्य बात है उसका सौंदर्यपरक मूल्याकन भी करने लग जाता है ("पसद है" "पसद नहीं है")। जहा सगीत को नियमित रूप से सुनने और आसपास के लोगों से गहन सवेगात्मक प्रतिक्रिया सीखने के अवसर उपलब्ध होते है वहा बच्चों की सगीत योग्यता जल्दी ही प्रकाश म आ जाती है।

प्रत्यक्षण के परिष्कृत होने के साथ साथ बच्चे की चिंतन शक्ति भी विकास करती जाती है। यदि आरंभिक बाल्यकाल में चिंतन वस्तुमूलक (विशेषत उपकरणमूलक) क्रियाओं का सहगामी होता है तो स्कूलपूर्व आयु में वह व्यावहारिक क्रिया से पहले होने लग जाता है। ऐसा इसकी बदौलत होता है कि बच्चा किसी कार्य रीति को जो कि गत अनुभव का फल है, दूसरी किंतु पहली से सर्वथा भिन्न स्थिति में लागू करना सीखता है।

स्कूलपूर्व आयु में बच्चा अपने सामने उत्पन्न समस्याओं को तीन रीतियों से हल कर सकता है ऐंद्रिक क्रियामूलक रीति, ऐंद्रिक बिंबमूलक रीति और संकल्पना पर आधारित तार्किक चिंतन की विधि। बच्चा जितना ही छोटा होगा उतना ही अधिक वह व्यावहारिक प्रयोगों का सहारा लेगा और जितना ही वह बड़ा होगा, उतना ही अधिक वह ऐंद्रिक बिंबमूलक और फिर तार्किक रीतियों का इस्तेमाल करेगा।

स्कूलपूर्व आयु के बच्चे के चिंतन के विकास के मूल में बौद्धिक क्रियाओं का विकास निहित होता है, जिसका आरंभबिंदु भौतिक वस्तुओं के साथ यथार्थ क्रियाएं है। ऐसी क्रिया से बच्चा यथार्थत कल्पित भौतिक वस्तुओं के साथ परिसीमित मानसिक क्रियाओं में और अंतत पूर्णत मानसिक धरातल पर जहां यथार्थ वस्तुओं का स्थान धारणाएं अथवा संकल्पनाएं ले लेती है की जानेवाली क्रियाओं में संक्रमण करता है। इस प्रकार बाह्य क्रियाओं के आभ्यंतरीकरण के ज़रिये चिंतन के ऐंद्रिक बिंबमूलक और तर्क संकल्पनामूलक रूप जन्म लेते है।

चिंतन के विकास के उच्चतर स्तरों पर, यानी उसके तार्किक रूपों में बौद्धिक क्रियाएं आंतरिक बोली के धरातल पर संपन्न होती हैं या अनेकानेक संकेत प्रणालियां प्रयोग की जाती है। किंतु स्कूलपूर्व आयु के बच्चे का चिंतन संकेतों पर उतना आधारित नहीं होता, जितना कि बिंबों पर जो कुछ मामलों में मूर्त वस्तुओं को प्रतिबिंबित करते हैं तो कुछ मामलों में न्यूनाधिक सामान्यीकृत और प्रतीकात्मक होते है। इसी स्थिति में बच्चा समस्या के समाधान को वस्तुओं अथवा उनके प्रतिस्थापकों के साथ कई पूरी क्रियाओं के रूप में कल्पित करता है।

जो पियाजे के प्रयोगों में दिखाया गया था कि दो से सात वर्ष की अवस्था में बौद्धिक धरातल पर कृत्यकों का समाधान अत्यंत मूर्त बौद्धिक प्रयोग के रूप में हो सकता है। प्रयोगों के दौरान बाल चिंतन की ऐसी विशेषताएं प्रकाश में आयीं, जैसे उत्क्रमणीयता (अर्थात किसी परिवर्तन का अन्वेषण करके मस्तिष्क में उसे विपरीत दिशा में दोहराना और पूर्वस्थिति पर आना) का अभाव और ठोस स्थिति का कृत्यक के समाधान की क्रिया पर प्रभाव। प्रत्यक्ष का बिंब धारणा में वही प्रश्न सिद्ध होता है, जो सिद्धांततः सही होने हुए भी अभी क्षीण और अस्थिर होती है।

किंतु इसके बावजूद कि बच्चे का बिंबमूलक चिंतन कुछ मामलों में उथला होता है और त्रुटियों का कारण बनता है, वह बाह्य जगत का ज्ञान प्राप्त करने का एक प्रबल साधन है और बच्चे को वस्तुओं तथा परिघटनाओं के बारे में सामान्यीकृत धारणाएं बनाने की संभावना देता है। यह बात स्कूलपूर्व शिक्षण की प्रक्रिया में पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है।

स्कूलपूर्व आयु में चिंतन के शब्दमूलक रूपों का विकास बोली और व्यावहारिक क्रिया के परस्पर संबंधों के परिवर्तन से जुड़ा होता है। कनिष्ठ स्कूलपूर्व आयु में बच्चे के कथन व्यावहारिक कार्य के निष्पादन की प्रक्रिया में क्रियाओं के अनुगामी होते हैं और मानो उनका लेखा-जोखा पेश करते हैं। अगले चरण में बोली क्रिया की पूर्वगामी बन जाती है, यानी आयोजन का प्रकार्य करती है। यह बच्चे को कोई कार्य करते समय दृष्टि परिसर से बाहर तक फैले अर्थ-संबंधों को भी जानने और प्रयोग करने की संभावना देता है। शनैः शनैः, अर्थात ज्यों-ज्यों बच्चा व्यावहारिक अनुभव अर्जित करता है, त्यों-त्यों शब्दमूलक आयोजन का स्थान ठोस कृत्यकों का पूर्णतः शब्दमूलक चिंतन के स्तर पर समाधान लेने लगता है। जब बच्चा कृत्यक को समझता है, जब वह अपनी पहुंच के भीतर स्थित तथ्यों के प्रेक्षण का सहारा ले सकता है, उसके विचार पूर्णतः सुसंगत और तर्क की दृष्टि से सही हो सकते हैं। इस तरह, मिसाल के लिए, पानी में [illegible] पर विभिन्न वस्तुओं के 'व्यवहार' को देखकर स्कूलपूर्व आयु के बच्चे इस सर्वथा सत्य निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि लकड़ी की वस्तुएं तैरती हैं और धातु की वस्तुएं डूब जाती हैं।

जो पियाजे के प्रयोगों में [illegible]
की अवस्था में बौद्धिक धरातल [illegible]
मूर्त बौद्धिक प्रयोग के रूप में हो सकता है। [illegible]
चिंतन की ऐसी विशेषताएं प्रकाश में [illegible]
किसी परिवर्तन का अन्वेषण [illegible]
में दोहराना और पूर्वस्थिति पर [illegible]
का कृत्यक के समाधान की क्रिया [illegible]
से कहीं प्रबल सिद्ध होता है [illegible]
क्षीण और अस्थिर होती है।

किंतु इसके बावजूद कि बच्चे [illegible] में
उथला होता है और त्रुटियों [illegible] ज्ञान का
ज्ञान प्राप्त करने का एक प्रबल [illegible] है और बच्चे [illegible] वस्तुओं तथा
परिघटनाओं के बारे में [illegible] की संभावना
देता है। यह बात स्कूलपूर्व [illegible] हो जाती है।

स्कूलपूर्व आयु में चिंतन के [illegible] का विकास दोनों
और व्यावहारिक क्रिया के [illegible] परिवर्तन में जुड़ा होता
है। कनिष्ठ स्कूलपूर्व आयु के बच्चे के कथन व्यावहारिक कार्य के
निष्पादन की प्रक्रिया में क्रियाओं के अनुगामी होते हैं और मानो उनका
लेखा-जोखा पेश करते हैं। [illegible] में बोली क्रिया की पूर्वगामी
बन जाती है यानी आयोजन का प्रकार्य करती है। यह बच्चे को
कोई काम करते समय दृष्टि परिसर से बाहर तक [illegible] अर्थ-संबंधों को
भी जानने और प्रयोग करने की संभावना देता है। शनै शनै अर्थात
ज्यों-ज्यों बच्चा व्यावहारिक अनुभव अर्जित करता है त्यों-त्यों शब्दमूलक
आयोजन का स्थान [illegible] का पूर्णत शब्दमूलक चिंतन के
स्तर पर समाधान [illegible] लगता है। जब बच्चा कृत्यक को समझना
है जब वह अपनी [illegible] के भीतर स्थित तथ्यों के प्रेक्षण का सहारा
ले सकता है उसके विचार पूर्णत सुसंगत और तर्क की दृष्टि से
सही हो सकते हैं। इस तरह, मिसाल के लिए पानी के टब में डालो
पर विभिन्न वस्तुओं के व्यवहार को देखकर स्कूलपूर्व आयु के
बच्चे इस सर्वथा सत्य निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि लकड़ी की वस्तुएं तैरती
हैं और धातु की वस्तुएं डूब जाती हैं।

स्कूलपूर्व आयु वर्ग के बच्चों का बौद्धिक विकास

प्रत्यक्षण के परिष्कृत होने के साथ साथ बच्चे की चिंतन शक्ति भी विकास करती जाती है। यदि आरंभिक बाल्यकाल में चिंतन वस्तु मूलक (विशेषत उपकरणमूलक) क्रियाओं का सहगामी होता है तो स्कूलपूर्व आयु में वह व्यावहारिक क्रिया से पहले होने लग जाता है। ऐसा इसकी बदौलत होता है कि बच्चा किसी कार्य रीति को, जो कि गत अनुभव का फल है दूसरी, किंतु पहली से सर्वथा भिन्न स्थिति में लागू करना सीखता है।

स्कूलपूर्व आयु में बच्चा अपने सामने उत्पन्न समस्याओं को तीन रीतियों से हल कर सकता है ऐंद्रिक क्रियामूलक रीति, ऐंद्रिक बिंबमूलक रीति और संकल्पना पर आधारित तार्किक चिंतन की विधि। बच्चा जितना ही छोटा होगा उतना ही अधिक वह व्यावहारिक प्रयोगों का सहारा लेगा और जितना ही वह बड़ा होगा उतना ही अधिक वह ऐंद्रिक बिंबमूलक और फिर तार्किक रीतियों का इस्तेमाल करेगा।

स्कूलपूर्व आयु के बच्चे के चिंतन के विकास के मूल में बौद्धिक क्रियाओं का विकास निहित होता है जिसका आरंभबिंदु भौतिक वस्तुओं के साथ यथार्थ क्रियाएं है। ऐसी क्रिया से बच्चा यथार्थत कल्पित भौतिक वस्तुओं के साथ परिसीमित मानसिक क्रियाओं में और अतत पूर्णत मानसिक धरातल पर जहां यथार्थ वस्तुओं का स्थान धारणाएं अथवा संकल्पनाएं ले लेती हैं की जानेवाली क्रियाओं में संक्रमण करता है। इस प्रकार बाह्य क्रियाओं के आभ्यंतरीकरण के जरिये चिंतन के ऐंद्रिक बिंबमूलक और तर्क संकल्पनामूलक रूप जन्म लेते हैं।

चिंतन के विकास के उच्चतर स्तरों पर, यानी उसके तार्किक रूपों में बौद्धिक क्रियाएं आतरिक बोली के धरातल पर संपन्न होती है या अनेकानेक संकेत प्रणालियां प्रयोग की जाती हैं। किंतु स्कूलपूर्व आयु के बच्चे का चिंतन संकेतों पर उतना आधारित नहीं होता, जितना कि बिंबों पर जो कुछ मामलों में मूर्त वस्तुओं को प्रतिबिंबित करते हैं तो कुछ मामलों में न्यूनाधिक सामान्यीकृत और प्रतीकात्मक होते हैं। ऐसी स्थिति में बच्चा समस्या के समाधान को वस्तुओं अथवा उनके प्रतिस्थापकों के साथ कई पूरी क्रियाओं के रूप में कल्पित करता है।

किंतु इसके [illegible] बच्चों का [illegible]
उथला होना [illegible] है [illegible]
ज्ञान प्राप्त करने का [illegible] है [illegible]
परिघटनाओं के [illegible]
ता है। यह बात [illegible] की प्रक्रिया [illegible]

स्कूलपूर्व आयु में चिंतन के [illegible]
और व्यावहारिक क्रिया के [illegible] संबंधों के [illegible]
है। कनिष्ठ [illegible] आयु के बच्चे के [illegible]
निष्पादन की प्रक्रिया में क्रियाओं के [illegible] होते हैं और [illegible]
लेखा-जोखा [illegible] करते हैं। [illegible] पूर्वगामी
बन जाती है, मानो आयोजन का प्रकार्य करती है। यह बच्चों को
कोई कार्य करते समय दृष्टि परिसर से बाहर तक कैसे पथ संबंधों को
भी जानने और प्रमाण करने की संभावना देता है। [illegible]
ज्यों-ज्यों बच्चा व्यावहारिक अनुभव अर्जित करता है त्यों-त्यों दृश्यात्मक
आयोजन का स्थान ठोस वस्तुओं का [illegible] चिंतन के
स्तर पर समाधान लेने लगता है। जब बच्चा [illegible] को समझता
है जब वह अपनी पहुंच के भीतर स्थित तथ्यों के प्रेक्षण का सहारा
ले सकता है उसके विचार पूर्णत सुसंगत और तर्क की दृष्टि से
सही हो सकते हैं। इस तरह मिसाल के लिए पानी के टब में डाली
पर विभिन्न वस्तुओं के व्यवहार को देखकर स्कूलपूर्व आयु के
बच्चे इस सर्वथा सत्य निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि लकड़ी की वस्तुएं तैरती
हैं और धातु की वस्तुएं डूब जाती हैं।

स्कूलपूर्व आयु में बच्चों द्वारा शब्दमूलक चिंतन के उपयोग का यह अर्थ कदापि नहीं कि बच्चा अमूर्त संकल्पनाओं की मदद से सोचता है। ल० स० विगोत्स्की ने दिखाया था कि बच्चा शब्दों का जो अर्थ लेता है वे वयस्कों द्वारा लिये जानेवाले अर्थों से बिल्कुल भिन्न भी हो सकते हैं। यह अंतर शब्दों के पीछे छिपे सामान्यीकरणों के रूप तथा अंतर्वस्तु दोनों के मामले में हो सकता है। रूप की दृष्टि से ये सामान्यीकरण अधिकांशत: क्रियात्मक होते हैं और उनकी अंतर्वस्तु केवल शनै: शनै: ही वयस्क संकल्पनाओं के समनुरूप बनती है जो वस्तुओं के सामान्य और विशिष्ट लक्षणों से संबंधित प्रत्यय होती हैं। स्कूलपूर्व आयु का बच्चा समुच्चयों और पूर्वधारणाओं से सोचता है, जिनमें वस्तुएं एक दूसरी से हमेशा ही अपनी विशिष्ट और सामान्य विशेषताओं से नहीं जुड़ी होती हैं। एक छहवर्षीया लड़की से कई सारे चित्रों में से वे चित्र चुनने को कहा गया, जिनपर जानवर बने हुए थे। 'घोड़ा जानवर है।' 'क्यों?' 'इसलिए कि वह घास खाता है, सवारी के काम आता है।' 'भालू जानवर है।' 'क्यों?' 'वह जंगल में रहता है।' 'हाथी जानवर है, क्योंकि वह अफ्रीका में रहता है।' 'लोमड़ी भी जानवर है, क्योंकि वह खरगोश का शिकार करती है।' छहवर्षीय बच्चे का शब्दमूलक चिंतन कुछ इसी प्रकार का होता है।

किंतु बोली बच्चों के सामान्यीकरणों के लिए मात्र पासंग नहीं होती। शब्द सामाजिक अनुभव का एक अंग है। वह बच्चे की चिंतन सक्रियता को एक खास ढंग से निदेशित करता है, उसके सामान्यीकरण बनाता है और शनै: शनै: उच्चतर संकल्पनात्मक रूपों को आत्मसात् करने में सहायता देता है।

स्कूलपूर्व आयु के बच्चों के चिंतन का विकास विभिन्न सक्रियताओं के दौरान होता है। इस संबंध में खेल विशेष महत्त्व रखते हैं। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, खेल में ही पहली बार प्रतीक प्रयोग यानी कुछ वस्तुओं के स्थान पर दूसरी वस्तुओं का प्रयोग होने लगता है। खेल में किये जानेवाले प्रतिस्थापन सीखकर ही बच्चा अन्य प्रकार के प्रतिस्थापन (यथार्थ वस्तुओं का अनेक भौतिक अथवा कल्पित चित्रों, माडलों और अंतत: संकेतों द्वारा प्रतिस्थापन) सीखता है।

उत्पादक सक्रियताओ मे क्रियाओं का शब्दमूलक आयोजन पैदा होता है और सोद्देश्य चिंतन की नीव पडती है।

चिंतन के विकास मे निर्णायक भूमिका **शिक्षण** की होती है। पिछले वर्षों मे किये गये अध्ययनो से पता चला है कि स्कूलपूर्व आयु के बच्चो के चिंतन की जिन बहुत सी विशेषताओ को पहले आयु का अभिन्न लक्षण माना जाता था, वे वस्तुत बच्चो के जीवन तथा सक्रियता की विशिष्ट परिस्थितियों की उपज होती है और स्कूलपूर्व शिक्षण की अतवस्तु तथा विधिया बदलकर उन्हे भी बदला जा सकता है। मिसाल के लिए, जब बच्चो को अलग-अलग वस्तुओ तथा उनके गुणो मे नही, वरन यथार्थ जगत की परिघटनाओ के सामान्य सबधो तथा नियमो से परिचित कराया जाता है तो बाल चिंतन की मूर्तता और किसी निश्चित वस्तु अथवा घटना मे बद्धता लुप्त हो जाती है और उनका स्थान चिंतन के सामान्यीकृत रूप ले लेते है। पाच-छह वर्ष के बच्चे *पिडो के कतिपय भौतिक गुणो तथा अवस्थाओ पशुओ की शरीर-रचना की उनके अस्तित्व की परिस्थितियो पर निर्भरता समग्र और अश के सहसबध, एकत्व और बहुलत्व आदि मे* सबधित जानकारियो को सहजतापूर्वक आत्मसात् कर लेते है और अपनी चिंतन सक्रियता मे प्रयोग करने लगते हैं। शिक्षण के समुचित रूप अपनाये जाने पर यानी बौद्धिक क्रियाओ को क्रमश विकसित किये जाने पर स्कूलपूर्व बच्चो को सकल्पनाओ तथा तार्किक चिंतन की रीतियो को हृदयगम करने मे कोई कठिनाई नही होती।

किंतु स्कूलपूर्व अवस्था म सकल्पनाए और तार्किक सक्रियाए बच्चो की पहुच के भीतर होने का यह अर्थ नही कि इसे उनकी बौद्धिक शिक्षा का मूलभूत लक्ष्य होना चाहिए। ऐसी शिक्षा का मुख्य लक्ष्य चिंतन के ऐंद्रिक बिंबमूलक रूपो का सर्वतोमुखी विकास है जिनके लिए स्कूलपूर्व आयु सबसे अधिक सुग्राही होती है और जिनका बच्चे के भावी जीवन के लिए बहुत बडा महत्त्व है, क्योंकि वे हर प्रकार की सृजनमूलक सक्रियता के अभिन्न अग होते हैं।

स्कूलपूर्व आयु वर्ग के बच्चो की चिंतन शक्ति का विकास चिंतन रीतियों के परिष्करण और नये प्रकार की बौद्धिक क्रियाओ को सीखने तक ही सीमित नही रहता। बच्चो द्वारा हल किये जानेवाले बौद्धिक

कृत्यको के दायरे का बदलना तथा बढना और चिंतन की अंतर्वस्तु का समृद्धतर होना भी उतने ही महत्त्वपूर्ण है। स्कूलपूर्व आयु में पहली बार बच्चे का न केवल व्यावहारिक बल्कि विशेष ज्ञानवर्द्धक कृत्यों से भी साक्षात्कार होता है। शनै शनै ऐसे कृत्यों का अनुपात बढता जाता है। सज्ञानमूलक सक्रियता के दायरे में ही बौद्धिक क्रियाओं के उच्चतर रूप पनपते है।

स्कूलपूर्व आयु के बच्चे के अन्वीक्षण दिखाते है कि उसकी कल्पना बहुत समृद्ध होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि बच्चा मानो एक साथ दो दुनियाओं में रह रहा है – एक यथार्थ दुनिया और दूसरी उसकी अपनी कल्पना की दुनिया जो उसके खेलो चित्रों, उसकी गढी हुई कहानियों आदि में प्रतिबिंबित होती है। इस प्रथम प्रतीति का परिणाम यह निकला कि कुछ अनुसधानकर्त्ता कल्पना को स्कूलपूर्व आयु के बच्चे की सभी सक्रियताओं का स्रोत मान बैठे। किंतु अधिक गहरे अनुसधानों ने दिखाया है कि कल्पना का विकास बच्चे की विभिन्न सक्रियताओं में दक्षता का कारण नही परिणाम होता है। कल्पना के आरंभिक रूप न केवल बहुत क्षुद्र होते है बल्कि उनका जन्म भी स्वय सक्रियता के दौरान होता है। शनै शनै और सारी स्कूलपूर्व आयु के दौर में ही कल्पना अपेक्षया स्वतंत्र बन पाती है। बच्चे की कल्पना के बिंब उज्ज्वल, सुस्पष्ट और सवेगो से भरपूर तो होते है किंतु पर्याप्त नियंत्रणीय नहीं होते। कल्पना के विकास की मुख्य दिशा उसे शनै शनै सचेतन अभिप्रायो के अधीन और निश्चित विचारो के साकारीकरण का साधन बनाना है।

स्कूलपूर्व बाल्यकाल वह अवस्था है जिसमें अनभिप्रेत **ध्यान और स्मृति** की प्रधानता होती है। बच्चा उस चीज पर ध्यान देता है, जो उसे रुचिकर लगती है और सवेग जगाती है। वह उस चीज को याद रखता है जो उसका ध्यान आकृष्ट करती है और स्वत याद हो जाती है। शब्दमूलक विचारों के बजाय बिंबो को याद रखना कहीं आसान होता है। यहा तक कि कोई टेक्स्ट याद करते हुए भी अंतर्वस्तु के बजाय लय और तुक प्राय अधिक महत्त्व रखते है। किंतु इसका यह अर्थ नही कि स्कूलपूर्व आयु के बच्चे जान बूझकर ध्यान देने और इरादतन याद रखने में बिल्कुल असमर्थ होते है। इस आयु के अंत तक

उनमे अधिकाधिक देर तक अपने ध्यान का स्वेच्छा से नियामन करने की क्षमता पैदा हो जाती है और शब्द तथा अर्थमूलक स्मृति विकास करने लगती है, जो सातवे वर्ष के अत तक लगभग बिंबमूलक स्मृति जैसी ही बन जाती है। यह बच्चे की सक्रियता के सामान्य जटिलीकरण से, विशेषत जब उसे कक्षाओ मे नियमित शिक्षण दिया जाने लगता है, जुड़ा होता है। स्मृति के विकास मे मोडबिंदु तब आता है, जब विशेष स्मृति सस्कारक क्रियाए उत्पन्न होती है जिनमे बच्चा अपने सामने याद रखने का लक्ष्य रखता है और तदनुरूप रीतिया (उदाहरणार्थ, कई-कई बार दोहराना) इस्तेमाल करने लगता है।

सभी सज्ञानमूलक क्रियाओ का परिष्कार बच्चे की बोली के विकास पर निर्भर होता है। शब्द बच्चो द्वारा हृदयगमित सवेदी मानको को दर्ज कर देता है धारणाओ और सकल्पनाओ का वाहक होने के कारण चिंतन की प्रक्रिया मे शामिल हो जाता है और तार्किक ढग से सोचने की सभावना सुनिश्चित करता है। बोली कल्पना के कार्य को निदेशित करती है, ध्यान और स्मृति मे सकल्प के तत्त्व का समावेश करके उनके सामने निश्चित लक्ष्य रखती है और स्मरण को समझ पर आधारित बनाती है। बोली के जरिये बच्चे को मानवजाति द्वारा अर्जित अनुभव विशेषत स्वय मानसिक सक्रियता का अनुभव, अतरित किया जाता है।

स्कूलपूर्व आयु के अत तक बच्चा अपनी मातृभाषा को व्यावहारिक रूप मे काफी अच्छी तरह जान जाता है। किंतु उसकी बोली स्थिति सापेक्ष होती है – वह दत्त ठोस स्थिति के बाहर अबोधगम्य रहती है। वह अभी बच्चे की अपनी क्रियाओ का बहुत कम नियमन करती है। बच्चा अभी बोली की परिघटनाओ को यथार्थ जगत की परिघटनाओ के एक विशेष रूप की भाति नही लेता और शब्दो को उनके द्वारा अभिप्रेत वस्तुओ से अलग नही कर पाता। स्कूलपूर्व आयु के अत तक उसका शब्दभडार बढ जाता है और उसकी बोली की व्याकरणिक सरचना मे और सुधार आता है। बोली स्थितिसापेक्ष न रहकर सदर्भ सापेक्ष, स्थिति के बाहर भी अवगम्य बन जाती है। व्यवहार और सभी प्रकार की मानसिक क्रियाओ के निष्पादन मे बोली की नियामक भूमिका बहुत बढ जाती है। आभ्यतरिक बोली का निर्माण होता है, जो बोलीमूलक चिंतन की बुनियाद बन जाती है। समुचित शिक्षण

दिय जान पर उन्च बोनी की नन्ररना और नच्च की ध्वनिरचना या महत्व समभन और बोनी की परिघटनाओं को यथार्थ जगत या परिघटनाआ के एक विशेष रूप की भाति लेना शुरू कर दत है।

यद्यपि बोनी म दक्षता पाय बिना सामान्य मानसिक विकास असभव बन जाता है इसस यह अर्थ नही लगाया जाना चाहिए कि बोली ही मानसिक परिघटनाआ की रचना व विकास करती है। व बोली की सहभागिता मे, विभिन्न सक्रियताआ की प्रक्रिया म और पालन तथा शिक्षण क निर्णायक प्रभाव म पैदा और विकसित होती है।

सवेगो, इच्छा-शक्ति और व्यष्टिक विशेषताओ का निर्माण

सोवियत बाल मनोविज्ञान की मान्यता है कि बच्चे के व्यक्तित्व का निर्माण यथार्थत स्कूलपूर्व आयु म ही आरभ हो जाता है। बाल व्यक्तित्व का निर्माण सवगो तथा इच्छा-शक्ति के निर्माण, रुचियो तथा व्यवहार-अभिप्ररको क निर्माण स घनिष्ठ रूप से जुडा होता है। स्वय परवर्तियो का निर्माण सामाजिक परिवेश पर, मुख्यतया वयस्को क साथ बच्चे के उन सबधो के व्यावहारिक रूप धारण करन पर निर्भर होता है जो बच्च के विकास क दत्त चरण क लिए लाक्षणिक हैं।

आरभिक बाल्यकाल मे बच्चे को वयस्क की भूमिका की, उसक प्रभाव की और स्वय अपन आप की भी समझ नही होती। निश्चित स्थिति म बच्चा वयस्क क साथ निश्चित सयुक्त सक्रियता दिखाता है। इस स्थिति की केद्रीय कडी वयस्क होता है और बच्चा स्वय काम करते हुए वयस्क द्वारा उसस की जानेवाली अपक्षा को पूरा करता है अथवा नही करता है। यहा न आज्ञापालन की समस्या होती है, न 'करू या न करू' की उलझन और न अभिप्रेरको का आपस म टकराव ही। बच्चा अत प्ररणा क वशीभूत होकर काम करता है।

किंतु स्कूलपूर्व आयु के आरभ मे ही बच्चो तथा वयस्क क बीच सर्वथा नये सबध पैदा हो जाते है। बच्चा अपन को वयस्क से पृथक् करना शुरू कर देता है। 'मैं चाहता हू' – उसमे अपनी इच्छा की चेतना आ जाती है। 'यह मैं हू' – वह अपना फोटो दिखाते हुए कहता है। वयस्क से पृथक् होते हुए अपन को एक अलग व्यष्टि दिखाते हुए बच्चा

अपनी सक्रियता और वयस्क की सक्रियता मे भेद करने लग जाता है। वह मानो वयस्क से अलग हटता है पाता है कि वयस्क अनुकरण के लिए एक प्रतिमान है और फिर "बडे जैसा" ही काम करने की चेष्टा करता है। अपने व्यवहार को वयस्क के प्रतिमान के अनुरूप ढालने की चेष्टा क्रियाओ की ऐच्छिकता का निर्माण करती है क्योकि यहा कम से कम दो आकाक्षाओ मे निरतर टकराव होता है जैसे भी बन पडे काम करना और प्रतिमान के अनुसार वयस्क की अपेक्षाओ के अनुसार काम करना। व्यवहार के प्रतिमान आत्मसात् करने से क्रियाए सामाजिक मापदडो के अनुरूप बनती जाती है। स्कूलपूर्व अवस्था मे पहली नैतिक धारणाए उत्पन्न होती है और व्यवहार का नया प्ररूप जिसे व्यष्टिक व्यवहार कहते है, प्रकट होता है।

सोवियत मनोविज्ञान व्यक्तित्व के निर्माण को स्कूलपूर्व आयु मे प्रकट और विकसित हो रही अभिप्रेरको की सहनिर्भरता से जोडता है। इस आयु-वर्ग के बच्चे की सक्रियता का कारण कोई अलग-थलग एक दूसरे से असबद्ध अभिप्रेरक नही होते, जो एक दूसरे की जगह पर आते है एक दूसरे को प्रबलित करते है या आपस मे टकराते है बल्कि उनका सोपानक्रम होता है जिसमे बुनियादी और स्थायी अभिप्रेरक शनै शनै सबसे महत्त्वपूर्ण बन जाते है और गौण तथा स्थितिमूलक अभिप्रेरको को अपने अधीन बना लेते है। अभिप्रेरको की सहनिर्भरता अति भावपरक नकारात्मक रवैये पर सचेतन ढग से काबू पाने से और किसी सवेगात्मक दृष्टि से आकर्षक लक्ष्य के हेतु की जानेवाली इच्छामूलक चेष्टा से जुडी होती है। बच्चा बहुत कम उम्र मे ही आतरिक उथल-पुथल महसूस करने लग जाता है। ऐसा तब होता है जब वह किसी एक इच्छा को वरीयता नही दे पाता। आतरिक द्वद्व पैदा होने पर कनिष्ठ स्कूलपूर्व आयु के बच्चे की द्विविधा का अत प्राय अधिक स्थितिसापेक्ष इच्छा की विजय मे होता है जो समीपवर्ती सहज उपलभ्य लक्ष्य की ओर धकेलती है। बच्चे जितने ही बडे होते है, उतनी ही सहजता से वे आवश्यक क्रिया को – आकर्षक किन्तु क्रिया से विमुखकारी लक्ष्य के बावजूद – सपन्न करने मे सफल हो जाते है। अति भावपरक क्रियाओ की सख्या कम होती जाती है और सामाजिक अतर्वस्तु से युक्त अभिप्रेरक अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण बनते जाते है।

सारी स्कूलपूर्व आयु के दौरान नये-नये अभिप्रेरक प्रकट होते रहते हैं। सक्रियता में सफलता अथवा असफलता, स्वयं सक्रियता की अंतर्वस्तु आदि भी अभिप्रेरक की हैसियत से काम कर सकते हैं। जायमान अभिप्रेरक तरह-तरह के संबंधों से आपस में जुड़ होते हैं। पालन की ठोस परिस्थितियों को देखते हुए मुख्य अभिप्रेरक महत्वाकांक्षा, सामाजिक महत्त्व अथवा सक्रियता की अंतर्वस्तु में दिलचस्पी आदि कुछ भी हो सकता है। बच्चे जितने ही बड़े होते, उतना ही अधिक वे इससे निर्दिष्ट होने लगते कि आसपास के लोगों की नजरों में उनकी किसी निश्चित हरकत का क्या महत्त्व होगा।

मानव संबंधों की प्रणाली में स्कूलपूर्व आयु के बच्चे का नया स्थान उसे अधिक स्वतंत्रता देता है। वयस्क से पृथक् होकर बच्चा अपने समवयस्कों के साथ सक्रिय संबंध कायम करता है। ये परस्पर संबंध खेल में साकार बनते हैं। उस में बच्चा कोई भूमिका स्वीकार करता है और इस तरह कुछ निश्चित क्रियाएं पूरी करने और व्यवहार के कुछ खास नियमों को मानने के लिए कर्त्तव्यबद्ध हो जाता है। ये क्रियाएं खुद में उसके लिए अनाकर्षक हो सकती है और किसी स्थिति में तो वह उन्हें बड़ी मुश्किल से या बिल्कुल भी नहीं पूरा कर सकता है। बच्चे की इच्छाशक्ति के निर्माण में खेल का महत्त्व इस बात में निहित है कि खेल में वह अपनी भूमिका द्वारा विहित सामाजिक व नैतिक दायित्वों के अनुरूप कार्य करना सीखता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई पांचवर्षीया लड़की दूकानदारिन की भूमिका अदा करती है तो वह जो बिस्कुट बेच रही है उन्हें वह खुद नहीं खाती। स्कूली छात्रों की नकल करते हुए बच्चे देर तक और लगनपूर्वक एक ही तरह के अक्षर लिखते रह सकते है। क्रीडामूलक सक्रियता बच्चे की इच्छाशक्ति को सार्थक बनाती है। क्रीडामूलक अभिप्रेरणा होने पर कृत्यक अधिक कारगर ढंग से पूरे किये जाते है। क्रीडामूलक स्थिति में बच्चे के लिए अपने व्यवहार का नियंत्रण करना आसान होता है। उदाहरणार्थ वह देर तक संतरी की मुद्रा में खड़ा रह सकता है क्योंकि इस मुद्रा को बनाये रखना ही उसकी भूमिका की अंतर्वस्तु है।

इच्छाशक्ति और उससे संबंधित गुणों के विकास पर उत्पादक सक्रियताओं का बड़ा प्रभाव पड़ता है। चित्रकारी निर्माण एप्लीक

का काम, आदि ऐसी सभी सक्रियताओं के भीतर उत्पादनमूलक उद्देश्य पैदा होते हैं – उत्पाद बनाना। बच्चा चौकोर टुकडे लेता है और अपने सामने मीनार बनाने का निर्माणमूलक उद्देश्य रखता है। पेंसिल और कागज लेते हुए वह चित्रांकन का उद्देश्य रखता है – किसी लडके का चित्र बनाना। बच्चा अपने सामने जो उत्पादनमूलक उद्देश्य रखता है, वे आरंभ में बडे अस्थिर होते हैं। बहुत संभव है कि मीनार बनाना शुरू करके वह एकाएक कह बैठे कि नहीं, जहाज बनाऊंगा। लडके का चित्र बनाना शुरू करके बच्चा एकाएक यह कहते हुए कागज पेंसिल पर फेंक सकता है कि मैं खेलने जा रहा हूं। केवल सामूहिक सक्रियता में ही, अथवा जब प्रतियोगिता हो रही हो (देखें मीनार बनाना कौन जानता है', 'कौन लडके का बेहतर चित्र बनाता है?') तभी उत्पादनमूलक उद्देश्य अधिक देर तक बने रहते हैं और सक्रियता के परिणाम को निर्धारित करते हैं।

बच्चे द्वारा श्रम कृत्यकों की पूर्ति इच्छाशक्ति के विकास के लिए बडा महत्त्व रखती है। ऐसी हालत में बच्चे का व्यवहार नैतिक अभिप्रेरकों पर निर्भर होता है। विभिन्न अभिप्रेरक सक्रियता को विभिन्न प्रकार से गठित करते हैं। उदाहरणार्थ जब बच्चों से अपने मनोरंजन के लिए अथवा नन्हे बच्चों को उपहार में देने के लिए झंडियां बनाने को कहा गया, तो पाया गया कि दूसरे मामले में बच्चे काम में ज्यादा समय लगाते हैं, ज्यादातर बच्चे काम को परिणति पर पहुंचाने की कोशिश करते हैं और फिर काम की गुणवत्ता भी कहीं बेहतर होती है। इस प्रकार श्रम के सामाजिक अभिप्रेरक अपने सरलतम रूप – दूसरे आदमी के लिए कुछ करना – में बहुत पहले ही पनपने लग जाते हैं। बच्चा जो कुछ कर रहा है, उसकी आवश्यकता और सामाजिक लाभ के प्रति जितना अधिक सचेत होगा उसका काम उतना ही सोद्देश्य बनेगा। मिसाल के लिए बच्चा सहज ही कल्पना कर सकता है कि झंडी हाथ में लिये कोई नन्हा बच्चा कैसे चलेगा। किंतु यदि कृत्यक को बदल दिया जाये और बच्चों से कहा जाय कि *अपनी माओं के लिए झंडियां बनायें, श्रम सक्रियता की उत्पादिता* काफी घट जायेगी। बच्चा नहीं जानता कि झंडी लिये हुए मां कैसे चलेगी और इसलिए झंडी बनाने का काम उसके लिए दिलचस्प नहीं रहेगा।

इस प्रकार स्पष्ट श्रम अभिप्रेरक स्कूलपूर्व आयु के बच्चे की इच्छा शक्ति के विकास की एक शर्त है।

स्कूलपूर्व आयु मे बच्चा न केवल उत्पादनमूलक उद्देश्यो (जैसे मीनार बनाना) और सामाजिक दृष्टि से लाभदायक श्रम के अभिप्रेरको (जैसे नन्हे बच्चे के लिए झडी बनाना) से निदेशित होता है, अपितु सीखे हुए नैतिक मानदडो से भी निदेशित होने लगता है। वह अपने व्यवहार को अच्छे या बुरे की अपनी धारणाओ के अनुरूप ढालने की कोशिश करता है। अभिप्रेरक सोपान ज्यो ज्यो विकसित होगा बच्चा अभिप्ररको के टकराव को अनुभव करने, निर्णय लेने और फिर अधिकतर उच्च अभिप्ररक की खातिर उस निर्णय को त्यागने लगेगा। अभिप्रेरक सोपानक्रम मे कौन से अभिप्रेरक प्रमुख स्थान प्राप्त करते हैं यह बच्चे के व्यक्तित्व की विशेषताओ को स्पष्टत द्योतित कर देता है।

आरभिक बाल्यकाल म बच्चे कुछ काम वयस्को के कहने पर करते है। अपनी मरजी से वे अपनी इच्छाए विरले ही दबाते हैं। वे वही काम करते है जो उन्हे रुचिकर लगता है और जिसम विशेष मेहनत नहीं करनी पडती। किन्तु वस्तुपरक रूप से अच्छे काम करते हुए (मिसाल के लिए मा के लिए चप्पल ले आना बूढी दादी को पानी देना आदि) बच्चे को न इसका अहसास होता कि वह कोई अच्छा काम कर रहा है न अन्य लोगो के प्रति अपने कर्त्तव्य का ही उसे कोई भान होता है। बच्चे के काम का वयस्क जो मूल्याकन करते है उसके प्रभाव स ही कर्तव्यबोध की भावना बच्चे मे जागती है। इस मूल्याकन के आधार पर बच्चा अच्छे और बुरे मे भेद को पहचानना शुरू करता है। सबसे पहले वे दूसरे बच्चो के कार्यो का मूल्याकन करने लगते है। बाद म व इस स्थिति म आ जाते है कि अपने समवयस्को ही नहीं, स्वय के कार्यो को भी आक सके। इस तरह आत्ममूल्याकन विकसित होता है।

आत्मूल्याकन की योग्यता आसपास के लोगो के साथ सपर्क तथा सप्रेषण म बच्चे का दिग्दर्शन करती है। उदाहरण के लिए, बच्चा भली भाति महसूस कर सकता है कि हठ करना, किसी भी कीमत पर अपनी बात मनवाकर रहना अनुचित तथा गलत है। सामान्यतया बच्चा हट उसी व्यक्ति के सामने करता है जिससे उसे अपनी वाछि

वस्तु पाने की आशा होती है (इसीलिए वयस्क के रोकने पर बच्चा उत्तर दे सकता है "मैं तुमसे नहीं दादी से माग रहा हू। तुम हट जाओ!")

आत्ममूल्यांकन बच्चे की सचेतन सक्रियता के विकास का एक सबसे जटिल उत्पाद है। बच्चे अपनी बाह्य क्रियाओं ही नहीं, मनःस्थिति और भावनाओं के सिलसिले में भी वयस्कों से सप्रेषण का प्रयास करते हैं। उन्हें अपनी भावनाओं और अनुभूतियों की समझ दूसरे से कहकर और अपने लिए उनका महत्त्व जानकर पैदा होती है। बच्चा अब न केवल हर्षित अथवा लज्जित होता है और बुरा मानता है बल्कि अपनी इन मनःस्थितियों को शब्दों में व्यक्त भी करता है "मैं खुश हू", 'मैं लज्जित हू,' "मुझे बुरा लगा है"। वह जान जाता है कि वह क्या अनुभव कर रहा है।

आत्ममूल्यांकन और आत्मचेतना का विकास स्कूलपूर्व आयु की एक मुख्य नवनिर्मिति है। आत्मचेतना में बच्चे की समझ कि सामाजिक संबंधों की प्रणाली में उसका क्या स्थान है, व्यावहारिक क्रियाओं के क्षेत्र में अपनी क्षमताओं का उसका मूल्यांकन और स्वयं अपने मनोजगत में रुचि का जागरण प्रतिबिंबित होते हैं। आत्मचेतना व्यष्टि को एक अनूठे व्यष्टित्व में बदल देती है।

स्कूली शिक्षा के लिए मानसिक तैयारी

स्कूल में प्रवेश के साथ बच्चे के जीवन में एक सर्वथा नया चरण आरंभ हो जाता है। अब तक उसे इस नये दौर के लिए पर्याप्त तैयार कर दिया जाना चाहिए। सबसे पहले तो उसे गंभीर सक्रियता के निष्पादन में समर्थ होना चाहिए जो उसे न केवल नये अधिकार देती है अपितु कठिन दायित्व भी सौंपती है। नन्हा छात्र आशा कर सकता है कि दूसरे लोग उसकी पढ़ाई को सम्मान की नजरों से देखेंगे, किंतु दूसरी ओर स्वयं उसे भी अध्यापक द्वारा दिये हुए कृत्यकों को नियमित रूप से पूरा करना और स्कूल के नियमों के अनुसार आचरण करना होगा चाहे दत्त क्षण में वह ऐसा करना चाहता है या नहीं।

स्कूली आयु तक पहुंचते पहुंचते अधिकांश बच्चे स्कूली छात्र का

दर्जा प्राप्त करने क लिए आतुर हो जाते है, किंतु इसकी पर्याप्त स्पष्ट समझ हर किसी को नही होती कि यह दर्जा वास्तव म है क्या। कभी कभी उन्हे मात्र वाह्य पहलू आकर्षित करता है, जैसे अपना बस्ता होना बडा समझा जाना, अंक पाना, आदि। स्कूली छात्र के रूप के लिए वस्तुत तैयार वही बच्चा होता है, जिसे स्कूल की बाहरी ताम झाम नही अपितु नयी बात जानने की सभावना आकृष्ट करती है यानी एसा बच्चा, जिसकी ज्ञानार्जन रुचि पर्याप्त विकसित होता है। केवल तभी बच्चे अपने स्कूली कर्तव्यो को पर्याप्त उत्तरदायित्व की भावना के साथ वहन करने मे समर्थ हो सकते है। किंतु छात्र बनने की आकाक्षा और पढाई के प्रति गभीर रवैया अपने आप म काफी नही है। बच्चे को स्थितिसापेक्ष अभिप्रेरको को इस आकाक्षा, इस रवैये के अधीन बनाना कक्षा मे ध्यान एकाग्र रखना, नियमो को, जो कभी कभी नीरस भी हो सकते है सीखना और कठिन प्रश्नो का हल मनोयोगपूर्वक खोजना भी आना चाहिए। दूसरे शब्दो मे, भावी छात्र के लिए आवश्यक है कि वह अपने व्यवहार विशेषत सज्ञानमूलक सक्रियता का स्वेच्छा से नियमन कर और इस सक्रियता को शिक्षा लक्ष्यो की सिद्धि मे सहायक बनाये। यह तभी सभव होता है, जब बच्चे के मन म अभिप्रेरको का सोपानक्रम बन चुका हो, जो महत्त्वहीन अभिप्रेरको को अधिक महत्त्वशील, अधिक स्थायी उद्देश्यो तथा इरादो के अधीन बनाने की सभावना देती है।

आधुनिक स्कूली शिक्षा शून्य से शुरू नही होती। उसमे यह मानकर चला जाता है कि बच्चा जब पहली कक्षा मे भरती होता है तो वह काफी कुछ जानता है और, जो खास बात है उसके प्रत्यक्षबोध और चिंतन शक्ति इतने विकसित है कि वह अध्ययनगत वस्तुओ तथा परिघटनाओ का क्रमबद्ध प्रेक्षण तथा उनकी महत्त्वपूर्ण विशेषताओ की पहचान कर सकता है सोच विचार सकता है और निष्कर्ष निकाल सकता है। यह सब बच्चे के बौद्धिक विकास के स्तर से कुछ निश्चित अपेक्षाए करता है बच्चे म क्रमबद्ध तथा विभेदित प्रत्यक्षण शक्ति होनी चाहिए उसे अध्ययनगत वस्तु के प्रति सैद्धातिक उपागम, चिंतन के सामान्यीकृत रूपो तथा मुख्य तार्किक सक्रियाओ से परिचित होना चाहिए और उसकी स्मरण शक्ति समझ पर आधारित होनी चाहिए।

इसके अतिरिक्त उसे शिक्षा सक्रियता से संबंधित बुनियादी बातों का ज्ञान होना चाहिए (जैसे ध्यान परिणाम पर नहीं अपितु शिक्षण कृत्यकों के निष्पादन की रीति पर देना आत्मनियंत्रण आदि)।

स्कूल में बच्चा तुरंत ही अपने समवयस्कों के समूह में पहुंच जाता है, जिनका एक साझा गंभीर लक्ष्य होता है। इस दृष्टि से स्कूल का समूह किंडरगार्टन के समूह से काफी भिन्न है। स्कूली बच्चों के परस्पर संबंध किंडरगार्टन से भिन्न आधार पर बनते और विकसित होते हैं और कक्षा में भी बच्चे की स्थिति भिन्न मानदंडों से विशेषतः शिक्षा में उसकी सफलताओं से निर्धारित होती है। ऐसी परिस्थितियों में बच्चा समूह का अंग बन सके, इसके लिए उसे अन्य बच्चों के साथ परस्पर संबंध बनाने के काफी लचीले तरीके आने चाहिए और उसमें साथीपन की भावना भी काफी विकसित होनी चाहिए।

सहज ही देखा जा सकता है कि स्कूली शिक्षा के लिए मानसिक तैयारी, चाहे हम उसका कोई भी पहलू क्यों न लें बच्चे के संपूर्ण पूर्ववर्ती मानसिक विकास और परिवार तथा किंडरगार्टन में पालन व शिक्षण की संपूर्ण प्रणाली का परिणाम होती है। सफल शिक्षण के लिए आवश्यक गुण एकाएक पैदा नहीं होते। वे शनैः शनैः ही बनते हैं और यह प्रक्रिया जन्म के क्षण से ही आरंभ हो जाती है। इन गुणों के निर्माण के लिए सक्रियता के ऐसे रूपों के महत्त्व का उल्लेख अवश्य किया जाना चाहिए, जैसे खेल चित्रकारी डिजायनिंग आदि। असल में सक्रियता के इन रूपों में ही व्यवहार के सामाजिक अभिप्रेरक पहली बार पैदा होते हैं अभिप्रेरक सोपान बनता है प्रत्यक्षण और चिंतन की क्रियाएं विकसित व परिष्कृत होती हैं और बच्चों के परस्पर संबंध बढ़ते हैं। बेशक यह सब स्वतः नहीं अपितु बच्चों की सक्रियता का वयस्कों द्वारा सतत निदेशन किये जाते हुए होता है जो उदीयमान पीढ़ी को सामाजिक व्यवहार का अनुभव अंतरित करते हैं आवश्यक ज्ञान देते हैं और बहुत सी अन्य बातें सिखाते हैं। कतिपय गुण स्कूलपूर्व शिक्षण की प्रक्रिया में ही विकसित हो सकते हैं, जैसे शिक्षा सक्रियता में संबंधित बुनियादी बातों का ज्ञान और ज्ञानवर्द्धक क्रियाओं में उत्पादिता का पर्याप्त ऊंचा स्तर।

स्कूली शिक्षा के लिए मानसिक तैयारी में किंडरगार्टनों के ज्येष्ठ

दजा प्राप्त करन व निए आतुर हो जाते है, वितु इसकी पर्याप्त समझ हर किसी को नही होती कि यह दर्जा वास्तव म है क्या। कभी उन्हे मात्र बाह्य पहलू आकर्षित करता है, जैसे अपना होना बडा समझा जाना, अक पाना, आदि। स्कूली छात्र के लिए वस्तुत तैयार वही बच्चा होता है, जिसे स्कूल की ब ताम झाम नही, अपितु नयी बात जानने की सभावना आकृष्ट क है यानी एसा बच्चा जिसकी ज्ञानार्जन रुचि पर्याप्त विकसित है। केवल तभी बच्चे अपने स्कूली कर्तव्यो को पर्याप्त उत्तरदा की भावना के साथ वहन करने मे समर्थ हो सकते है। किंतु छात्र की आकाक्षा और पढाई के प्रति गभीर रवैया अपने आप म क नही है। बच्चे को स्थितिसापेक्ष अभिप्रेरको को इस आकाक्षा इस क अधीन बनाना कक्षा म ध्यान एकाग्र रखना, नियमो को, कभी-कभी नीरस भी हो सकते है सीखना और कठिन प्रश्नो का मनोयोगपूर्वक खोजना भी आना चाहिए। दूसर शब्दो मे भावी छ के लिए आवश्यक है कि वह अपने व्यवहार विशेषत मज्ञानमू सक्रियता का स्वच्छा से नियमन करे और इस सक्रियता का नि लक्ष्या की सिद्धि मे सहायक बनाये। यह तभी सभव होता है, ज बच्चे के मन म अभिप्रेरको का सोपानक्रम बन चुका हो जो महत्त्वहै अभिप्ररको को अधिक महत्त्वशील अधिक स्थायी उद्देश्यो तथा इरा के अधीन बनान की सभावना दती है।

आधुनिक स्कूली शिक्षा शून्य स शुरू नही होती। उसम यह मानक चला जाता है कि बच्चा जब पहली कक्षा म भरती होता है तो व काफी कुछ जानता है और जो खास बात है, उसके प्रत्यक्षबोध औ चितन शक्ति इतने विकसित है कि वह अध्ययनगत वस्तुओ तथा परि घटनाओ का क्रमबद्ध प्रेक्षण तथा उनकी महत्त्वपूर्ण विशेषताओ की पहचान कर सकता है सोच विचार सकता है और निष्कर्ष निकाल सकता है। यह सब बच्चे के बौद्धिक विकास के स्तर से कुछ निश्चित अपेक्षाए करता है बच्चे म क्रमबद्ध तथा विभेदित प्रत्यक्षण शक्ति होनी चाहिए उसे अध्ययनगत वस्तु के प्रति सैद्धातिक उपागम, चितन के सामान्यीकृत रूपो तथा मुख्य तार्किक सक्रियाओ म परिचित होना चाहिए और उसकी स्मरण शक्ति समझ पर आधारित होनी चाहिए।

अध्याय ४

आरम्भिक स्कूली आयु मे मानसिक विकास

§१ स्कूली जीवन के आरम्भिक काल की विशेषताए

आधुनिक सोवियत शिक्षा प्रणाली मे आरम्भिक स्कूली आयु मे बच्चे के जीवन का सातवे से दसवे-ग्यारहवे वर्ष (स्कूल की पहली से तीसरी कक्षाओ) तक का काल शामिल किया जाता है। जिन देशो मे बच्चे छह वर्ष की आयु मे स्कूल जाने लगते है और प्राथमिक शिक्षा की अवधि भी भिन्न है आरम्भिक स्कूली आयु की काल-सीमाए स्वाभाविकत भिन्न होगी (अब सोवियत सघ मे भी स्कूली शिक्षा छ वर्ष की आयु से शुरू की जानेवाली है। – स०)। इसलिए स्कूली जीवन की एक विशेष कडी के रूप मे आरम्भिक स्कूली आयु की काल-सीमाओ तथा मानसिक विशेषताओ को पूर्णत नियत और अपरिवर्तनीय नहीं माना जा सकता। वैज्ञानिक दृष्टि से अभी हम इस आयु की अपेक्षया स्थिर और सर्वाधिक लाक्षणिक विशेषताओ की ही बात कर सकते है। बच्चे के मानसिक विकास मे इस आयु की भूमिका किंडरगार्टन से लेकर माध्यमिक शिक्षा की समाप्ति तक बच्चो के सामाजिक पालन व शिक्षण की ऐतिहासिकत विकासमान प्रणाली मे प्राथमिक शिक्षा के उद्देश्यो तथा महत्त्व के परिवर्तन को देखते हुए बदल सकती है।

सात से दस वर्ष तक के आयु-काल की सबसे लाक्षणिक विशेषता यह है कि इसमे बच्चा स्कूली छात्र बन जाता है। यह एक सक्राति काल है, जब बच्चा अपने मे स्कूलपूर्व बाल्यावस्था के लक्षण भी लिये रहता है और स्कूली छात्र के लक्षण भी। ये विशेषताए उसके व्यवहार

और प्राक्‌ प्रवेश ग्रुपो मे दी जानेवाली विशेष शिक्षा का काफी बड़ा महत्त्व होता है। किंतु इस शिक्षा को प्राथमिक सहायता के प्रयास जैसा नही बल्कि बच्चे के मनोविकास की सभी पूर्ववर्ती उपलब्धियो पर आधारित होना चाहिए। बच्चे के मस्तिष्क पर ढेर सारी अपृथक्कित जानकारिया लादने और यान्त्रिक ढग से तथा जबर्दस्ती उन्ह पढ़ना और गिनना सिखाने से अधिक हानिकर कुछ नही है। इसके विपरीत उन्ह सामान्यीकृत सुव्यवस्थित ज्ञान दिया जाना चाहिए यथार्थ के नये क्षेत्रो (वस्तुओ के परिमाणात्मक सबधो, भाषा की ध्वन्यात्मक अतर्वस्तु) को ध्यान मे रखना सिखाया जाना चाहिए और इस व्यापक आधार पर विभिन्न बातो मे प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। इस प्रकार की शिक्षा ही बच्चो म यथार्थ के प्रति सैद्धातिक उपागम के बीज बोता है, जो अकुरित और विकसित होकर उन्ह भविष्य मे किसी भी प्रकार के ज्ञान को सचेतन ढग से हृदयगम करने की सभावना दगे।

अध्याय ४

आरम्भिक स्कूली आयु मे मानसिक विकास

§१ स्कूली जीवन के आरम्भिक काल की विशेषताए

आधुनिक सोवियत शिक्षा प्रणाली मे आरम्भिक स्कूली आयु मे बच्चे के जीवन का सातवे से दसवे ग्यारहवे वर्ष (स्कूल की पहली से तीसरी कक्षाओ) तक का काल शामिल किया जाता है। जिन देशो मे बच्चे छह वर्ष की आयु से स्कूल जाने लगते हैं और प्राथमिक शिक्षा की अवधि भी भिन्न है, आरम्भिक स्कूली आयु की काल सीमाए स्वाभाविकत भिन्न होंगी (अब सोवियत सघ मे भी स्कूली शिक्षा छ वर्ष की आयु से शुरू की जानेवाली है। – स०)। इसलिए स्कूली जीवन की एक विशेष कडी के रूप मे आरम्भिक स्कूली आयु की काल सीमाओ तथा मानसिक विशेषताओ को **पूर्णत नियत और अपरिवर्तनीय नहीं माना जा सकता।** वैज्ञानिक दृष्टि से अभी हम इस आयु की अपेक्षया स्थिर और सर्वाधिक लाक्षणिक विशेषताओ की ही बात कर सकते हैं। बच्चे के मानसिक विकास मे इस आयु की भूमिका किंडरगार्टन से लेकर माध्यमिक शिक्षा की समाप्ति तक बच्चो के सामाजिक पालन व शिक्षण की ऐतिहासिकत विकासमान प्रणाली मे प्राथमिक शिक्षा के उद्देश्यो तथा महत्त्व के परिवर्तन को देखते हुए बदल सकती है।

सात से दस वर्ष तक के आयु काल की सबसे लाक्षणिक विशेषता यह है कि इसमे **बच्चा स्कूली छात्र बन जाता है।** यह एक सक्रांति काल है जब बच्चा अपने मे स्कूलपूर्व बाल्यावस्था के लक्षण भी लिये रहता है और स्कूली छात्र के लक्षण भी। ये विशेषताए उसके व्यवहार

तथा चेतना में जटिल और कभी-कभी विरोधपूर्ण संयोगों के रूप में जड़ें जमाये रहती है। किसी भी अन्य संक्रांति काल की भांति यह आयु विकास की प्रच्छन्न संभावनाओं के मामले में काफ़ी संपन्न होता है, जिन्हें उचित समय पर पहचानना और बढ़ावा देना बहुत ज़रूरी है। व्यष्टि की अनेक मानसिक विशेषताओं की बुनियाद आरंभिक स्कूली आयु में ही डाली और संवर्धित की जाती है। इसलिए आजकल वैज्ञानिक आरंभिक कक्षाओं के बच्चों के विकास की प्रच्छन्न संभावनाओं को प्रकाश में लाने पर विशेष ध्यान दे रहे हैं। इन संभावनाओं का उपयोग करके बच्चों को भावी शिक्षा तथा श्रम सक्रियताओं के लिए अधिक सफलतापूर्वक तैयार किया जा सकता है।

आरंभिक स्कूली आयु के बच्चों की शरीररचनात्मक व शरीरक्रियात्मक विशेषताएं

इस आयु में शरीर के सभी अंगों तथा ऊतकों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आते हैं। उदाहरणार्थ, मेरुदंड के सभी वक्र – ग्रीवा, वक्ष तथा कटि वक्र – बनते हैं। किंतु कंकाल का अस्थि विकास अभी समाप्त नहीं होता और इसलिए शरीर बड़ा लचीला तथा फुरतीला बना रहता है, जो एक ओर तो समुचित शारीरिक विकास तथा अनेक प्रकार के खेलों में प्रवीणता पाने के लिए महती संभावनाएं प्रस्तुत करता है और दूसरी ओर, अगर शारीरिक विकास के लिए सामान्य परिस्थितियां न हों, तो शारीरिक विकृतियों का कारण भी बन सकता है। यही वजह है कि स्कूल में बच्चे की डेस्क की ऊंचाई का ठीक होना और बच्चे का ठीक से बैठना सामान्य शारीरिक विकास तथा ठवन के लिए, सारी भावी कार्यक्षमता के लिए बहुत महत्त्व रखते हैं।

आरंभिक स्कूली आयु के बच्चों की पेशियां और स्नायु बड़ी तेज़ी से मजबूत बनते हैं, उनका आकार बढ़ता है और पेशियों की ताकत में वृद्धि होती है। बड़ी पेशियां छोटी पेशियों से पहले विकसित होती हैं। इसलिए बच्चे अपेक्षया जोरदार और सक्रिय हरकतें करने में तो अधिक समर्थ होते हैं, किंतु छोटी, सुनम्यता की अपेक्षा करनेवाली हरकतों के मामले में कठिनाई अनुभव करते हैं। करभ-अगुलास्थियां

का विकास नौ ग्यारह वर्ष की आयु मे पूर्ण होता है और मणिबध का अस्थि विकास दस-बारह वर्ष की आयु मे। यदि इस तथ्य को ध्यान मे रखा जाये, तो स्पष्ट हो जायेगा कि आरभिक कक्षाओ का छात्र प्राय लिखने मे इतनी कठिनाई क्यो अनुभव करता है। उसकी अगुलिया जल्दी थक जाती हैं, वह तेज और बहुत देर तक नही लिख पाता। अत आरभिक, विशेषत पहली व दूसरी कक्षाओ के बच्चो से लिखने का कार्य बहुत अधिक नही कराया जाना चाहिए। बहुत बार बच्चे गदी लिखावट मे किये गये काम को सुधारने के लिए फिर से लिखने बैठते है। किंतु इसस प्राय परिणाम मे सुधार आने के बजाय, उल्टे, हाथ और अधिक थक जाता है।

आरभिक स्कूली आयु के बच्चो की हृद् पेशी तेजी से बढती है, उसमे खूब रक्त पहुचता है और इसलिए हृदय अपेक्षाकृत सहनशील होता है। कैरोटिड धमनी के बडे व्यास के कारण प्रमस्तिष्क पर्याप्त रक्त पाता है, जो उसकी कार्यक्षमता के लिए अत्यावश्यक है। प्रमस्तिष्क का भार सात वष की आयु के बाद उल्लेखनीय रूप से बढ जाता है। मस्तिष्क के ललाट खडो का विशेष प्रवर्धन होता है, जो मनुष्य की मानसिक सक्रियता के उच्चतर और सर्वाधिक जटिल प्रकार्यों के विकास म महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

उत्तेजन और सदमन की प्रक्रियाओ का सहसबध बदल जाता है। स्कूली आयु के बच्चो मे सदमन, जो कि समय और आत्मनियत्रण का आधार है, स्कूलपूर्व आयु के बच्चो की अपेक्षा अधिक स्पष्ट बन जाता है। किंतु उत्तेजन की प्रवृत्ति अभी भी काफी प्रखर बनी रहती है और इसलिए स्कूली आयु के बच्चे चैन से नही बैठ पाते। सचेतन तथा विवेकसगत अनुशासन और वयस्को की अपेक्षाओ की नियमितता बच्चो म उत्तेजन और सदमन की प्रक्रियाओ के सामान्य सहसबध के विकास की जरूरी बाह्य पूर्वापेक्षाए है। इसके साथ ही सात वर्ष की आयु तक उनका सामान्य सतुलन नयी, स्कूल द्वारा की जानेवाली अनुशासन अध्यवसाय और सयम जैसी अपेक्षाओ के अनुरूप हो जाता है।

इस प्रकार स्कूलपूर्व आयु की तुलना मे आरभिक स्कूली आयु म शरीर का ककाल-पेशी तत्र काफी सुदृढ हो जाता है हृद-वाहिका सक्रियता अधिक स्थायी बन जाती है और तत्रिका उत्तेजन व सदमन

की प्रक्रियाएं पहले से ज्यादा संतुलित हो जाती हैं। यह सब अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है कि स्कूली जीवन का आरंभ एक विशेष सक्रियता का आरंभ है, जो बच्चे से काफी अधिक बौद्धिक नहीं, बड़ी शारीरिक तितिक्षा की भी अपेक्षा करती है।

स्कूल मे प्रवेश से संबंधित मानसिक पुनर्गठन

बच्चे के मनोविकास के हर चरण में सक्रियता का कोई एक रूप ही उसके लिए मुख्य और बुनियादी होता है। उदाहरणार्थ, स्कूलपूर्व बाल्यावस्था में यह स्थान क्रीडामूलक सक्रियता को प्राप्त होता है। हालांकि इस आयु-वर्ग के बच्चे विशेषत जो किंडरगार्टेन जाते हैं, वे पढने और यथाशक्ति श्रम भी करने लग जाते हैं फिर भी उनकी सहज प्रवृत्ति जो कि उनके सारे चरित्र को निर्धारित करती है अपने विविध रूपों में भूमिकामूलक खेल की ओर ही होती है। खेल में बच्चे की समाज में महत्त्व पाने की आकांक्षा उभरती है, कल्पना शक्ति विकसित होती है और वह प्रतीकों का प्रयोग सीखता है। ये ही वे मुख्य बातें हैं, जो दिखाती हैं कि बच्चा स्कूली शिक्षा के आरंभ के लिए तैयार हो चुका है।

स्कूल की देहरी पर कदम रखते ही बच्चा स्कूली छात्र बन जाता है। अब से उसके जीवन में खेल की प्रमुखता शनै शनै घटने लग जाती है हालांकि उसका महत्त्व फिर भी बना रहता है। पढाई आरंभिक कक्षाओं के बच्चे की मुख्य सक्रियता बन जाती है। यह उसके व्यवहार के अभिप्रेरकों को काफी बदल डालती है और उसकी संज्ञानात्मक तथा नैतिक शक्तियों के विकास के लिए नये साधन व स्रोत उपलब्ध करवाती है। यह सारा पुनर्गठन कई चरणों में संपन्न होता है।

विशेषत महत्त्वपूर्ण वह चरण है, जिसमें बच्चों का स्कूली जीवन की नयी परिस्थितियों से प्रथम साक्षात्कार होता है। अधिकांश बच्चे मानसिकत इसके लिए तैयार होते हैं। वे खुशी खुशी स्कूल जाते हैं, सोचते हैं कि यहां उन्हें ऐसी असाधारण चीजें देखने, सुनने अथवा करने को मिलेंगी जो कि घर और किंडरगार्टेन में नहीं थीं। बच्चे की ऐसी मन स्थिति दो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। सबसे पहले तो यह

कि स्कूली जीवन की नवीनता की पूर्वानुभूति तथा ललक बच्चे को कक्षा में व्यवहार, साथियो के साथ सबधो और दिनचर्या से सबधित अध्यापक की अपेक्षाओ के अनुकूल अपने को यथाशीघ्र ढालने मे मदद करती है। बच्चा इन अपेक्षाओ को सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य मान लेता है। अनुभवी अध्यापको को ज्ञात यह प्रस्थापना मनोविज्ञान की दृष्टि से समीचीन ही है कि स्कूल म पहले दिन मे ही बच्चे को पूर्णत स्पष्ट कर दिया जाना चाहिए कि कक्षा घर तथा सार्वजनिक स्थलो पर आचरण व व्यवहार के क्या नियम होते है। बच्चे को उसकी नयी स्थिति, अधिकारो और कर्तव्यो का पहले की स्थिति, अधिकारो तथा कर्तव्यो से अतर भी तुरत ही समझा दिया जाना चाहिए। नये नियमो और मानको का दृढतापूर्वक पालन किये जाने की माग पहली कक्षा के बच्चो के प्रति अनावश्यक कठोरता की परिचायक नही, वल्कि उनके जीवन के सगठन की एक आवश्यक शर्त है—ऐसी शर्त, जो स्कूली शिक्षा के लिए तैयार बच्चो की स्वय अपनी मान्यताओ से पूर्णत मेल खाती है। यदि ढुलमुलपन और अनिश्चय दिखाया जायेगा, तो बच्चे अपने जीवन के नये चरण की भिन्नता को महसूस नही कर पायेगे और इसके परिणामस्वरूप उनकी स्कूल व शिक्षा मे रुचि समाप्त हो सकती है।

बच्चे की मन स्थिति का दूसरा पहलू ज्ञान तथा कुशलता अर्जित करने की प्रक्रिया के प्रति बच्चे के सामान्य रचनात्मक दृष्टिकोण से जुडा हुआ है। स्कूल मे प्रवेश स पहले ही वह इस विचार का अभ्यस्त बन जाता है कि खेलो म वह जो बनना चाहता था आगे चलकर सचमुच वैसा बनने के लिए शिक्षा पाना आवश्यक है। बेशक तब बच्चा नही जानता कि भविष्य मे उसे ठीक किस प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता पडेगी। ज्ञान के प्रति उसका दृष्टिकोण अभी उपयोगिता व व्यावहारिकतामूलक नही होता। उसका आकर्षण सामान्यत ज्ञान के प्रति मात्र सामाजिक मूल्य और महत्त्व रखनेवाले निरपेक्ष ज्ञान के प्रति होता है। इसमे ही बच्चे की जिज्ञासा और परिवेश मे सैद्धातिक रुचि व्यक्त होती है। यह रुचि जो कि शिक्षा का मूलाधार है, बच्चे मे उसकी क्रीडा सक्रियता द्वारा स्कूलपूर्व जीवन की समस्त पद्धति द्वारा पैदा की जाती है।

मे शाति से बैठना घर पर करने के लिए दिया हुआ कार्य समय पर पूरा करना, आदि) से सबध रखती हैं। समुचित आदतो के अभाव मे बच्चा बहुत ज्यादा थक जायेगा, पढ़ाई मे पिछड जायेगा और चर्या का पूर्णत पालन न कर सकेगा। मनोशरीरक्रियात्मक दृष्टि से अधिकाश सातवर्षीय बच्चे अपने मे ऐसी नयी आदते सफलतापूर्वक डाल सकते है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि अध्यापक और माता-पिता उसे नयी जीवन की अपेक्षाए साफ साफ समझा और बता दे, उनकी पूर्ति पर निरतर निगरानी रखे और बच्चो की वैयक्तिक विशेषताओ को ध्यान मे रखते हुए ही प्रोत्साहन अथवा दड की कार्रवाइया करे।

दूसरे प्रकार की कठिनाइया वे है, जिनके मूल मे अध्यापक साथियो और घरवालो के साथ सबधो का स्वरूप निहित है। बच्चो के प्रति अपने सारे स्नेह और सहानुभूति के बावजूद अध्यापक जानकार और कठोर गुरु भी होता है, जो व्यवहार के कुछ निश्चित नियम निर्धारित करता है और उनका उल्लघन नही होने देता। वह हर कदम पर बच्चो के काम को आकता है। उसका दर्जा ऐसा होता है कि बच्चा उसके सामने किंचित् भय अथवा सकोच अनुभव किये बिना नही रह सकता। फलस्वरूप कुछ बच्चे अत्यधिक नियन्त्रित बन जाते है और कुछ उच्छृखल (घर मे वे ऐसे नही भी हो सकते हैं)। प्राय पहली कक्षा का बच्चा नये परिवेश मे घबडा जाता है दूसरे बच्चो के साथ तुरत घुलमिल नही पाता और अपने को एकाकी महसूस करता है।

अनुभवी शिक्षक सभी बच्चो से समान अपेक्षाए करता है, किंतु कौन बच्चा इन अपेक्षाओ को कैसे, किस ढग से पूरा करता है इसका भी ध्यान रखता है। इससे उसे बच्चो के व्यवहार की गहराई मे झाकने और उनकी वास्तविक मानसिक विशेषताओ को समझने मे मदद मिलती है। ऐसे विशेष अध्ययन के आधार पर ही उनपर प्रभाव डालने की कोई निश्चित रीति चुनी जा सकती है, यानी वह रीति जिससे पहली कक्षा के सभी बच्चो मे कक्षा म शात तथा सयत रहो पढाई मे न पिछडने और अध्यापक के सवालो का अर्थपूर्ण उत्तर देने की आदत डाली जाती है। अततोगत्वा इस सबसे बच्चे मे अध्यापक और उसके कार्यो मे विश्वास उत्पन्न होता है।

कक्षा मे छात्रो व परस्पर सबध सामान्य तभी होते हैं जब अध्यापक निष्पक्ष और सब बच्चो के प्रति समान रूप स कठोर होता है, जब वह कमजोर बच्चो को महनत व लिए प्रोत्साहित करता है और तब बच्चो को उनके जरूरत से ज्यादा आत्मविश्वास के लिए डाट सकता है। इससे कक्षा मे सामूहिक काय के लिए अच्छा मानसिक वातावरण बनता है। अध्यापक को रुचियो की समानता (टिकट सग्रह का शौक, कठपुतली थियेटर का शौक), जीवन की बाह्य परिस्थितियो की समानता (एक ही इमारत म रहना, एक ही डेस्क पर बैठना), आदि पर आधारित बच्चा की मैत्री को बढावा देना चाहिए। स्कूल मे पहले महीनो म शिक्षा और पालन का एक मुख्य लक्ष्य बच्चे को इस बात का अहसास कराना होना चाहिए कि कक्षा और स्कूल उसके लिए पराये नही है कि वे उसके हितकामी तथा सवेदनशील समवयस्क छोटे और बडे साथियो का समुदाय है।

स्कूल जाना शुरू करते ही परिवार म बच्चे की स्थिति बदल जाती है। उसके नये दायित्व और अधिकार प्रकट हो जाते है (उदाहरण के लिए घरवालो को उसके गृहकार्य क लिए अलग स्थान व समय नियत करना होता है उसकी दिनचर्या का ध्यान रखना पडता है वगैरह)। अनुभव दिखाता है कि अधिकाश परिवारो म बच्चे के इन अधिकारो का आदर किया जाता है और उनके क्रियान्वयन म पूर्ण सहयोग दिया जाता है। बहुत बार ऐसा भी होता है कि वयस्को की सहानुभूति महसूस करके और 'स्कूली महनतकश" की मागो को तुरत पूरा करन की उनकी तत्परता को देखकर कुछ बच्चे अपनी स्थिति का 'दुरुपयोग करने और परिवार पर घरेलू जीवन का ऐसा ढर्रा थोपने लग जाते है जिसका केंद्रबिंदु वे स्वय होते है। इसके परिणाम स्वरूप बच्चे म एक प्रकार की अहमन्यता की भावना पैदा हो सकती है। अत आवश्यक है कि पहली कक्षा के बच्चे की आवश्यकताओ पर ध्यान दिये जाने के साथ साथ उसे परिवार के अन्य सदस्यो के उतने ही महत्त्वपूर्ण हितो तथा आवश्यकताओ से भली भाति परिचित करा दिया जाय। बच्चे को उनकी अवहेलना न करना और परिवार के सामान्य जीवन म अपने स्कूली हितो अथवा कार्यो को अत्यधिक महत्त्व देने की प्रवृत्ति पर लगाम लगाना सिखाना चाहिए।

तीसरे प्रकार की कठिनाइया बहुत से पहली कक्षा के बच्चे शिक्षा सत्र के मध्य से अनुभव करने लगते है। सत्र के आरभ मे तो वे सहर्ष और पढाई शुरू होने से काफी पहले ही स्कूल पहुच जाया करते है, स्कूल का सारा काम खुशी खुशी पूरा करते है और अध्यापक द्वारा दिये गये अको पर गर्व दिखाते है। यह सब इसका प्रतीक होता है कि बच्चे ज्ञानार्जन के लिए सामान्यत तैयार है। किंतु पहली कक्षा मे शिक्षण की प्रक्रिया ऐसी होती है कि बच्चो को तैयारशुदा ज्ञान और परिभाषाओ से ही अवगत कराया जाता है, जिन्हे उन्हे याद कर लेना और आवश्यक स्थितियो मे प्रयोग मे लाना होता है। आम तौर पर इसमे बच्चे की ज्ञानपिपासा का पूरा पूरा अथवा विशेष ध्यान नही रखा जाता। स्वाभाविक है कि ऐसी परिस्थितिया मे बच्चे के बौद्धिक उपक्रम और सज्ञानात्मक स्वतत्रता का क्षेत्र अधिक बडा नही बन पाता है और स्वय शिक्षा सामग्री की अतर्वस्तु मे रुचि भी काफी धीरे-धीरे विकसित होती है। बच्चा स्कूली जीवन के बाह्य लक्षणो का ज्यो-ज्यो अभ्यस्त बनता जाता है, उसका शिक्षा के प्रति आरभिक आकर्षण त्यो-त्यो घटता जाता है। फलस्वरूप बहुत बार उसमे एक प्रकार की उदासीनता और विरक्ति पैदा हो जाती है। अध्यापक कभी-कभी शिक्षा सामग्री मे बाह्य विषयातर के तत्त्वो का समावेश करके इस उदासीनता और विरक्ति पर काबू पाने का प्रयत्न करते है। किंतु यह तरीका थोडे समय के लिए ही कारगर हो पाता है।

बच्चे पढाई से ऊब न जाये, इसके लिए सबसे उत्कृष्ट तरीका यह है कि उन्हे पर्याप्त कठिन शैक्षिक व सज्ञानमूलक अभ्यास करने को दिये जाये और उनका समस्यामूलक स्थितियो से साक्षात्कार कराया जाय, जिनसे निकास पाने के लिए तदनुरूप सकल्पनाओ का ज्ञान होना जरूरी है। यह, उदाहरण के लिए, निम्न प्रकार से किया जा सकता है। गणित के पाठ्यक्रम मे राशि की सकल्पना का बडा महत्त्व होता है। बच्चो को उसका परिचय पहली कक्षा मे दिया जाता है और इसकी रीति कुछ इस प्रकार होती है बच्चो से राशि अथवा परिमाण की दृष्टि से कुछ वस्तुओ की तुलना करने को कहा जाता है किंतु इस शर्त पर कि जब ऐसी तुलना सीधे और प्रत्यक्ष न की जा सकती हो। क्या किया जाये? पहली कक्षा के छात्र इस तरह के सवालो

वे हल की कोई सामान्य रीति ढूढने को बाध्य हो जाते है। कतिप
कमोबेश सफल प्रयासो के बाद अध्यापक की सहायता से उन्हे मालूम
हो जाता है कि इस मामले मे मापन, परिकलन और सख्या आवश्यक
है। उनकी बदौलत विभिन्न राशियो की व्यवहित तुलना की जा सकती
है। इसके बाद बच्चे मापना और गिनना सीखते है और सख्या की
सकल्पना की अतर्वस्तु को हृदयगम करते हैं। अनुभव दिखाता है कि
ऐसा विशद स्पष्टीकरण (ये सकल्पनाए कितनी आवश्यक हैं और इनका
मूल क्या है) जीवन मे जब-तब उठनेवाली समस्याओ का हल करने के
शुद्ध गणितीय तरीको मे और इस शिक्षा विषय की पढाई मे रुचि
गहनतर बनाने मे मदद देता है।

इसी ढग से मातृभाषा का अध्यापन भी किया जाना चाहिए
जिसका मुख्य उद्देश्य बच्चो को वाक्-सप्रेषण के निश्चित शब्दरूपात्मक
तथा वाक्यरचनात्मक साधनो की अपरिहार्यता और उनके प्रयोग के
नियमो से अवगत कराना है। श्रम-शिक्षा की कक्षाओ मे छात्रो का अपन
भावी काम की योजना बनाने के तरीको तथा रीतियो मे और अपना
वस्तुमूलक क्रियाओ के चेतनाधारित नियमन की पूर्वापेक्षाओ के अध्ययन
मे रुचि लेना सिखाया जाना चाहिए।

पहली कक्षा के बच्चो का जब ऐसे नियत कार्यों की प्रणाली से
परिचय कराया जाता है, जिन्हे पूरा करने के उपायो और साधनो का
स्पष्ट समझ आवश्यक है तो बच्चे आरभ से ही बौद्धिक खोजा मे
रुचि लेने और मिली हुई क्रिया-रीतियो को विशद चितन तथा निष्कर्ष
के आधार पर पुष्ट करने की आवश्यकता अनुभव करने लग जाते हैं
इस प्रकार की उत्कट चितन सक्रियता की बदौलत बच्चे आवश्य
ज्ञान तथा कौशल सचेतन ढग से सीख सकते है। यह कार्य बच्चो के
लिए रोचक ही नही होता, बल्कि अध्यापक से सही निर्देशन मिलने पर
पूर्णत उनके बस के भीतर भी होता है। इसलिए स्कूल मे पहले महीने
मे छात्रो से किन्ही भी तथ्यो या जानकारियो को उनकी आवश्यकता
और प्रयोग की परिस्थितियो की समुचित समझ के बिना रट लेने
या याद कर लेने की अपेक्षा करना विशेषत खतरनाक है। बेशक पहली
कक्षा के छात्र बहुत कुछ और पक्के तौर पर याद कर सकते है। इससे
शिक्षा का प्रत्यक्ष तथा बाह्य प्रभाव तो हासिल कर लिया जायेगा

लेकिन एक महत्त्वपूर्ण पहलू – बच्चे मे शिक्षा सामग्री के प्रति सज्ञानमूलक रुचि के विकास का आरभ – पूर्णत निगरानी के बिना ही रह जायेगा। ऐसी रुचि के अभाव का बच्चे की आगे की सारी शिक्षा पर भारी कुप्रभाव पडेगा।

इस प्रकार स्कूली जीवन मे प्रथम प्रवेश के दौर मे बच्चे के मानस म गभीर परिवर्तन आते है। उसकी दिनचर्या बदलती है, वह नयी, महत्त्वपूर्ण आदत सीखता है और अध्यापको व साथियो के साथ उसके परस्पर विश्वास के सबध कायम होते है। शिक्षा सामग्री की अतर्वस्तु म रुचि पैदा हो जाने से पढाई के प्रति उसका सकारात्मक दष्टिकोण बन जाता है। इस रुचि का आगे विकास और पढाई के प्रति दृष्टिकोण का अनुकूलतर बनना शिक्षा सक्रियता के विकास की प्रक्रिया पर निर्भर होता है। इसलिए शिक्षा मनोविज्ञान के लिए इस सक्रियता की सरचना और उसके अलग-अलग घटको की विशेषताओ का प्रश्न विशिष्ट महत्त्व रखता है।

§२ प्राथमिक कक्षाओ के बच्चो की शिक्षा सक्रियता

ज्ञान, कौशल, अनुभव आदि का आत्मसात्करण माता पिता तथा समवयस्को से सपर्क, खेलकूद व पुस्तके पढन की प्रक्रिया म होता है। मनुष्य श्रम के दौरान भी काफी कुछ सीखता है। किंतु जो आत्मसात्करण शिक्षा सक्रियता के दौरान किया जाता है उसकी विशिष्टता क्या है? सबसे पहले तो यह याद रखा जाना चाहिए कि शिक्षा सक्रियता के अधिकतम विकास के लिए आवश्यक परिस्थितिया केवल स्कूल मे उपलब्ध होती है जहा बच्चो को ज्ञान-विज्ञान की बुनियादी बाते पढाई जाती है और जहा उनका विश्वदृष्टिकोण बनता है। शिक्षा सक्रियता की अतर्वस्तु की एक खास विशेषता यह है कि उसमें अधिकाशत **वैज्ञानिक सकल्पनाओ, वैज्ञानिक नियमो** और उन पर आधारित व्यावहारिक कृत्यको की पूर्ति की **सामान्य रीतियो** का समावेश होता है। अन्य प्रकार की सक्रियताओ म आत्मसात्करण उन का

के हल की कोई सामान्य रीति ढूढने को बाध्य हो जाते है। कतिपय कमोबेश सफल प्रयासो के बाद अध्यापक की सहायता से उन्हे मालूम हो जाता है कि ऐसे मामलो मे मापन, परिकलन और सख्या आवश्यक हैं। उनकी बदौलत विभिन्न राशियो की व्यवहित तुलना की जा सकती है। इसके बाद बच्चे मापना और गिनना सीखते है और सख्या की सकल्पना की अतर्वस्तु को हृदयगम करते हैं। अनुभव दिखाता है कि ऐसा विशेष स्पष्टीकरण (ये सकल्पनाए कितनी आवश्यक हैं और उनका मूल क्या है) जीवन मे जब-तब उठनेवाली समस्याओ को हल करने के शुद्ध गणितीय तरीको म और इस शिक्षा विषय की पढाई मे रुचि गहनतर बनाने म मदद देता है।

इसी ढग से मातृभाषा का अध्यापन भी किया जाना चाहिए, जिसका मुख्य उद्देश्य बच्चो को वाक्-सप्रेषण के निश्चित शब्दरूपात्मक तथा वाक्यरचनात्मक साधनो की अपरिहार्यता और उनके प्रयोग के नियमो से अवगत कराना है। श्रम शिक्षा की कक्षाओ म छात्रो को अपने भावी काम की योजना बनाने के तरीको तथा रीतियो मे और अपनी वस्तुमूलक क्रियाओ के चेतनाधारित नियमन की पूर्वापेक्षाओ के अध्ययन म रुचि लेना सिखाया जाना चाहिए।

पहली कक्षा के बच्चो का जब ऐसे नियत कार्यों की प्रणाली से परिचय कराया जाता है जिन्हे पूरा करने के उपायो और साधनो का स्पष्ट समझ आवश्यक है, तो बच्चे आरभ से ही बौद्धिक खोजो मे रुचि लेने और मिली हुई क्रिया रीतियो को विशद चितन तथा निष्कर्षो के आधार पर पुष्ट करने की आवश्यकता अनुभव करने लग जाते हैं। इस प्रकार की उत्कट चितन सक्रियता की बदौलत बच्चे आवश्यक ज्ञान तथा कौशल सचेतन ढग से सीख सकते है। यह कार्य बच्चो के लिए रोचक ही नही होता बल्कि अध्यापक से सही निदेशन मिलने पर पूर्णत उनके बस के भीतर भी होता है। इसलिए स्कूल मे पहले महीनो मे छात्रो से किन्ही भी तथ्यो या जानकारियो को उनकी आवश्यकता और प्रयोग की परिस्थितियो की समुचित समझ के बिना रट लेने या याद कर लेने की अपेक्षा करना विशेषत खतरनाक है। बेशक पहली कक्षा के छात्र बहुत कुछ और पक्के तौर पर याद कर सकते है। इससे शिक्षा का प्रत्यक्ष तथा बाह्य प्रभाव तो हासिल कर लिया जायेगा

लेकिन एक महत्त्वपूर्ण पहलू – बच्चे मे शिक्षा सामग्री के प्रति सज्ञानमूलक रुचि के विकास का आरभ – पूर्णत निगरानी के बिना ही रह जायेगा। ऐसी रुचि के अभाव का बच्चे की आगे की सारी शिक्षा पर भारी कुप्रभाव पडेगा।

इस प्रकार स्कूली जीवन मे प्रथम प्रवेश के दौर मे बच्चे के मानस मे गभीर परिवर्तन आते है। उसकी दिनचर्या बदलती है वह नयी, महत्त्वपूर्ण आदत सीखता है और अध्यापको व साथियो के साथ उसके परस्पर विश्वास के सबध कायम होते है। शिक्षा सामग्री की अतर्वस्तु मे रुचि पैदा हो जाने से पढाई के प्रति उसका सकारात्मक दृष्टिकोण बन जाता है। इस रुचि का आगे विकास और पढाई के प्रति दृष्टिकोण का अनुकूलतर बनना शिक्षा सक्रियता के विकास की प्रक्रिया पर निर्भर होता है। इसलिए शिक्षा मनोविज्ञान के लिए इस सक्रियता की सरचना और उसके अलग अलग घटको की विशेषताओ का प्रश्न विशिष्ट महत्त्व रखता है।

§२ प्राथमिक कक्षाओ के बच्चो की शिक्षा सक्रियता

ज्ञान कौशल, अनुभव, आदि का आत्मसात्करण माता पिता तथा समवयस्को से सपर्क खेलकूद व पुस्तके पढने की प्रक्रिया मे होता है। मनुष्य श्रम के दौरान भी काफी कुछ सीखता है। किंतु जो आत्मसात्करण शिक्षा सक्रियता के दौरान किया जाता है, उसकी विशिष्टता क्या है? सबसे पहले तो यह याद रखा जाना चाहिए कि शिक्षा सक्रियता के अधिकतम विकास के लिए आवश्यक परिस्थितिया केवल स्कूल मे उपलब्ध होती हैं, जहा बच्चो को ज्ञान विज्ञान की बुनियादी बात पढाई जाती है और जहा उनका विश्वदृष्टिकोण बनता है। शिक्षा सक्रियता की अतर्वस्तु की एक खास विशेषता यह है कि उसमे अधिकाशत **वैज्ञानिक सकल्पनाओ, वैज्ञानिक नियमो** और उन पर आधारित व्यावहारिक कृत्यको की पूर्ति की **सामान्य रीतियो** का समावश होता है। अन्य प्रकार की सक्रियताओ मे आत्मसात्करण उन का

उपोत्पाद होता है। उदाहरणार्थ खेल मे बच्चा अपनी भूमिका का बेहतर से बेहतर ढग से निबाहने के लिए ही प्रयत्नरत रहता है। इसमे व्यवहार के नियमो को सीखना मुख्य उद्देश्य का मात्र अनुवर्ती है। श्रम मे मुख्य उद्देश्य वस्तुओ का उत्पादन है। इसमे यदि कौशल तथा अनुभव मे वृद्धि भी होती है तो यह वृद्धि महत्त्वपूर्ण होने पर भी काम का गौण परिणाम ही होगी। केवल शिक्षा सक्रियता मे ज्ञान व तदनुरूप कौशल का अर्जन व आत्मसात्करण सक्रियता का मुख्य उद्देश्य और मुख्य परिणाम होता है।

शिक्षा सक्रियता की एक निश्चित सरचना होती है। उसके घटक है १) शैक्षिक स्थितिया (अथवा कृत्यक), २) शैक्षिक क्रियाए ३) नियत्रणमूलक क्रियाए ४) मूल्याकनपरक क्रियाए।

शैक्षिक स्थितियो की विशेषताए

शैक्षिक स्थितियो की कतिपय विशेषताए होती है। पहली तो यह है कि **इनमे स्कूली बच्चे विभिन्न सकल्पनाओ के सामान्य लक्षणो को पहचानने अथवा किसी खास वर्ग के ठोस, व्यावहारिक कृत्यको की पूर्ति की सामान्य रीतिया सीखते हैं** (सकल्पना के लक्षणो को पहचानना ठोस कृत्यका की पूर्ति मे एक विशेष भेद के रूप मे काम करता है, इसलिए आगे उल्लेख केवल कृत्यको की पूर्ति का ही किया जायेगा)। **दूसरे, इन रीतियो के प्रतिमानो की पुनरावृत्ति शैक्षिक कार्य के मुख्य लक्ष्य के रूप मे सामने आता है।** ठोस व्यावहारिक कृत्यको की अतर्वस्तु सीधे जीवन से ली हुई होती है अत उनकी पूर्ति समाधान के परिणाम जीवन के दृष्टिकोण से उतने ही महत्त्वपूर्ण होते है। ऐसे कृत्यको की श्रेणी मे इमला लिखना (इसके लिए वर्तनी का ध्यान रखना आवश्यक होता है) अकगणित के विवरणात्मक प्रश्नो के उत्तर खोजना (इसके लिए दत्त स्थिति के अनुरूप परिकलन करना आवश्यक है) आदि शामिल किये जा सकते हैं। इस प्रकार के बहुविधि कृत्यको को कैसे पूरा किया जाता है यह व्याकरण गणित आदि विभिन्न क्षेत्रो के प्रत्येक पृथक कृत्यक पर काम करने व दीर्घ अनुभव से सीखा जा सकता है। इसमे ऐसे कृत्यको की शर्तो मे अभिविन्यास की युक्तियो मे सबधित

जानकारी शनै शनै बढती जायेगी। किंतु शैक्षिक स्थितियो क भीतर ठोस, व्यावहारिक कृत्यको को पूरा करने की योग्यता दूसरे ही ढग से विकसित होती है। सबसे पहले, अध्यापक प्राथमिक कक्षाओ के छात्र के सामने ऐसी स्थितिया उत्पन्न करता है जिनमे कि दत्त वर्ग के सभी ठोस, व्यावहारिक कृत्यको की पूर्ति की सामान्य रीति ढूढना आवश्यक होता है। इसके बाद अध्यापक के निदेशन मे छात्र यह रीति ढूढते और विकसित करते है। उसकी अलग-अलग सक्रियाओ की पुनरावृत्ति और जिन परिस्थितियो मे उसे प्रयोग किया जा सकता है, उन परिस्थितियो की प्रणाली को हृदयगम करना अलग चरण है। परिणाम स्वरूप उसी प्रकार के ठोस, व्यावहारिक कृत्यको से साक्षात्कार होने पर बच्चे उनकी पूर्ति की आत्मसात्कृत सामान्य रीति का प्रयोग और पहले शैक्षिक स्थिति मे अर्जित योग्यता का प्रदर्शन करने लग जाते है।

वस्तुत इमला लिखना सीधे ही नही आ जाता। उससे पहले बच्चे शब्दो की सरचना और उनमे अक्षरो के सयोजन के नियमो का अध्ययन करते है और वर्तनी की सामान्य अपेक्षाओ को सूत्रबद्ध करना सीखते हैं। अकगणित के विवरणात्मक सवालो को हल करना सीखने से पहले राशियो के आम गुणो तथा सहसबधो, सवाल मे उन्हे पहचानने की युक्तियो और अकगणितीय सक्रियाओ की सहायता से उन्हे दर्शित करने के तरीको को सीखा जाता है।

इन सभी मामलो मे बच्चे शैक्षिक स्थितियो की प्रणाली मे काम करते है, जिनके भीतर वे एक ओर तो दत्त सामग्री के आत्मसात्करण का अभिप्रेरक (उदाहरणार्थ शब्दो की सरचना को जानना जरूरी क्यो है) और, दूसरी ओर, दत्त वर्ग के ठोस कृत्यको की पूर्ति की सामान्य रीतियो की मिसाल पाते हैं। इन विशेषत निर्दिष्ट सामान्य रीतियो के प्रतिमानो की पुनरावृत्ति शैक्षिक कार्य की विशेषता है। ऐसा ज्ञानार्जन की अन्य विधियो मे नही होता। यह कार्य ठोस व्यावहारिक कृत्यको की पूर्ति और सकल्पनाओ के व्यावहारिक प्रयोग से पहले किया जाता है। यदि बच्चे इन रीतियो का कृत्यको की पूर्ति की प्रक्रिया मे ही सीखते है, तो ऐसा आत्मसात्करण शिक्षा सक्रियता का रूप नही लेता और अन्य नियमो के अनुसार घटित होता है।

शैक्षिक स्थितियो की अतर्वस्तु और रूप शिक्षा मनोविज्ञान शैक्षिकी

और विशिष्ट विधियो के सयुक्त साधनो से निर्धारित होते हैं। अनुसधानो से पता चलता है कि अनेक बार किसी निश्चित वर्ग के ठोस, व्यावहारिक कृत्यको की पूर्ति की सामान्य रीति को ढूढना और प्रतिमान के तौर पर पेश करना काफी कठिन होता है। अध्यापन कार्य म कभी-कभी बच्चो को शैक्षिक स्थितियो म अतर्विष्ट नही किया जाता। किसी ठोस कृत्यक की पूर्ति को किस सामान्य रीति स करनी है, यह व स्वत स्फूर्त ढग से खोजते है और इससे पूर्ति म काफी वक्त लगता है। ऐसे म गलतिया बहुत होती है जो धीरे धीरे ही दूर हो पाती है, और आत्मसात्करण क परिणाम भी आम तौर पर पर्याप्त सामान्यीकृत तथा सुविचारित नही होते और उसी वर्ग के अन्य कृत्यको पर कठिनाई स लागू किये जाते है। इसके अलावा इन परिणामो क व्यक्तिगत रूपभेद भी बहुत होते है। गलतिया तब नही होती जब योग्यता अथवा कौशल का विकास शैक्षिक स्थिति के दौरान होता है, क्योकि छात्र और अध्यापक किसी निश्चित वर्ग क कृत्यको की पूर्ति की सामान्य रीति को पहले ही निर्दिष्ट और आत्मसात्करण के लिए प्रतिमान के रूप म विशेषत सूत्रबद्ध कर लेते है। इसलिए मनोविज्ञान की एक मुख्य अपेक्षा यह है कि प्राथमिक शिक्षा का सगठन ऐसे किया जाये कि पाठ्यक्रम के अधिकाश भागो तथा विषयो का अध्यापन शैक्षिक स्थितियो के आधार पर हो, जो बच्चो को तुरत किसी निश्चित सकल्पना के लक्षणो को पहचानने अथवा किसी निश्चित वर्ग के कृत्यको को पूरा करन की सामान्य रीतिया के आत्मसात्करण की ओर उन्मुख बना देती है।

शैक्षिक क्रियाओ की विशेषताए

शैक्षिक स्थितियो मे बच्चे के कार्य म विभिन्न प्रकार की क्रियाए शामिल होती है। उनमे **शैक्षिक क्रियाओ** का विशेष स्थान है। इनके माध्यम से स्कूली बच्चे कृत्यको की पूर्ति की सामान्य रीतियो के प्रतिमानो और जिन परिस्थितियो मे उनका प्रयोग किया जा सकता है उनका पता लगाने की सामान्य युक्तियो की पुनरावृत्ति व आत्मसात्करण करते है। ये क्रियाए वस्तुत भी और मानसिक धरातल पर भी की जाती हैं। इनकी सरचना एकरूप नही होती। कुछ शैक्षिक क्रियाओ का

किसी भी शिक्षा सामग्री के आत्मसात्करण के लिए उपयोग होता है तो कुछ का दत्त शिक्षा विषय के भीतर कार्य के लिए और कुछ का केवल कतिपय विशिष्ट प्रतिमानो की पुनरावृत्ति के लिए। इस तरह जो क्रियाए छात्रों को दत्त प्रतिमान रूपाकित करने की सभावना देती है, वे किसी भी विषय से सबधित किसी भी सामग्री के अध्ययन मे प्रयोग की जा सकती है। अध्ययनगत वस्तु को देखते हुए ऐसा रूपाकन चित्रमय (खाका फार्मूला) मूर्तिमय (त्रिविमीय मॉडल) शब्दमय आदि किसी भी प्रकार का हो सकता है। सामग्री का अर्थपरक वर्गीकरण उसके मुख्य मुद्दो की अर्थानुसार पहचान और उसके तार्किक खाके व योजना का निर्माण – ये वे शैक्षिक क्रियाए है जो विवरणात्मक सामग्रियो के आत्मसात्करण के लिए सर्वाधिक आवश्यक है।

किसी भी शिक्षा विषय की किसी भी आधारभूत सकल्पना के आत्मसात्करण के लिए तदनुरूप कुछ खास शैक्षिक क्रियाए आवश्यक होती है।

अनुसधानो से सिद्ध हो चुका है कि प्राथमिक कक्षाओ के छात्र निम्न शैक्षिक क्रियाओ के बिना शब्दो की सरचना और रूपिमो के अर्थ से सबधित व्याकरणिक सकल्पनाओ को पूर्णत हृदयगम नही कर सकते १) मूल शब्द का रूप परिवर्तन करके उससे विभिन्न अथवा सजातीय शब्द बनाना, २) मूल शब्द के और नये शब्द के अर्थ की तुलना करना, ३) मूल शब्द के रूपो की तुलना करना और रूपिमा को पहचानना ४) किसी निश्चित शब्द म रूपिमा के प्रयोजन का पता लगाना, आदि आदि। व्याकरण के अध्ययन म आरम्भ म परिवर्तन तथा तुलना की क्रियाए विशेषत महत्त्वपूर्ण होती है, क्योकि वे बच्चो को अर्थ और शब्द-रूप का परस्पर सबध जानने म मदद देती है। इन क्रियाओ मे पटुता पाये बिना बच्चे उपरोक्त सबध और उसकी विशेषताओ को न सचेत ढग से पहचान सकते है, न उनका विधिवत् विश्लेषण ही कर सकते है। बहुत से स्कूली छात्र किन्ही कारणो से उपरोक्त क्रियाए नही सीख पाते है। फलस्वरूप भाषा की रूपप्रक्रिया से उनका परिचय व्याकरणपूर्व, सामान्य स्तर पर ही बना रहता है। यह एक कारण है जिससे मातृभाषा की पढ़ाई मे कठिनाइया उत्पन्न होती है

राशि की सकल्पना के आत्मसात्करण करते हुए बच्चे को

शैक्षिक क्रियाएं करनी पडती है, जिनमें निम्न क्रियाएं भी है १) वस्तु मूलक क्रिया (किसी राशि या मापस्वरूप ली गयी दूसरी राशि के साथ गुणन संबंध का पता लगाना) २) शब्दमूलक क्रिया (मापों की संख्या को गिनना) ३) बौद्धिक क्रिया (प्राप्त परिणाम को सारी परिकलित वस्तु से संबद्ध करना)।

अध्यापन करते समय अध्यापक के मस्तिष्क में उन सामान्य और विशिष्ट शैक्षिक क्रियाओं की पूर्ण समष्टि का स्पष्ट चित्र होना चाहिए, जिन्हें संपन्न करके बच्चा किन्हीं संकल्पनाओं को, रीतियों को अथवा शिक्षा सामग्री के किन्हीं अंशों का आत्मसात् करता है। प्राथमिक कक्षाओं के छात्रों को सभी आवश्यक शैक्षिक क्रियाएं अवश्य सिखायी जानी चाहिए। उनके बिना सामग्री का आत्मसात्करण शिक्षा सक्रियता के दायरे के बाहर होगा यानी वह कृत्यक पूर्ति की युक्तियां अथवा संकल्पनाओं के शाब्दिक विवरण को रट लेने पर आधारित औपचारिक आत्मसात्करण मात्र होगा।

बहुत बार ऐसा देखा जा सकता है कि प्राथमिक कक्षाओं के बच्चे ऐंद्रिक छाप और सीधे शाब्दिक स्मरण के आधार शिक्षा सामग्री का आत्मसात् करने की कोशिश करते हैं। आरंभ में यह आवश्यक शैक्षिक क्रियाओं (उदाहरणार्थ सामग्री का अर्थानुसार वर्गीकरण, मुख्य मुद्दों को पहचानना) की सर्वतोमुखी पूर्ति के मुकाबले आसान भी होता है किंतु अध्यापक का कर्त्तव्य है कि इस स्वतःस्फूर्त प्रवृत्ति को रोके और विशिष्ट शैक्षिक स्थितियों के भीतर ही सुसंगत रूप से बच्चों को ऐसी क्रियाओं का अभ्यस्त बनाये, जो सामग्री के वास्तविक आत्मसात्करण में सहायक होती है। आरंभ में यह सीखने की रफ्तार धीमी तो कर देता है। किंतु समुचित शैक्षिक क्रियाओं के आधार पर ही स्कूली छात्र आगे चलकर विभिन्न विषयों की विशद सामग्रियों को सही सही और पूर्ण रूप में पुनर्प्रस्तुत कर सकते हैं। अध्ययनों से पता चलता है कि कतिपय संकल्पनाओं और रीतियों के आत्मसात्करण में जो गंभीर कठिनाइयां सामने आती है, उनमें से कई प्रायः इस कारण पैदा होती है कि बच्चे जब इन संकल्पनाओं और रीतियों को सीख रहे थे उस समय उन्हें सभी आवश्यक शैक्षिक क्रियाओं से अवगत नहीं किया गया था।

नियत्रणमूलक क्रिया की विशेषताए

शैक्षिक स्थितियो मे समीचीन कार्य के लिए एक और प्रकार की क्रिया – नियत्रणमूलक क्रिया – भी आवश्यक है। बच्चे को अपनी शैक्षिक क्रियाओ तथा उनके परिणामो को दिये हुए प्रतिमानो मे सहसबधित करना और इन परिणामो की गुणवत्ता को सपादित शैक्षिक क्रियाओ के स्तर तथा पूर्णता के साथ जोडना आना चाहिए। नियत्रणमूलक क्रिया की बदौलत छात्र मालूम कर सकता है कि प्रतिमान की कमजोर अथवा बिल्कुल खराब पुनरावृत्ति और उसकी स्वय की शैक्षिक क्रियाओ की कमियो के बीच अन्योन्याश्रयी सबध है। इन कमियो को दूर करके (नयी क्रियाओ अथवा उनकी मक्रियाओ का समावेश करके उन्हे अधिक परिष्कृत ढग से सपन्न करके आदि) आत्मसात्करण के परिणामो को सुधारा और उन्हे आवश्यक मानको के स्तर तक पहुचाया जा सकता है। आरभ मे नियत्रण मे मुख्य भूमिका अध्यापक की होती है। शनै शनै बच्चे स्वय ही अपनी क्रियाओ के परिणामो को उन क्रियाओ के प्रतिमानो से सहसबधित करने, उनके बीच मौजूद अतरो के कारणो का पता लगाने और शैक्षिक क्रियाओ मे परिष्कार करके इन अतरो को मिटाने लग जाते है। इस तरह उनमे आत्मसात्करण की प्रक्रिया पर स्वय नियत्रण रखने की आदत पैदा होती है।

नियत्रण के रूप अनेकानेक हो सकते है। सबसे महत्त्वपूर्ण दो रूप है १) निष्पादित क्रियाओ के उपलब्ध परिणामो के विश्लेषण के आधार पर नियत्रण और २) केवल बौद्धिक धरातल पर की गयी क्रियाओ के अनुमानित परिणामो के आधार पर नियत्रण। नियत्रण की आवश्यकता और उसके सपादन की युक्तिया आरभ मे अध्यापक दिखाता है। उदाहरण के लिए, पहली कक्षा के बच्चे ने कोई अक्षर लिखा है। अध्यापक उसे अलग अलग हिस्सो मे बाटता है और बच्चे को उनमे से कुछ का प्रतिमान से अतर दिखाता है ('यह हिस्सा उतना गोल नही है जितना कि होना चाहिए" आदि), अतर को शैक्षिक क्रिया की कमी से जोडता है (यहा तुम रेखा से नही हटे यहा ठीक जगह पर नही मुडे , आदि)। इसी प्रकार का कार्य अन्य पाठो मे भी किया जाता है। सभी मामलो मे अध्यापक का प्रयास होता है कि

शैक्षिक क्रियाओं बताया जाता है। क्रियाएं तीन किस्म की हैं: १) वस्तु-गत क्रिया (किसी वस्तु, या सामग्री को किसी दूसरी वस्तु के साथ तुलना, संबंध का पता लगाना) २) वाक्-मूलक क्रिया (बात-चीत करना या लिखना) ३) बौद्धिक क्रिया (ज्ञान परिणाम का सारी परिवर्तित रूप में मस्तिष्क करना)।

अध्यापन करते समय अध्यापक के मस्तिष्क में इन सामान्य और विशिष्ट शैक्षिक क्रियाओं का पूरा सातत्य का स्पष्ट चित्र होना चाहिए जिनसे सारे बच्चे किन्हीं संकल्पनाओं का रीतियों को अथवा शिक्षा सामग्री के किसी अंश को आत्मसात् करता है। प्रारंभिक कक्षाओं में शिक्षा का सभी आवश्यक शैक्षिक क्रियाएं अवश्य सिखायी जानी चाहिए। उनके बिना सामग्री का आत्मसात्करण शिक्षा सविस्तार में सफल न होगा। यहीं पर इनकी पूर्ति की सुविधा अथवा संकल्पनाओं के शाब्दिक विवरण का रट लेने पर आधारित औपचारिक आत्मसात्करण मात्र होगा।

यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि प्रारंभिक कक्षाओं में बच्चे पढ़कर, छाप और सीधे शाब्दिक स्मरण के आधार शिक्षा सामग्री को आत्मसात् करना ही चाहिए करता है। आरंभ में मध्य आवश्यक शैक्षिक क्रियाओं (उदाहरणार्थ सामग्री का अभ्यासानुसार वर्गीकरण मुख्य मुद्दों का पहचानना) की सचेतनतापूर्ण पूर्ति के मुकाबले आसान भी होता है किंतु अध्यापक का कर्तव्य है कि इस स्वतःस्फूर्त प्रवृत्ति को रोके और विशिष्ट शैक्षिक क्रियाओं के भीतर ही सुसंगत रूप में बच्चों को उन्हीं क्रियाओं का अभ्यस्त बनाये जो सामग्री के वास्तविक आत्मसात्करण में सहायक होती हैं। आरंभ में यह सीखने की रफ्तार धीमी कर देता है। किंतु समुचित शैक्षिक क्रियाओं के आधार पर ही स्कूली छात्र आगे चलकर विभिन्न विषयों की विशद सामग्रियों को सही-सही और पूर्ण रूप से पुनःप्रस्तुत कर सकते हैं। अध्ययनों से पता चलता है कि कतिपय संकल्पनाओं और रीतियों के आत्मसात्करण में जो गंभीर कठिनाइयां सामने आती हैं उनमें से कई प्रायः इस कारण पैदा होती हैं कि बच्चे जब इन संकल्पनाओं और रीतियों को सीख रहे थे उस समय उन्हें सभी आवश्यक शैक्षिक क्रियाओं से अवगत नहीं किया गया था।

नियत्रणमूलक क्रिया की विशेषताए

शैक्षिक स्थितियो म समीचीन कार्य के लिए एक और प्रकार की क्रिया – नियत्रणमूलक क्रिया – भी आवश्यक है। बच्चे को अपनी शैक्षिक क्रियाओ तथा उनके परिणामो को दिये हुए प्रतिमानो से सहमबधित करना और इन परिणामो की गुणवत्ता को सपादित शैक्षिक क्रियाओ के स्तर तथा पूर्णता के साथ जोडना आना चाहिए। नियत्रणमूलक क्रिया की बदौलत छात्र मालूम कर सकता है कि प्रतिमान की कमजोर अथवा बिल्कुल खराब पुनरावृत्ति और उसकी स्वय की शैक्षिक क्रियाओ की कमियो के बीच अन्योन्याश्रयी सबध है। इन कमियो को दूर करके (नयी क्रियाओ अथवा उनकी सक्रियाओ का समावेश करके, उन्ह अधिक परिष्कृत ढग से सपन्न करके आदि) आत्मसात्करण के परिणामो का सुधारा और उह आवश्यक मानको के स्तर तक पहुचाया जा सकता है। आरभ मे नियत्रण मे मुख्य भूमिका अध्यापक की होती है। शनै शनै बच्चे स्वय ही अपनी क्रियाओ क परिणामो को उन क्रियाओ व प्रतिमानो से सहसबधित करने उनके बीच मौजूद अतरो के कारणो का पता लगाने और शैक्षिक क्रियाओ म परिष्कार करके इन अतरो को मिटान लग जाते हैं। इस तरह उनमे आत्मसात्करण की प्रक्रिया पर स्वय नियत्रण रखने की आदत पैदा होती है।

नियत्रण क रूप अनेकानेक हो सकते है। सबसे महत्त्वपूर्ण दो रूप है १) निष्पादित क्रियाओ के उपलब्ध परिणामो क विश्लेषण के आधार पर नियत्रण और २) केवल बौद्धिक धरातल पर की गयी क्रियाओ के अनुमानित परिणामो क आधार पर नियत्रण। नियत्रण की आवश्यकता और उसके सपादन की युक्तिया आरभ म अध्यापक दिखाता है। उदाहरण क लिए, पहली कक्षा क बच्चे ने कोई अक्षर लिखा है। अध्यापक उसे अलग अलग हिस्सो मे बाटता है और बच्चे को उनम से कुछ का प्रतिमान से अतर दिखाता है ('यह हिस्सा उतना गोल नही है जितना कि होना चाहिए , आदि), अतर को शैक्षिक क्रिया की कमी से जोडता है ("यहा तुम रेखा से नही हटे यहा ठीक जगह पर नही मुडे' आदि)। इसी प्रकार का कार्य अन्य पाठो मे भी किया जाता है। सभी मामलो मे अध्यापक का प्रयास होता है कि

मूल्यांकनपरक क्रियाओं की विशेषताएं

नियन्त्रण शिक्षा सक्रियता के एक अन्य घटक—मूल्यांकन—से भी घनिष्ठ रूप में जुड़ा हुआ है। मूल्यांक [illegible] में परिणामों की भौतिक स्थितियां [illegible] ओं से [illegible] असंगति का दर्ज करता है। आरंभ [illegible] है, क्योंकि [illegible] में स्वयं नियन्त्रण का संगठन [illegible] नियन्त्रण की आदत [illegible] लगता है। छात्र में स्व [illegible]

कि वह किन्ही कृत्यको को पूरा करने की सामान्य रीति जानता है या नही। मूल्याकन के स्वरूप पर शिक्षा कार्य का सगठन निर्भर होता है। यदि मूल्याकन अनुकूल, सकारात्मक है, तो इसका मतलब है कि दत्त शैक्षिक स्थिति की उपयोगिता समाप्त हो गयी है और दूसरी सामग्री पर आया जा सकता है। अथवा यही बात विपरीत क्रम मे। परवर्ती हालत मे अध्यापक को पहले की शैक्षिक स्थिति के अधिक आशिक तथा विशिष्ट रूपभेद कल्पित करने होगे जो क्रियाओ और रीतियो के अलग अलग पहलुओ मे दक्षता की ही अपेक्षा करते हैं।

स्कूलो मे मूल्याकन को प्राय छात्र को मिलनेवाले अको का पर्याय मान लिया जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह उचित नही है। मूल्याकन आत्मसात् किये जाने या न किये जाने को ही दर्ज नही करता, बल्कि परवर्ती के कारणो को भी दर्शाता है, छात्र को अपनी कमिया दूर करने और तब तक काम करते रहने के लिए प्रेरित करता है जब तक कि काम मे कोई दोष न रह जाये। मूल्याकन दो ही प्रकार का होता है – सकारात्मक और नकारात्मक। इसके अनुसार ही किसी शैक्षिक स्थिति की अनावश्यकता अथवा पूर्ववत् आवश्यकता निर्धारित की जाती है। इसके विपरीत अको की कई श्रेणिया होती है और सामान्यत उनका सश्लेषात्मक स्वरूप होता है। अक किसी शैक्षिक स्थिति के बीच मे किये जा रहे कार्य के लिए भी दिये जाते है और उसके दौरान किये गये सारे कार्य के लिए भी। अको मे बच्चे की मेहनत, पाठ के दौरान उसकी अनुशासनबद्धता, आदि प्रतिबिंबित होती है (यहा तक कि सयोगवश सही उत्तर देने का तथ्य भी)। अक के ऐसे स्वरूप के कारण पाठ मे छात्र के समेकित कार्य के परिणामो को दर्ज करना सभव हो जाता है। शिक्षा सक्रियता के भीतर मूल्याकन का अधिक सकीर्ण अभिप्राय होता है। वह सारगर्भित और गुणात्मक अभिलेखन करता है (अमुक-अमुक चीज तो है, पर अमुक-अमुक चीज अभी नही है) किंतु श्रेणीपरक अभिलेखन नही जो परिमाणात्मक तुलना के लिए ही उपयोगी है। अक और मूल्याकन के वास्तविक व जटिल सबधो का अध्ययन अभी जारी है। किंतु प्राथमिक कक्षाओ के बच्चो की शिक्षा सक्रियता का मनोविज्ञान आज भी दिखाता है कि शिक्षा कार्य की युक्तिया सीखे जाने मे भी और मेहनत की आदत डाले जाने म भी

अको की भूमिका को अति महत्त्व नही दिया जाना चाहिए। कहीं अधिक उचित यह होगा कि बच्चो की शैक्षिक क्रियाओ की अवस्था के सारगर्भित अभिलेखन के साधन के रूप मे मूल्याकन की मनोवैज्ञानिक सभावनाओ को इस्तेमाल किया जाये। इस प्रकार के अभिलेखन के आधार पर प्राथमिक कक्षाओ के छात्रो मे शिक्षा सक्रियता के आधारभूत घटको का अधिक सोद्देश्य विकास किया जा सकता है।

§३ शिक्षा सक्रियता का विकास

शिक्षा सक्रियता की प्रक्रिया अनेक सामान्य नियमो से नियन्त्रित होती है। सबसे पहले आवश्यक है कि अध्यापक छात्रो को शैक्षिक स्थितियो मे नियमित रूप से अतर्भावित करे और उनके साथ मिलकर आवश्यक शैक्षिक क्रियाए और नियत्रण तथा मूल्याकन की क्रियाए भी ढूढ और प्रदर्शित करे। अपनी ओर से बच्चो को शैक्षिक स्थितियो का प्रयोजन समझना और सभी क्रियाओं को सुसगत रूप से दोहराना चाहिए। दूसरे शब्दो मे, एक नियम यह है कि प्राथमिक कक्षाओ मे अध्यापन की सारी प्रक्रिया बच्चो के शिक्षा सक्रियता के मुख्य घटक समझान के आधार पर गठित की जाती है और बच्चो को उनके सक्रिय क्रियान्वयन मे प्रवृत्त किया जाता है।

कभी कभी अध्यापक को प्रतीत हो सकता है कि बच्चो का शिक्षा सामग्री से ऐसा विशद और लबा साक्षात्कार निरर्थक है। किंतु बात ऐसी है नही। शैक्षिक स्थिति की पूर्वापेक्षाओ (ठोस, व्यावहारिक कृत्यका की पूर्ति की कठिनाइया, उनके विश्लेषण की सामान्य रीति की खोज की आवश्यकता) और उसकी भूमिका का विस्तृत उद्घाटन ही बच्चो की सज्ञानमूलक क्रियाशीलता और पढाई मे उनकी रुचि के विकास की एक सबसे महत्त्वपूर्ण शर्त है।

बच्चो को शैक्षिक क्रियाओ का काम विस्तार से और शनै शनै समझाया जाना चाहिए, उनम म उन क्रियाओ को विशेषत इगित किया जाना चाहिए जिन्हे वस्तु, वालन अथवा मस्तिष्क के धरातल पर सपन्न किया जाना है। साथ ही ऐसी परिस्थितिया बनाना भी

जरूरी है, जिनमे कि वस्तुमूलक क्रियाए बौद्धिक रूप ग्रहण कर सके और वे पर्याप्त सामान्यीकृत सक्षिप्त तथा आत्मसात्कृत भी हो। यदि कोई कार्य करते हुए बच्चे फिर भी गलतिया करते है तो यह या तो उन्ह बतायी गयी शैक्षिक क्रियाओ नियत्रण और मूल्याकन के अधूरेपन को द्योतित करता है या फिर इन क्रियाओ को यथोचित ढग मे न किये जाने को।

पहली दूसरी कक्षाओ मे बच्चे शैक्षिक स्थितियो मे अध्यापक क सीध बाह्य निर्देशो के आधार पर काम करते है। किंतु दूसरी कक्षा क अत से और तीसरी कक्षा मे शनै शनै हम पाते है कि बच्चे शिक्षा सक्रियता के कुछ घटको को आत्मनियत्रण के जरिये पूरा करते है। सबमे पहले वे मूल्याकन की क्रिया की अतर्वस्तु तथा प्रयोजन को हृदय गम करते है और उस क्षण को पहचानने लगते है, जब कृत्यक की पूर्ति की सामान्य रीति का आत्ममात्करण पूरा होता है। अपने अतर्बोध से, किंतु पयाप्त सुतथ्यता के साथ वे जान जाते है कि उनमे किन्ही ठोस, व्यावहारिक कृत्यको को पूरा करने की कितनी योग्यता है। 'यह मैं कर सकता हू—हम इसे सीख चुके है' 'नही कर सकता—मुझे अभी मालूम नही कि ऐसा सवाल कैसे किया जाता है —अपने ज्ञान, अपनी योग्यता का ठीक मूल्याकन करने म समर्थ छात्रो के उत्तरो क ये ठेठ नमूने हैं। सामान्यत ऐसे छात्रो को स्वय ही मालूम रहता है कि किस काम के लिए उन्हे कैसे अक मिलेगे और क्यो मिलेगे।

सही मूल्याकन नियत्रण के स्तर से घनिष्ठ रूप से जुडा होता है। पहली दूसरी कक्षाओ के बच्चो मे प्राय अध्यापक या माता पिता की राय अथवा पुस्तक के अत मे दिये हुए उत्तरो के सहारे अपने परिणामो की तुरत पुष्टि करन की प्रवृत्ति लायी जाती है। यदि परिणाम त्रुटिपूर्ण होता है, तो व दुविधा मे पड जाते है और वयस्को के नये निर्देश पान का इतजार करते है। किंतु तीसरी कक्षा के बहुत से बच्चे ऐसा नही करते। वे प्रत्यक्ष सहायता पाने के लिए आतुर नही रहते बल्कि मन ही मन अथवा कार्यरूप मे सभी आवश्यक क्रियाओ को दोहराते हैं और इनके परिणामो मे अनुमान लगा लेत है कि उनसे कहा और क्यो गलती हुई थी यहा मैं यह क्रिया करना भूल गया था और इसी के कारण गलती हुई'। पूर्वनिष्पादित कृत्यको के परिणामो की निष्पादना

धीन क्रियाओ की विशेषताओ से स्वय ही तुलना करने की बच्चे की योग्यता दिखाती है कि उसकी शिक्षा सक्रियता मे स्वनियत्रण के आरभिक रूप उत्पन्न हो चुके है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है सभी शैक्षिक क्रियाओ की सरचना एकरूप नही होती। उनमे उन क्रियाओ का बडा महत्व है, जो अध्ययनगत वस्तुआ के मुख्य लक्षणो को पहचानने व अकित करने की सभावना देती है (माडलिग की क्रियाए)। बच्चो को किसी सामग्री से परिचित कराना शुरू करते ही अध्यापक इन क्रियाओ को विकसित करने पर विशेष ध्यान देने लग जाता है। वे पहली-तीसरी कक्षाओ मे विशेष तेजी से विकसित होती हैं जब बच्चो को बार-बार कहानी सक्षेप मे दोहराने निबध की रूपरेखा तैयार करने प्रश्न अथवा कृत्यक की शर्तो का सार लिखने आदि के लिए कहा जाता है। ऐसे मे यह कही अधिक उचित होता है कि पाठ के अलग अलग हिस्सो के अथवा राशियो के सहसबधो को द्योतित करने के लिए आरेखो और अक्षरात्मक फार्मूलो का व्यापक प्रयोग किया जाये। यदि तब बच्चे पढी हुई सामग्री का वर्णन करने के लिए सर्वाधिक अभिव्यजक साधन स्वय ही खोजने और पाने लगते हैं तो यह इसका प्रमाण है कि उनकी अपनी शिक्षा सक्रियता के विकास का स्तर काफी ऊचा हो चुका है।

बच्चा शैक्षिक स्थितियो मे काम करना पहली कक्षा मे शुरू कर देता है किंतु स्वय ही अपने सामने ठोस, व्यावहारिक कृत्यको की पूर्ति के पूर्वगामी शैक्षिक लक्ष्य रखने की योग्यता उसमे कही बाद मे पैदा होती है। प्राथमिक शिक्षा की प्रचलित विधिया ऐसी है कि यह योग्यता बडी कठिनाई से विकसित हो पाती है और वह भी प्राथमिक कक्षाओ के हर किसी बच्चे मे नही। वह निम्न ढग से प्रकट होती है। बच्चे को कुछ ठोस, व्यावहारिक कृत्यक दिये जाते है। वह पहले तो उनकी पूर्ति की सामान्य रीति खोजने का प्रयास करता है और परीक्षण प्रणाली द्वारा हर कृत्यक को अलग से पूरा करने की कोशिश नही करता। दूसरे वह इस रीति को एक दो कृत्यको के विश्लेषण से ही पा लेता है जो अब उसके लिए उनकी शर्तो के सामान्य सबधो के सैद्धातिक विवेचन का विषय बन जाते हैं। ठोस व्यावहारिक कृत्यको को सामान्यीकृत प्रतिमानो मे बदलने की योग्यता मे स्कूली छात्र

की शिक्षा सक्रियता के विकास का सर्वोच्च स्तर व्यक्त होता है।

इससे यह भी प्रकट होता है कि बच्चे मे ज्ञानार्जन की सच्ची चाह है। वास्तव मे, बच्चा जब कोई ठोस और विशिष्ट परिणाम पाने के लिए ही लालायित नही होता, बल्कि दत्त वर्ग के सभी परिणाम पाने की सामान्य रीति खोजना चाहता है, तो यह इसी का प्रमाण है कि वह अध्ययनगत वस्तु के सारभूत सबधो व सपर्को को समझने का इच्छुक है। पढने की इच्छा और योग्यता के मूल मे यही प्रवृत्ति निहित होती है। यदि यह प्रवृत्ति आरभिक स्कूली आयु मे ही उचित जडे नही जमा पाती तो आगे चलकर मेहनत और लगन कुछ भी हर्षदायी और प्रभावी शिक्षा का मानसिक स्रोत नही बन सकता। ऐसा स्रोत स्वय शिक्षा विषयो (भाषा, गणित रसायनशस्त्र इतिहास आदि) की गूढ अतर्वस्तु को समझने की आकाक्षा ही बन सकती है। इस आकाक्षा का जन्म और सुदृढीकरण काफी हद तक तीसरी चौथी कक्षाओ के छात्रो की रुचियो के सामान्य दायरे मे प्रतिबिबित होता है। इन कक्षाओ के बच्चे अपना काफी सारा समय खेलो मे ही व्यतीत नही करते (हालाकि उनका आपेक्षिक गुरुत्व फिर भी अधिक होता है), बल्कि विश्वभ्रमण, वैज्ञानिको तथा कलाकारो से सबधित विशेष साहित्य पढने छोटे मोटे यत्र बनाने वनस्पति सग्रह करने आदि मे भी लगाते हैं। इन सबसे प्राप्त ज्ञान प्राय उनके स्कूली पाठ्यक्रम का अग नही होता है।

इस प्रकार सारी आरभिक स्कूली आयु के दौरान शिक्षा के प्रति बच्चो के सबध मे एक निश्चित परिवर्तन-सरूप दिखायी देता है। आरभ मे वे उसके प्रति इसलिए आकृष्ट होत है कि वह सामान्यत एक सामाजिक दृष्टि से उपयोगी सक्रियता है। इसके बाद शिक्षा के कुछ खास ढग तरीके उन्ह आकृष्ट करते है। अत मे वे स्वय ही ठोस व्यावहारिक कृत्यको को सामान्यीकृत कृत्यको मे रूपातरित करन और शिक्षा सक्रियता की गूढ अतर्वस्तु मे रुचि लेने लग जाते हैं। शिक्षा सक्रियता के विकास के नियमो का अध्ययन आधुनिक बाल तथा शिक्षा मनोविज्ञान की एक सर्वोपरि और साथ ही काफी कठिन समस्या है।

§४ प्राथमिक कक्षाओ के बच्चो की श्रम सक्रियता की मनोवैज्ञानिक विशेषताए

पढाई बच्चो की अन्य सक्रियताओ को वर्जित नही ठहराती है। इन अन्य सक्रियताओं मे इस आयु वर्ग के लिए विशिष्ट दो श्रम रूपो – अपना काम स्वय करना (स्वयसेवा) और छोटी मोटी चीजे बनाना – का खास तौर पर बडा स्थान है। देहाती स्कूलो मे बच्चे यदा-कदा उत्पादक श्रम मे भी भाग लेते हैं।

स्वयसेवा की आदत बच्चो मे स्कूलपूर्व आयु से ही पडने लग जाती है। प्राथमिक कक्षाओ मे इस आदत का सुदृढीकरण और विकास बच्चो को वयस्को के श्रम का आदर करना, लोगों के जीवन मे श्रम की भूमिका समझना और दीर्घ नागरिक श्रम के लिए तैयार रहना सिखाने के लिए अच्छा मानसिक आधार है। घर मे और स्कूल मे ऐसी परिस्थितिया बनायी जानी चाहिए जिनमे कि बच्चा अपने काम स्वय करने की एव एतदसबधी अपने दायित्वो की आवश्यकता का तीव्रता पूर्वक अनुभव कर सके। उदाहरणार्थ बच्चे से साफ-सुथरा रहने की अपेक्षा करने के साथ साथ ऐसी परिस्थितिया बनायी जाय कि वह अपने कपडो तथा अन्य चीजो को स्वय ही (निस्सदेह, यथाशक्ति) सुव्यवस्थित ढग से रखने को बाध्य हो जाये। स्कूल मे बच्चों को नियमित रूप से ऐसे काम सौंपे जाने चाहिए जिनका सारे समुदाय के लिए एक खास महत्व होता है (कक्षाभवन मे झाडू लगाना, डेस्क पोछना गमलो मे पानी डालना आदि) और जिन्हे पूरा करना जरूरी भी है चाहे इसके लिए कभी इच्छा हो या न हो और कितनी भी थकावट क्यो न लगी हो। स्वयसेवा के मामले मे कडाई और उसका सुचारु सगठन प्राथमिक कक्षाओ के बच्चो मे सामूहिक श्रम मे भाग लेने और याद दिलाये बिना भी उसमे यथाशक्ति योग देने की आदत डालने के लिए जरूरी है। प्राथमिक कक्षाओ मे यदि बच्चो मे ऐसी आदत नही डाली जाती, तो आगे चलकर उनमे श्रम के प्रति प्रेम पैदा करना काफी कठिन और कभी कभी तो असभव भी बन जाता है।

गिक्षा और पालन की दृष्टि मे स्कूली स्वयसेवा के वे रूप भी वडे महत्त्वपूर्ण है जिनका निष्पादन करते हुए वच्चे सयुक्त सामूहिक कार्य मे सम्मिलित होते हैं। वे एक दूसरे को सहारा और सहायता देना सीखत है साझे कार्यों को गभीरता से लेने लगते है और काम को समय पर तथा ईमानदारी से पूरा करने की अपनी जिम्मेदारी को समझने लगते है।

आरभिक स्कूली आयु के अधिकाश बच्चे श्रम कक्षाओ मे सहर्ष जाते है जहा वे अपने हस्तलाघव का प्रदर्शन कर सकते है और जहा किसी कृत्यक को पूरा करते हुए एक के बाद एक करके कई तरह की क्रियाए करनी पडती है। बच्चो को इससे बहुत सतोष मिलता है कि वे अपने ही हाथो से जरूरी और उपयोगी चीजे बना रहे है (मिसाल के लिए श्रम कक्षा मे बनाये हुए खिलौने पास के किसी किंडरगार्टन के बच्चो को भेट किये जा सकते हैं)। यह सब श्रम प्रेम और उत्तर-दायित्व की भावना सिखाने मे सहायक होता है। अपने हाथो से खिलौनो, आदि का निर्माण विभेदित और समन्वित आगिक क्रियाओ के विकास के लिए और पेशीय अनुभूति के आधार पर व देखकर इन क्रियाओ का नियत्रण करना सीखने के लिए भी बडा महत्त्व रखता है।

श्रम के पाठो का एक और महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक परिणाम होता है। उनम वच्चे अपने भावी काम की योजना बनाना और फिर उसके क्रियान्वयन के तरीके और साधन ढूढना सीखते हैं। बेशक यह योग्यता अन्य पाठो से भी बढती है, किंतु सर्वाधिक स्पष्ट और प्रकट अपेक्षाओ को ध्यान मे रखते हुए बच्चा काम तभी करता है, जब वह किसी निश्चित लक्ष्य से कोई वस्तु बना रहा हो। वह किसी मामूली सी भी सक्रिया को भूला नही या उसने कोई गलत औजार इस्तेमाल किया नही कि इस सबका उसके काम के परिणाम पर तुरत प्रभाव पड जायेगा। इसलिए श्रम की कक्षाओ म बच्चा अपनी क्रियाओ के क्रम को पहले से ही तय कर लेने और उनके लिए आवश्यक औजारो को तैयार करने की योग्यता बडी तेजी से अर्जित करता है।

६५ आरंभिक स्कूली आयु मे मानसिक नवनिर्मितिया

प्राथमिक कक्षाओ के बच्चो के मानस का विकास उनकी मुख्य सक्रियता – पढ़ाई – के आधार पर होती है। पढ़ाई के दौरान बच्चे अपने को शनै शनै उसकी अपेक्षाओं के अनुकूल बनाते हैं। इन अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए बच्चे मे कुछ ऐसे मानसिक गुणो का होना जरूरी है जो कि स्कूलपूर्व आयु के बच्चे मे नही होते। प्राथमिक कक्षाओ के बच्चो मे ये नये गुण उनकी शिक्षा सक्रियता के विकास के साथ पैदा और विकसित होते है।

कक्षा मे एक साथ शिक्षण तभी सभव होता है, जब सभी बच्चे एक साथ अध्यापक को सुनते और उसके निर्देशो का पालन करते हैं। इसलिए हर छात्र को ऐसे शिक्षण की अपेक्षाओ के अनुरूप अपने ध्यान को नियत्रित करना सिखाया जाता है। बच्चो का खिडकी की ओर देखने का मन कर रहा है, जहा चिडिया चहचहा रही हैं किंतु सवाल को हल करने की नयी रीति को सुनना जरूरी है, और मात्र सुनना ही नही उसकी सभी तफसीलो को भली भाति याद कर लेना भी, ताकि अगले रोज के लिए दिये हुए सवाल ठीक से हल किये जा सकें। शनै शनै इस 'जरूरी' को ध्यान मे रखना और अपने व्यवहार पर नियत्रण रखना मानसिक प्रक्रियाओ के एक विशिष्ट गुण के तौर पर सकल्प के विकास मे सहायक होते है। सकल्प सचेतन ढग से क्रियाओ को लक्ष्य निर्धारित करने और सभी कठिनाइयो तथा बाधाओ को पार करते हुए उनकी प्राप्ति के साधन जान बूझकर खोजने तथा पाने की योग्यता मे प्रकट होता है।

विभिन्न विषयो से सबधित कृत्यक पूरा करते समय बच्चे सामान्यत उनके निष्पादन के सर्वोत्तम तरीके ढूढते है, क्रियाओ के विविध विकल्प चुनते है तथा उनकी तुलना करते हैं और उनके क्रम तथा पूर्ति साधनो की योजना बनाते हैं (मानस के स्तर पर किया जानेवाला यह सारा कार्य श्रम के पाठो मे विशेष स्पष्टता के साथ प्रकट होता है)। बच्चा अपनी क्रियाओ के जितने ही 'कदमो' की पूर्वकल्पना कर लेगा और उनके विभिन्न विकल्पो को तौल लेगा, उतनी ही सफलतापूर्वक वह

कृत्यक के वास्तविक निष्पादन का नियत्रण कर सकेगा। शिक्षा सक्रियता मे नियत्रण तथा आत्मनियत्रण की आवश्यकता और इसी तरह उसकी कुछ अन्य विशेषताए भी (जैसे क्रियाए कर लेने के बाद उनका वर्णन करना, मूल्याकन आदि) प्राथमिक कक्षाओ के बच्चो मे **स्वगत तौर पर, मानसिक धरातल पर** अपनी क्रियाओ को नियोजित और पूरा करने की योग्यता के पैदा होने मे सहायक होती है।

शिक्षा सक्रियता की एक मुख्य अपेक्षा यह है कि बच्चा अपने कथनो और क्रियाओ के औचित्य को सभी पहलुओ से सिद्ध करे। इसके अनेक तरीके अध्यापक बताता है। बच्चे मे जब तक अपने विचारो और क्रियाओ को तटस्थ व्यक्ति की भाति देखने और आकने की योग्यता नही आती तब तक वह न तर्कों म भेद कर सकता है, न तर्क करने की स्वतत्र कोशिशे ही कर मकता है। यह योग्यता ही मानस के एक महत्त्वपूर्ण गुण -- **अनुचिंतन** -- को जन्म देती है जिसकी बदौलत विचारो तथा क्रियाओ का सक्रियता के प्रयोजन तथा परिस्थितियो के साथ उनकी सगति की दृष्टि से विवेकपूर्ण तथा वस्तुपरक विश्लेषण सभव बनता है।

सकल्प, क्रियाओ की मानसिक योजना और अनुचिंतन -- ये आरभिक स्कूली आयु वर्ग के बच्चे के मानस की मुख्य नवनिर्मितिया हैं। इनकी बदौलत बच्चे का मानस विकास के उस स्तर पर पहुच जाता है जो कि आगे माध्यमिक स्कूल मे शिक्षा पाने के लिए और कैशोर्यावस्था के सामान्य सक्रमण के लिए आवश्यक होता है। प्राथमिक कक्षाओ के कतिपय बच्चों का माध्यमिक शिक्षा के लिए तैयार न होने का कारण अधिकाशत यही होता है कि उनम मानसिक प्रक्रियाओ तथा स्वय शिक्षा सक्रियता के स्तर को निर्धारित करनेवाले इन सामान्य गुणो और योग्यताओ का समुचित विकास नही हो पाता है।

§६ प्राथमिक कक्षाओ के बच्चो की सज्ञानमूलक प्रक्रियाओ का विकास

प्रत्यक्षण का विकास

कतिपय मानसिक प्रक्रियाओ का विकास सारी ही आरभिक स्कूली आयु म होता रहता है। यद्यपि स्कूल मे प्रवेश के समय तक प्रत्यक्षण

की प्रक्रियाएं काफी विकसित हो चुकी होती हैं (मिसाल के लिए, दृष्टि और श्रवण शक्ति काफी तीव्र बन जाती है और बच्चे विभिन्न आकृतियों और रंगों को अच्छी तरह पहचानने लग जाते हैं), फिर भी आरंभ में शिक्षा सक्रियता में उनका प्रत्यक्षण आकृतियों और रंगों को पहचानने और बताने तक ही सीमित रहता है। पहली कक्षा का बच्चा वस्तुओं के इंद्रियगोचर गुणों तथा विशेषताओं का क्रमबद्ध विश्लेषण नहीं कर पाता। यह बात कई विशेष प्रयोगों में साफ-साफ दिखायी दी है। उदाहरणार्थ, पहली कक्षा के छात्रों को एक रंगीन घड़ा दिया गया और कहा गया कि उसे देख-देखकर उसका चित्र बनाये। बच्चों ने उसकी सरसरी जांच की और फिर तुरंत चित्र बनाने में जुट गये। चित्र बनाते समय उन्होंने एक बार भी उसकी ओर निगाह उठाकर नहीं देखा। चित्रों में जो घड़े बने, वे विविध आकारों और आकृतियों के थे और कुछ मामलों में तो एक दूसरे से बेहद भिन्न भी थे। स्पष्टतः बच्चे आकृति का विश्लेषण करना नहीं जानते थे। यही बात घड़े के रंग के मामले में भी दिखायी दी। बच्चे उस रंग को पहचानते थे और उसका नाम भी बता सकते थे। किंतु चित्र बनाते समय उन्होंने उसकी ठोस विशेषताओं को बिल्कुल अनदेखा कर दिया। पहली कक्षा के बच्चों के प्रत्यक्षों में वस्तुओं की विशेषताओं में भेद न करने का दोष तितलियों को पहचानने तथा वर्गीकरण करने के प्रयोगों के दौरान भी दिखायी दिया।

इंद्रियगोचर वस्तुओं का विश्लेषण करने और उनका भेद पहचानने की क्षमता एक ऐसी सक्रियता के विकास से जुड़ी हुई है, जो वस्तुओं के कुछेक प्रत्यक्ष गुणों को अनुभव करने और उनका अंतर जानने से भी ज्यादा जटिल है। इसे प्रेक्षण सक्रियता कहते हैं। वह स्कूली शिक्षा के दौरान ही विशेष तेज़ी से बढ़ती है। कक्षा में बच्चे को प्रत्यक्षण से संबंधित कृत्यक दिये जाते हैं और बाद में वह स्वयं भी ऐसे कृत्यक निर्धारित करने लगता है। इसकी बदौलत प्रत्यक्षण सोद्देश्य बन जाता है। अध्यापक बच्चों को वस्तुओं और परिघटनाओं की जांच के तरीके (उनके गुणों को पहचानने का क्रम, हाथ और आंख की गति की दिशा, आदि) दिखाता है, उनके गुणों का वर्णन करने के साधन (चित्र, खाका, शब्द, आदि) बताता है। इसके बाद बच्चा स्वयं ही

प्रत्यक्षण के कार्य की योजना बना सकता है और मुख्य को गौण स अलग करके, गोचर लक्षणो का सोपान क्रम निर्धारित करके और समानता के अनुसार उन्हे विभेदित करके इस योजना को इच्छानुरूप साकार कर सकता है। ऐसा प्रत्यक्षण सज्ञानमूलक सक्रियता के अन्य रूपो (ध्यान, चितन) के साथ सश्लेषित होकर सोद्देश्य और साभिप्राय प्रेक्षण का रूप ले लेता है। प्रेक्षण शक्ति का पर्याप्त विकास हो जाने पर बच्चे की सूक्ष्मदर्शिता उसके व्यक्तित्व का गुण बन जाती है। अध्ययन दिखाते है कि प्राथमिक शिक्षा के दौरान सभी छात्रो मे इस महत्त्वपूर्ण गुण को काफी अधिक विकसित किया जा सकता है।

ध्यान का विकास

स्कूल जाना शुरू करने से पहले बच्चा सोद्देश्य ध्यान से परिचित नही होता। उसका ध्यान ऐसी कोई भी चीज आकृष्ट कर लेती है जो उसे प्रत्यक्षत रुचिकर लगती है, जो चमकीली भडकीली या असाधारण है (अनभिप्रेत ध्यान)। किंतु स्कूल मे पहले ही दिन से बच्चे को ऐसी वस्तुओ पर ध्यान देना पडता है और ऐसी बात आत्मसात करनी पडती है, जिनमे हो सकता है कि उस समय उसकी रुचि कतई न हो। शनै शनै वह मात्र बाह्यत आकर्षक वस्तुओ पर नही बल्कि आवश्यक वस्तुओ पर भी ध्यान देना और टिकाये रखना सीखता है। दूसरी-तीसरी कक्षाओ मे बहुत से छात्रो मे साभिप्राय ध्यान की आदत पड जाती है और अध्यापक द्वारा समझाये जा रहे अथवा पुस्तक मे चर्चित विषय पर ध्यान एकाग्र रखना वे सीख लेते हैं। साभिप्राय ध्यान यानी ध्यान को इरादतन किसी लक्ष्य पर केंद्रित करने की योग्यता प्राथमिक कक्षाओ के बच्चे की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

जैसा कि अनुभव दिखाता है, साभिप्राय ध्यान की आदत के विकास के लिए बच्चे की क्रियाओ का सुचारु बाह्य सगठन और उसे ऐसे प्रतिमानो एव ऐसे बाह्य साधनो से परिचित कराना बहुत महत्त्व रखते है, जिन्हे प्रयोग करके वह अपनी चेतना को निदेशित कर सकता है। उदाहरणार्थ किसी विशिष्ट उद्देश्य से ध्वन्यात्मक विश्लेषण म ध्वनियो एव उनके क्रम के निर्धारण के लिए ऐसे बाह्य साधनो का

प्रयोग बडी भूमिका निभाता है जैसे, मिसाल के लिए, गत्ते के गोल टुकडे। उन्हे सुनिश्चित क्रम से रखना बच्चे को अपने ध्यान पर नियत्रण रखना सिखाता है और जटिल तथा सूक्ष्म ध्वन्यात्मक सामग्री से वास्ता पडने पर एकाग्रचित्त बने रहने मे मदद देता है।

बच्चे का आत्मानुशासन उस सगठन का परिणाम होता है, जिसे पहले वयस्क विशेषत अध्यापक बनाता और निदेशित करता है। ध्यान के विकास की सामान्य दिशा यह होती है कि बच्चा अध्यापक ने उसके सामने जो उद्देश्य रखा है उसकी प्राप्ति से स्वय अपने सामने रखे हुए लक्ष्य की नियमित प्राप्ति की ओर बढता है।

पहली कक्षा के बच्चे का साभिप्राय ध्यान अस्थिर रहता है, क्योकि वह आत्मनियमन के आतरिक साधनो से परिचित नही होता। इसलिए अनुभवी अध्यापक तरह-तरह की और बच्चो को न थकानेवाली विधियो का सहारा लेता है (जैसे विभिन्न तरीको से मौखिक हिसाब सवालो का हल और उसकी जाच लिखित परिकलनो की किसी नयी रीति को समझाना इन परिकलनो को करने का अभ्यास आदि)। पहली दूसरी कक्षाओ के बच्चो का ध्यान बौद्धिक क्रियाओ के बजाय बाह्य क्रियाए करते हुए अधिक स्थिर रहता है। अध्यापक को इस विशेषता से भरपूर लाभ उठाना चाहिए और बौद्धिक अभ्यास करवाने के साथ साथ आरेखण चित्राकन माडलिग एप्लीक का काम, आदि भी करवाते रहना चाहिए। मामूली लेकिन नीरस काम करते हुए प्राथमिक कक्षाओ के बच्चे का ध्यान जितना बटता है, उतना उन कृत्यको को पूरा करते हुए भी नही बटता जिनके लिए जटिल तथा तरह-तरह की रीतियो और तरीको के प्रयोग की जरूरत होती है।

ध्यान का विकास ध्यान की मात्रा बढने और उसे विभिन्न प्रकार की क्रियाओ के बीच विभाजित करने की योग्यता पर भी निर्भर होता है। इसलिए शैक्षिक कृत्यक ऐसे पेश किये जाने चाहिए कि बच्चा अपनी क्रियाए करते हुए साथियो के काम पर भी नजर रख सके और रखे। उदाहरण के लिए कोई दिया हुआ पाठ पढते हुए उसे अन्य छात्रो के व्यवहार को लखते रहना चाहिए। गलती होने पर वह साथियो की नकारात्मक प्रतिक्रिया देखेगा और गलती को सुधारने की कोशिश करेगा। कुछ बच्चे कक्षा म ' अनमने ' इसलिए होते हैं कि अपने ध्यान का

ठीक से विभाजित करना नही जानते और एक काम करते हुए दूसरे कामो को भूल जाते है। अध्यापक को विविध शिक्षा कार्यों का सगठन ऐसे करना चाहिए कि बच्चे कक्षा के एक साथ कार्य के लिए तैयार होते हुए एक साथ कई प्रकार की क्रियाओ (आरभ मे बेशक अपेक्षया सामान्य क्रियाओ) पर नजर रखना जाने।

स्मरण शक्ति का विकास

पहली बार स्कूल की देहरी पर कदम रखनेवाला बच्चा ऊपरी तौर पर आकर्षक और सवगात्मक दृष्टि से प्रभावोत्पादक घटनाओ वर्णनो और कहानियो को ज्यादातर शब्दश याद कर लेने की कोशिश करता है। किंतु स्कूली जीवन ऐसा होता है कि वह शुरू से ही बच्चो से सामग्री को सचेतन ढग से स्मरण करने की अपेक्षा करता है। स्कूली बच्चो को दिनचर्या आचरण के नियम और घर के लिए दिये हुए कृत्यक विशेषत याद रखने चाहिए और उनसे अपने व्यवहार मे निदेशित होना अथवा कृत्यक को कक्षा म भी करके दिखाना सीखना चाहिए। बच्चो मे स्मृतिक कृत्यको मे अतर करने की क्षमता पैदा हो जाती है। इनमे से कुछ कृत्यको के लिए सामग्री को कठस्थ करना आवश्यक होता है और कुछ के लिए केवल अपने शब्दो मे दोहराना आदि। प्राथमिक कक्षाओ के बच्चो की स्मरण-शक्ति की उत्पादकता उनके द्वारा स्मृतिक कृत्यक के स्वरूप को समझे जाने और स्मरण तथा पुनर्प्रस्तुति के आवश्यक तरीको तथा रीतियो मे प्रवीणता पाने पर निर्भर होती है।

आरभ मे बच्चे सबसे सामान्य रीतिया ही इस्तेमाल करते है जैसे सामग्री को कई हिस्सो मे बाटकर बार-बार दोहराना (सामग्री का यह विभाजन अर्थानुसार नही किया जाता)। ऐसे मे स्मरण के परिणामो का स्वय ही नियत्रण केवल चाक्षुष पहचान के स्तर पर होता है। पहली कक्षा का बच्चा पाठ को देखता है और पाता है कि वह उसको याद है क्योकि वह उसे "जाना पहचाना" लगता है। बहुत कम बच्चे ही साभिप्राय स्मरण के अधिक युक्तिसगत तरीको को स्वय सीख पाते है। अधिकाश बच्चो को इसके लिए स्कूल म और घर पर विशेष

और दीर्घ प्रशिक्षण देना पडता है। इसका एक उपाय है बच्चे म सामग्री का अर्थ समझकर याद करने की आदत डालना (सामग्री का अर्थानुसार इकाइयो म विभाजन अर्थानुसार वर्गीकरण, अर्थानुसार तुलना, आदि)। दूसरा उपाय है ठहर-ठहरकर दोहराना और स्मरण क परिणामो का स्वय ही नियत्रण करना सिखाना। अर्थानुसार इकाइया म विभाजन का तरीका रूपरेखा बनाने पर आधारित होता है। इसे तभी सिखा दिया जाना चाहिए जब बच्चे किसी चित्र अथवा सुनी हुई कहानी की अतर्वस्तु को मौखिक रूप मे ही दोहराते है। यह जरूरी है कि अर्थानुसार पृथक्कृत इकाइयो की सापेक्षता भी बच्चे को तुरत प्रदर्शित कर जाये। कुछ मामलो मे इकाइया बडी हो सकती हैं और कुछ मामलो मे छोटी।

विशद और सक्षिप्त रूपरेखा बनान से सबधित कार्य पहली कक्षा के उत्तरार्ध म जब बच्चे पढने और लिखने म समर्थ बन जाते हैं, बडा महत्त्व रखता है। दूसरी-तीसरी कक्षाओ मे अकगणित और व्याकरण से सबधित लबे-लबे पाठोवाली सामग्री के आधार पर यह कार्य आग जारी रखा जाता है (उदाहरण के लिए तीसरी कक्षा के छात्र अक गणित के सवालो जिनके पाठ म कई तरह की शर्तें उल्लिखित होती हैं के हल की विशद रूपरेखाए बनाते है)। अब बच्चो से इकाइयो को पृथक् करन और पहचानने की ही नही अपितु सामग्री को अर्थानुसार वर्गीकृत करन – उसके मुख्य घटको को जोडने, परस्पर सबद्ध बनान आधारिकाओ तथा निष्कर्षो को विभाजित करने, इन या उन तथ्यो को तालिका मे दर्ज करन आदि – की भी अपेक्षा की जाती है। ऐसा वर्गीकरण पाठ के कुछ हिस्सो से सहजतापूर्वक दूसरे हिस्सो पर आन और उनकी तुलना करन की योग्यता से जुडा होता है। वर्गीकरण के परिणामो की लिखित रूपरेखा बना ली जानी चाहिए जो सामग्री को हृदयगम करने के आगामी चरणो के भी और उसक हिस्सो की परस्पर सबद्धता की विशेषताओ क भी भौतिक वाहक का काम करेगी। आरभ म लिखित रूपरेखा और फिर उसक मानसिक चित्र के आधार पर बच्चे विभिन्न पाठो की अतर्वस्तु को सही-सही पुनर्प्रस्तुत कर सकते हैं।

प्राथमिक कक्षाओ क बच्चो को पुनर्प्रस्तुति क तरीके सिखान क लिए विशेष प्रयास आवश्यक है। सबसे पहले अध्यापक बच्चो को सामग्री

के अलग-अलग हिस्सो (अर्थानुसार हिस्सो) को बोलकर अथवा मन ही मन पुनर्प्रस्तुत करना सिखाता है। बडे अथवा जटिल पाठ के अलग अलग हिस्सो की पुनर्प्रस्तुति मे समय का अतराल रखा जा सकता है (पाठ पढने के बाद तुरत दोहराना अथवा कुछ अतरालो के बाद दोहराना)। इस कार्य की प्रक्रिया मे अध्यापक बच्चो को रूपरेखा कुतुबनुमा की भाति इस्तेमाल करने की उपयोगिता दिखाता है।

सामग्री का अर्थानुसार वर्गीकरण, उसके अलग-अलग हिस्सो की तुलना और रूपरेखा का निर्माण आरभ मे बच्चो द्वारा साभिप्राय स्मरण की युक्तियो के तौर पर सीखे जाते है। जब वे उनमे प्रवीण बन जाते हैं, उनकी मनोवैज्ञानिक भूमिका बहुत बदल जाती है वे सुविकसित अनभिप्रेत स्मरण का आधार बन जाते है जो प्राथमिक शिक्षा के अत मे भी और आगे चलकर भी ज्ञानार्जन की प्रक्रिया मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

शिक्षा सक्रियता के भीतर विकास की प्रक्रिया मे अनभिप्रेत और साभिप्राय स्मरण का अनुपात बदलता रहता है। पहली कक्षा मे अनभिप्रेत स्मरण साभिप्राय स्मरण के मुकाबले कही ज्यादा प्रभावी होता है क्योकि अभी बच्चो मे सामग्री का अर्थ की समझ पर आधारित ससाधन करने और स्वय नियत्रण की आदत नही पडी होती है। इसके अलावा अधिकाश कृत्यको को करते हुए बच्चे सुसगत मानसिक सक्रियता दिखाते है हालाकि वह अभी आसान और आदत का अग नही बनी होती है। इसलिए ज्ञान के हर नय तत्त्व पर खूब सोचा विचारा जाता है। मनोविज्ञान सिद्ध कर चुका है कि सबसे अच्छी तरह याद वही चीज रहती है जो चितन सक्रियता का विषय और लक्ष्य रही है। स्पष्ट है कि ऐसी परिस्थिति मे अनभिप्रेत स्मरण का ही पलडा भारी सिद्ध होगा।

ज्यो-ज्यो सोच समझकर याद करने और स्वयनियत्रण की आदत पडती है, दूसरी और तीसरी कक्षाओ के बच्चो की साभिप्राय स्मृति अनेक मामलो मे अनभिप्रेत स्मृति स अधिक उत्पादक सिद्ध होन लगती है (इसके अलावा गणित और व्याकरण की क्रियाए करने की कई रीतिया जब तक बच्चो के लिए मामूली बात बन जाती हैं)। किंतु यह प्रवृत्ति स्थायी नही होती। इसके बाद स्मरण-शक्ति की प्रक्रियाओ

मे फिर गुणात्मक मानसिक परिवर्तन आ जाता है। बच्चे सामग्री व तार्किक समाधन की युक्तियो को जिनके वे आदी बन चुके होते हैं अब सामग्री के बुनियादी सबधो म पैठने के लिए, उनके गुणो का विशद विश्लेषण करने के लिए यानी ऐसी सारगर्भित सक्रियता के लिए इस्तेमाल करने लगते हैं जिसमे 'स्मरण" का प्रत्यक्ष कृत्य गौण बन जाता है। किंतु इसके दौरान होनेवाले अनभिप्रेत स्मरण के फिर भी बडे अच्छे परिणाम निकलते है क्योकि सामग्री के सभी घटक उनके विश्लेषण वर्गीकरण और तुलना की प्रक्रिया म छात्रो की क्रियाओ के प्रत्यक्ष प्रयोजन थे। तार्किक युक्तियो पर आधारित अनभिप्रेत स्मरण को प्राथमिक शिक्षा के दौरान सभी प्रकार से इस्तेमाल किया जाना चाहिए। शिक्षण प्रक्रियाओ म स्मृति के परिष्कार का यह एक बुनियादी स्रोत है।

आरभिक स्कूली अवस्था में स्मृति के अनभिप्रेत और साभिप्राय दोनो रूपो म ऐसे गुणात्मक परिवर्तन आते है जिनकी बदौलत उनके बीच घनिष्ठ परस्पर सबध कायम हो जाते है और अन्योन्यांतरण होने लगता है। यह महत्त्वपूर्ण है कि इनमे से हर रूप बच्चो द्वारा परिस्थिति के अनुरूप इस्तेमाल किया जाये (उदाहरणार्थ किसी पाठ को कठाग्र करते हुए मुख्यत साभिप्राय स्मृति इस्तेमाल की जाती है)। ऐसा नही सोचना चाहिए कि केवल साभिप्राय स्मरण से ही पाठ्य सामग्री का पूर्ण आत्मसात्करण होता है। वह अनभिप्रेत स्मरण की मदद से भी हो सकता है यदि ऐसा स्मरण सामग्री के तार्किक अर्थबोधन के साधनो का सहारा ले। पाठ्य-सामग्री का तार्किक ससाधन अत्यत तेजी से हो सकता है और दूसरे आदमी को कभी-कभी लगता है कि बच्चा नयी जानकारियो को मानो स्पज की तरह अपने मे सोख रहा है। किंतु वास्तव म इसके पीछे बहुत सी क्रियाए निहित होती है। उन्हे करने के लिए विशेष प्रशिक्षण आवश्यक होता है, जिसके बिना स्मरण शक्ति असस्कृत और असगठित ही रहती है यानी 'खराब स्मरण शक्ति' बनी रहती है जब बच्चे विशेष छानबीन वर्गीकरण और तुलना के बिना सीधे सीधे याद कर लेने की ही कोशिश करते है। पाठ का समुचित ढग से ससाधन करने की युक्तियो का निर्माण 'अच्छी स्मरणशक्ति' बनाने का सबसे कारगर साधन है।

पहली से तीसरी कक्षा तक शब्द रूप से [illegible] को याद करने की क्षमता जितनी तेजी से बढ़ती है [illegible] सूचनाए याद करने की क्षमता नहीं बढ़ती। [illegible] है कि बच्चों में समझ-बूझकर याद करने की [illegible] होती है। यह आदत [illegible] बुनियादी संबंधों के [illegible] होती है। [illegible] प्रक्रिया के लिए स्मृति में [illegible] होता है। इसलिए [illegible] और दृश्य दोनों ही [illegible] विकसित की जानी चाहिए।

कल्पना का विकास

नियमित शिक्षा सक्रियता बच्चों में कल्पना जैसी महत्त्वपूर्ण मानसिक योग्यता का विकास करने में भी [illegible] है। प्राथमिक कक्षाओं में छात्र अध्यापक या पाठ्य-पुस्तकों से जो भी जानकारियां पाते हैं वे अधिकांशतः शाब्दिक वर्णन, चित्र और [illegible] के रूप में होती हैं। इन्हें देखने सुनने या पढ़ने [illegible] (कहानी के पात्रों का व्यवहार, [illegible] अपरिचित [illegible], ज्यामितीय आकृतियों का [illegible]) [illegible] मानस पटल पर पुनर्सृजित [illegible] है।

इस प्रकार की [illegible] में होता है। आरंभ में पुनर्सृजित [illegible] होते हैं। उनमें मूल [illegible] क्योंकि उनमें वस्तुओं के [illegible] और उनके [illegible] संबंधों का अंकन नहीं पाते [illegible] निर्माण के लिए शाब्दिक वर्णन अथवा चित्र ([illegible] निश्चित) आवश्यक होते हैं। [illegible] में देखने में आता है। [illegible] की तादाद बढ़ जाती है। [illegible] मुख्यतया उनमें स्वयं [illegible]

के पुनर्सृजन का परिणाम होता है। पहली कक्षा के छात्र किसी गतिशील वस्तु की मात्र आरभिक और अतिम स्थिति की ही कल्पना कर पाते है। किंतु तीसरी कक्षा का छात्र पाठ म सीधे-सीधे उल्लिखित अथवा स्वय गति क स्वरूप के अनुसार आपाद्य कई सारी मध्यवर्ती स्थितिया की भी कल्पना कर लेता है। वह प्रत्यक्ष वर्णन अथवा किसी खास मूर्तीकरण के बिना भी, मात्र स्मृति अथवा सामान्य ग्राफीय खाके की मदद से यथार्थ के बिंब पुनर्सृजित कर सकता है। उदाहरणार्थ, वह पाठ के बिल्कुल आरभ से सुनी हुई कहानी को अपने ही शब्दो म विस्तार से दोहरा या लिख सकता है अथवा गणित के ऐसे सवाल हल कर सकता है जिसकी शर्तें अमूर्त ग्राफीय खाको के रूप म पेश की गयी थी।

आरभिक स्कूली आयु मे पुनर्सृजनात्मक कल्पना (पुनरभिव्यक्ति कल्पना) का विकास निम्न योग्यताओ के विकास से जुडा होता है एक वस्तुओ की उन आपाद्य दशाओ को जानने और चित्रित करने की क्षमता जो उनके वर्णन मे प्रत्यक्षत निर्दिष्ट नही हैं, किंतु तर्कानुसार उनसे निगमित होती है और, दो, कुछेक वस्तुओ, उनके गुणो और स्थितियो की सोपाधिकता को समझने की क्षमता (उदाहरणार्थ, किसी घटना के वस्तुत न घटने पर भी सोपाधिक रूप से उसके घटने की कल्पना की जा सकती है और फिर उतने ही सोपाधिक रूप से उसके परिणामो का भी पता लगाया जा सकता है)।

पुनर्सृजनात्मक अथवा पुनरभिव्यक्ति कल्पना यथार्थ के बिंबो का ससाधन करने मे समर्थ होती है। उसकी बदौलत बच्चे कहानी के कथानक को मोड दे सकते है, कालक्रम मे घटनाओ का वर्णन कर सकते हैं कुछ वस्तुओ को सामान्यीकृत सक्षिप्त रूप मे चित्रित कर सकते हैं (इसमे अर्थमूलक स्मरण का अभ्यास काफी हद तक सहायक होता है)। बहुत बार बिंबो का ऐसा परिवर्तन तथा सयोजन सायोगिक और शैक्षिक प्रक्रिया की दृष्टि से अनुचित होता है, हालांकि इससे बच्चे की कल्पना करने की और वस्तुओ के प्रति सवेगात्मक रवैया दिखाने की आवश्यकता अवश्य पूरी हो जाती है। इन मामलो म बच्चो को अपनी मनगढतो की पूर्ण सोपाधिकता का स्पष्ट अहसास होता है। वस्तुओं और उनके मूल से सबधित जानकारियो को बच्चा ज्यो ज्यो आत्मसात् करता जाता है त्यो-त्यो बिंबो के बहुत स सयोजन

साधार और तर्कपरक बनते जाते है। इसके साथ ही बच्चा या तो सुप्रकट शाब्दिक रूप मे या फिर सूझ बूझ के स्तर पर इस प्रकार से तर्क करना सीखता है "यदि अमुक अमुक काम किया जाये तो ऐसा अवश्य होगा"। प्राथमिक कक्षाओ के छात्रो का किन्ही वस्तुओ के मूल और रचना की परिस्थितियो को इगित करने का प्रयास उनमे पुनर्सृजनात्मक कल्पना के विकास की एक अत्यत महत्त्वपूर्ण मानसिक पूर्वापेक्षा है।

श्रम की कक्षाए इस पूर्वापेक्षा के निर्माण मे सहायक होती है। इन कक्षाओ मे बच्चे किसी वस्तु को बनाने की अपनी योजना को साकार बनाना सीखते हैं। इसमे उन्हे चित्रकारी की कक्षाओ से भी बडी मदद मिलती है, जिनमे बच्चे पहले चित्र की मानसिक स्तर पर कोई योजना बनाना और फिर उसे साकार बनाने के सबसे अभिव्यक्तिपूर्ण साधन को खोजना सीखते है।

चितन का विकास

प्राथमिक कक्षाओ के बच्चो के चितन के विकास मे भी दो मुख्य चरण पाये जाते हैं। पहले चरण (वह लगभग पहली और दूसरी कक्षाओ का सपाती होता है) मे उनकी चितन सक्रियता काफी कुछ स्कूलपूर्व आयु के बच्चो के चितन के समान होती है। इस चरण मे शैक्षिक सामग्री का विश्लेपण मुख्यतया ऐंद्रिक क्रियामूलक सक्रियता के रूप मे किया जाता है। इसमे बच्चे या तो यथार्थ वस्तुओ या फिर उनके साक्षात् प्रतिस्थापको – चित्रो आदि – का अवलब लेते हैं। ऐसे विश्लेपण को व्यावहारिक क्रियात्मक अथवा ऐंद्रिक विश्लेपण कहा जाता है।

पहली-दूसरी कक्षाओ के बच्चे वस्तुओ और स्थितियो के बारे मे प्राय काफी एकागी ढग से, उनके किसी एक वाह्य लक्षण को ध्यान मे रखकर ही सोचते हैं। उनके निष्कर्ष प्रत्यक्ष म दत्त ऐंद्रिक पूर्वापेक्षाओ पर अवलबित होते है। निष्कर्ष की पुष्टि भी तार्किक चितन के आधार पर नही वल्कि अभिकथनो को प्रत्यक्षीकृत तथ्यो से सीधे-सीधे जोडकर की जाती है। मिसाल के लिए, उसका रूप कुछ यो होता है क ने

फूलो मे पानी नही डाला वे सूख गये, जबकि ख न पानी डाला था और वे नही सूखे। फूल ताजे रहे और ठीक मे बढे, इसके लिए उनम प्राय पानी डालत रहना चाहिए।

इस चरण मे बच्चो द्वारा किये जानवाले सामान्यीकरण वस्तुओ क स्थूल (उपयोगितापरक और प्रकार्यात्मक) लक्षणो के प्रबल "दबाव" के तहत होते हैं। ऐसे अधिकाश सामान्यीकरण वस्तुओ तथा परिघटनाओ के सतहो और इसलिए मूर्त रूप म प्रत्यक्षीकृत लक्षणो तथा गुणो का अकित करते है। उदाहरणार्थ 'म' विभक्ति चिह्न के अर्थ को दूसरी कक्षा के बच्चे उन मामलो मे कही जल्दी और आसानी से समझ जाते है जब वह किसी मूर्त ठोस वस्तु से सबद्ध होता है (जैसे 'प्लेट मे सेब) बजाय इसके कि जब वह किसी अमूर्त चीज स सबद्ध होता है (जैसे हाल क दिनो मे अथवा 'स्मृति मे")।

प्राथमिक कक्षाओ के छात्रो को प्रकृतिज्ञान भूगोल और इतिहास की आधारिक बातो की जानकारी यो दी जाती है कि उनके द्वारा किये जानेवाले सामान्यीकरण ठोस स्थितियो क प्रेक्षण पर उनके विस्तृत शाब्दिक चित्रण से परिचय पर ज्यादा से ज्यादा अवलबित हो। ऐसी सामग्री की तुलना करके बच्चे मिलते जुलते बाह्य लक्षणो को पहचान लेते है और उन्हे तदनुरूप शब्दो स द्योतित करने लगते हैं (जैसे नगर पहाड, युद्ध आदि)। ज्ञान के पूर्ण सामान्यीकरण का मुख्य मानदड बच्चे की ऐसा कोई ठोस दृष्टात देने की योग्यता है, जो प्राप्त ज्ञान से मेल खाता हो। प्राथमिक कक्षाओ के बच्चो के चितन की ये विशेषताए प्राथमिक शिक्षा म दृश्य विधियो के उपयोग के सिद्धात को व्यापक रूप से इस्तेमाल मे लाये जाने का आधार बनती हैं।

नियमित शिक्षा सक्रियता की बदौलत तीसरी कक्षा के आरभ तक बच्चो के चितन का स्वरूप बदल जाता है। चितन के विकास का दूसरा चरण इन परिवर्तनो से ही जुडा हुआ है। पहली तथा दूसरी कक्षाओ मे ही अध्यापक बच्चो को उनके द्वारा आत्मसात् किये जा रहे ज्ञान के अलग-अलग तत्त्वो के बीच मौजूद सबधो स परिचित कराने पर विशेष ध्यान देने लग जाता है। सकल्पनाओ के बीच ऐसे सबध निरूपित करने की अपेक्षा रखनवाले कृत्यको का परिमाण वर्ष प्रतिवर्ष बढता ही जा रहा है। तीसरी कक्षा तक बच्चा सकल्पनाओ के विभिन्न

लक्षणो के बीच सामान्य तथा विशिष्ट सबधो को पहचान जाता है अर्थात वर्गीकरण करना सीख लेता है (जैसे "मेज सज्ञा है)। बच्चे अपने उत्तरो के रूप मे अध्यापक को निरतर बताते रहत है कि किसी वर्गीकरण को वे कितना और कहा तक समझ पाये हैं। उदाहरणार्थ तीसरी कक्षा मे अध्यापक के पूछने पर कि "अतप्रत्यय क्या होता है? , छात्र उत्तर देता है अतप्रत्यय वाक्य मे शब्द को अन्य शब्दो मे जोडने का कार्य करता है।

बच्चो को अनाज की सकल्पना से परिचित कराने के लिए पाठ्य पुस्तक मे बालियो और पौधो का चित्र बना होता है और अध्यापक सचमुच की बालिया और पौधे लाकर दिखाता है। एक निश्चित योजना के अनुसार उनकी विशेषताओ की जाच और विश्लेपण करके बच्चे बाह्य रूप के अनुसार इन वनस्पतियो मे अतर करना सीखते है उनके प्रयोजन और बोवाई समय को याद रखते है, दूसरे शब्दो मे, 'अनाज की सकल्पना को हृदयगम करते हैं। इसी प्रकार वे मिसाल के लिए, पालतू जानवरो खेत बाग वन, जलवायु आदि सकल्पनाओ को भी आत्मसात करते है।

स्कूली बच्चो के वस्तुओ तथा परिघटनाओ के लक्षण तथा गुण विपयक निष्कर्षो के आधार मे सामान्यतया यथार्थ वस्तुए ऐंद्रिक चित्र और वर्णन निहित होते है। किंतु साथ ही ये निष्कर्ष पाठ के विश्लपण उसके अलग-अलग हिस्सो की मानसिक तुलना, इन हिस्सो म मुख्य बातो को मानसिक तौर पर अभिलक्षित तथा एक सवागपूर्ण चित्र म समेकित करन और, अतत सभी विशिष्ट तत्त्वो को एक, कुछ हद तक नये, प्रत्यक्ष स्रोत से पृथक्कृत तथा अमूर्त ज्ञान का रूप धारण कर चुके निष्कर्ष मे सामान्यीकृत करने का परिणाम होत हैं। "पतझड मे बोयी हुई और सरदियो मे बर्फ से ढकी रहनवाली अनाज की फसल शीतकालीन फसल कहलाती है"—इस तरह का अमूर्त निष्कर्ष अथवा सामान्यीकृत ज्ञान ऐसी बौद्धिक विश्लेषणात्मक व सश्लेषणात्मक सक्रियता का ही फल है।

वस्तुओं तथा परिघटनाओ का वर्गीकरण करन की योग्यता आ जाने से बच्चे बौद्धिक सक्रियता क नय जटिल रूप सीखन लग जाते है। बौद्धिक सक्रियता धीरे-धीरे दृष्टि प्रत्यक्ष म निमग्न होकर

एक अपेक्षया स्वतत्र अपनी विशिष्ट युक्तियो तथा रीतियोवाली प्रक्रिया बन जाती है।

दूसरे चरण के अत तक अधिकाश छात्र तब तक बन चुकी धारणाओ के अनुरूप और उनके बौद्धिक विश्लेषण तथा सश्लेषण के जरिये सामान्यीकरण करने लग जाते है। अध्यापक द्वारा विस्तार से समझाना और पाठ्य पुस्तक मे दिये हुए निबध, कथाए, आदि कई मामलो म इसके लिए सर्वथा पर्याप्त होते है कि वस्तुरूप सामग्री का प्रत्यक्ष सहारा लिये बिना सकल्पनाओ को हृदयगम किया जा सके। ऐसे निष्कर्षो की सख्या बढती जाती है जिनमे दृश्य पहलू कम से कम होते है और वस्तुए उनके न्यूनाधिक सारभूत सबधो के अनुसार अभिलक्षित की जाती है।

आरभिक स्कूली आयु के बच्चो के बौद्धिक विकास की प्रच्छन्न क्षमताए

वर्तमान काल में अध्यापक और मा बाप भी प्राय पाते हैं कि सात-आठवर्षीय बच्चे कभी-कभी वस्तुओ के बारे मे सामान्य जानकारी से ही सतुष्ट नही हो पाते। वे यह भी जानना चाहते है कि वे (वस्तुए) वैसी क्यो है कैसे बनायी गयी हैं, क्यो बतायी गयी हैं, वगैरह। ऐसी जिज्ञासा स्कूलपूर्व आयु के बच्चो मे भी होती है, किंतु व सामान्य तथा किसी भी उत्तर से सतुष्ट हो जाते है।

आरभिक स्कूली आयु के बच्चो के मामले म ऐसा नही होता। अपनी सारी जीवन व्यवस्था की बदौलत किताबो पत्र पत्रिकाओ, रेडियो, टेलीविजन और वयस्को से प्राप्त ज्ञान की बदौलत वे बहुत बार सायोगिक सतही स्पष्टीकरण से सहमत नहीं हो पाते हैं और ऐसा उत्तर चाहते हैं, जो परिवेश से सबधित उनकी काफी हद तक विकसित धारणाओं मे मेल खाता हो। आज का सातवर्षीय बच्चा अपने प्रश्नो का अपने पहले के समवयस्क की तुलना मे कही अधिक पूर्ण, विस्तृत और सटीक उत्तर मागता है। स्पष्ट है कि स्कूल इस तथ्य की उपेक्षा नही कर सकता। उसे बच्चे के सैद्धातिक चितन के इन भ्रूण रूपो का ध्यान म रखना विकसित करना और परिवेश की बहुत

सी वस्तुओ के अस्तित्व के कारणो तथा परिस्थितियो का समुचित स्पष्टीकरण देना ही पडता है। अत यह जरूरी है कि प्राथमिक कक्षाओ के बच्चो को ठोस बिबात्मक चितन के साथ साथ शनै शनै **अमूर्त** चितन की, जो वस्तुओ तथा परिघटनाओ के कारणो तथा मूलो को खोजता है और उनके **स्पष्टीकरण** की माग करता है सामान्यतया युक्तिया भी सिखायी जाये।

सोवियत एव विदेशी मनोविज्ञानवेत्ताओ तथा शिक्षाशास्त्रियो का अनुभव बताता है कि आज के सात दसवर्षीय बच्चो के सबध मे वे मापदड सर्वथा अनुपयुक्त हैं जिनसे इस आयु वर्ग के बच्चो के चितन-विकास को **अतीत** मे मापा जाता था। आज के इस आयु-वर्ग के बच्चे की **वास्तविक बौद्धिक क्षमताए कहीं बडी तथा व्यापक हैं**। विशेष **प्रायोगिक** सस्थाओ मे मनोविज्ञानवेत्ता बच्चो की बौद्धिक क्षमताओ का अध्ययन कर रहे ह, ताकि इस आयु वर्ग के बच्चे के चितन के विकास के लिए सर्वाधिक अनुकूल परिस्थितियो का पता लगाया जा सके। विशेषत यह पाया गया है कि कुछ खास तरह की परिस्थितिया बनाये जाने पर प्राथमिक कक्षाओ के बच्चे गणित तथा मातृभाषा से सबधित ऐसी अमूर्त सैद्धातिक सामग्री को भी सफलतापूर्वक हृदयगम कर लेते है जो पहले के पाठ्यक्रमो मे बिल्कुल भी शामिल नही थी और वर्तमान पाठ्यक्रमो मे भी केवल आशिक तथा स्थूल रूप से सम्मिलित की गयी है। अत शिक्षा प्रक्रिया का गठन यो किया जाना चाहिए कि हर बच्चे के सर्वागीण बौद्धिक विकास के लिए इन क्षमताओ से सक्रिय लाभ उठाया जा सके।

सोवियत सघ के प्राथमिक शिक्षा के वर्तमान पाठ्यक्रम प्राथमिक कक्षाओ के बच्चो की वास्तविक सज्ञानात्मक क्षमताओ के व्यावहारिक उपयोग की दिशा मे पहले प्रयास हैं। इन पाठ्यक्रमो मे छात्रो का दिये जानेवाले ज्ञान के **सैद्धातिक** पक्ष को यानी जिसके लिए परिघटनाओ के स्पष्टीकरण और सबध निर्धारण (सामान्यीकरण) की जरूरत पडती है उसको काफी गहन तथा व्यापक बनाया गया है। इससे बच्चे तार्किक ढग से सोचने की अमूर्त चितन की सामान्य किन्तु महत्त्वपूर्ण युक्तियो के अभ्यस्त बनते है। पहली नजर मे नयी सामग्री बच्चो के 'बस के बाहर' लग सकती है। किंतु अधिकाश मामलो मे ऐसी

आयाग व्यर्थ है। शिक्षण विधियां यदि ठीक हों और अध्यापक की पर्याप्त कुशल हो तो बच्चे नये पाठ्यक्रम को आत्मसात् करने में कोई कठिनाई अनुभव नहीं करते। असल में जीवन का तब तक का सारा अनुभव उन्हें इसके लिए तैयार कर चुका होता है।

§7 प्राथमिक कक्षाओं में बच्चों के व्यक्तित्व का विकास

नैतिक मानकों और आचार-व्यवहार के नियमों का आत्मसात्करण

बच्चे की नैतिक शिक्षा स्कूलपूर्व आयु में ही आरंभ हो जाती है। किंतु जहां तक ऐसी नैतिक अपेक्षाओं की स्पष्ट और विशद प्रणाली का प्रश्न है जिनके पालन पर निरन्तर और सोद्देश्य ढंग से नज़र रखी जाती है तो उससे उसका प्रथम साक्षात्कार स्कूल में पहुंचने पर ही होता है। स्कूल में उसे आचार-व्यवहार के काफी व्यापक नियमों तथा मानकों से अवगत किया जाता है और विभिन्न स्थितियों में अध्यापकों तथा वयस्कों के साथ व्यवहार में, कक्षा में और कक्षा के बाहर साथियों के साथ संबंधों में सार्वजनिक स्थलों पर और घर के बाहर उसे इनसे निर्देशित होना पड़ता है। सात-आठ वर्ष का बच्चा मानसिक दृष्टि से इस लायक होता है कि इन नियमों और मानकों को स्पष्टत समझ सके और अपने दैनंदिन जीवन में उनका अनुसरण भी करे। किंतु कभी कभी अध्यापकों तथा अन्य वयस्कों द्वारा उसकी इस तैयारी का समय पर लाभ नहीं उठाया जाता। उससे अपनी अपेक्षाएं तय करते हुए कभी कभी देर तक उन्हें समझाते रहते हुए वे हमेशा ही अपने आदेशों के वस्तुत पालन की सुसगत रूप से और कठोरता पूर्वक जांच भी नहीं करते। फलस्वरूप बच्चों को लगने लगता है कि आचार व्यवहार के नियमों तथा मानकों का पालन काफी हद तक वयस्कों की मन स्थिति पर स्थितियों पर और स्वयं उनकी अपनी इच्छा पर निर्भर होता है। इस तरह बच्चे के नैतिक चरित्र के सामान्य विकास का एक सबसे खतरनाक शत्रु पैदा हो जाता है यानी यह धारणा

कि आचार-व्यवहार के नियम तथा मानक मात्र औपचारिक होते है और उनका पालन आतरिक आवश्यकतावश नही अपितु बाह्य परिस्थितियो के दबाव से ही, जिनमे दड का भय भी शामिल है किया जाता है।

बच्चे द्वारा आचार-व्यवहार के नियमो तथा मानको के वास्तविक और पूर्ण आत्मसात्करण के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है कि अध्यापक के पास उनके पालन पर निगरानी रखने की सुविचारित विधिया और साधन हो। इन नियमो तथा मानदडो का स्पष्ट निर्धारण उनके नन के लिए प्रोत्साहन और उल्लघन तथा लापरवाही पर अनिवार्यत रूप प्रतिक्रिया प्राथमिक कक्षाओ के बच्चो मे अनुशासनप्रियता था सगठनबद्धता की भावना पैदा करने की आवश्यक शर्ते है। इस आयु मे बच्चे मे यदि ये नैतिक गुण उत्पन्न हो जाये तो फिर वे उसके व्यक्तित्व के अभिन्न अग बन जाते है।

प्राथमिक कक्षाओ के बच्चो के आपसी और अध्यापक के साथ सबध

सयुक्त शिक्षा सक्रियता की प्रक्रिया म बच्चो के बीच आपस मे नये सबध कायम होते है। स्कूल मे पहले कुछ सप्ताहो के बाद ही अधिकाश बच्चो का ढेर सारे नये अनुभवो के कारण उत्पन्न सकोच और घबडाहट जाते रहते है। वे अपनी डेस्क पर बैठे दूसरे बच्चे के व्यवहार को गौर से देखने लगते है और जो सहपाठी अच्छे लगते है अथवा जिनसे वे रुचिसाम्य पाते हैं उनसे दोस्ती कर लेते हैं। नये परिवेश, नये समुदाय म अपना स्थान खोजने के पहले चरणो म कुछ बच्चे अपने सामान्य स्वभाव के विपरीत व्यवहार करते पाये जाते है जैसे कुछ बच्चे अत्यधिक सकोची बन जाते हैं और कुछ जरूरत से ज्यादा उच्छृखल। किंतु अन्य बच्चो के साथ सपर्क बढते जाने पर हर छात्र अपनी वास्तविक वैयक्तिक विशेषताए विकसित कर लेता है।

प्राथमिक कक्षाओ के बच्चो के परस्पर सबधो की एक अनन्य विशेषता यह है कि उनकी दोस्ती आम तौर पर बाह्य जीवनीय परिस्थितियो और सायोगिक रुचियो की साम्यता पर आधारित होती है

की एक मुख्य विशेषता – साभिप्राय मानसिक प्रक्रियाओ का विकास – प्रकट होती है)। आरभिक स्कूली आयु के बच्चे स्कूलपूर्व आयु के बच्चो के मुकाबले और किशोरो के मुकाबले भी अधिक सतुलित स्वभाव होते है। उनकी हर्ष और उल्लाससूचक मनःस्थिति अधिक टिकाऊ और दीर्घकालिक होती है। इसके साथ ही इस आयु वर्ग के बच्चो मे कुछ नकारात्मक भावावस्थाए भी पायी जाती है, जिसका मुख्य कारण मागो, आवश्यकताओ और उनकी तुष्टि की सभावना के स्तरो के बीच अतर है। यदि अतर देर तक बना रहता है और बच्चा उसे दूर करने अथवा अल्पप्रभावी बनाने का साधन नही खोज पाता, तो नकारात्मक भावनाए क्रोध और क्षोभ से भरपूर कथनो और हरकतो के रूप मे व्यक्त हो जाती है। ऐसे सवेगात्मक सक्षोभो को रोकने के लिए अध्यापक को अपने छात्रो की वैयक्तिक विशेषताओ को अच्छी तरह जानना चाहिए। सतुष्टि जिज्ञासा और श्लाघा जैसी भावनाए स्वय शिक्षा सक्रियता के दौरान उत्पन्न होती हैं।

सोवियत प्राथमिक शिक्षा की सारी अतर्वस्तु का एक उद्देश्य बच्चो म सामूहिकता, अतर्राष्ट्रीयतावाद, कर्त्तव्यबोध ईमानदारी और श्रम प्रेम की भावनाए पैदा करना भी है। इसमे सोवियत स्कूली बच्चो के ' अक्तूबर के शिशु " नामक दल और "पायनीयर सगठन भी महत्त्व-पूर्ण भूमिका अदा करते है। इनमे बच्चे उन्ह सौपे गये कार्य के लिए निजी और सामूहिक उत्तरदायित्व का अनुभव पहली बार अर्जित करते हैं। ये सगठन बच्चो को निरतर अहसास कराते है कि उनकी शैक्षिक प्रगति पर नज़र रखी जा रही है।

अध्याय ५

किशोर की मानसिक विशेषताए

§१ बच्चे के विकास मे किशोरावस्था का स्थान और महत्त्व

किशोर आयु-वर्ग मे सामान्यत पाचवी से आठवी कक्षाओ, यानी ११-१२ से १४ १५ वर्ष तक की आयु के बच्चो को सम्मिलित किया जाता है।

बच्चे के विकास मे किशोर आयु की विशेष स्थिति उसके अन्य नामो मे प्रतिबिबित होती है जैसे 'सधि काल', "कठिन वय" सकट-काल आदि। ये नाम दिखाते है कि इस आयु मे घटनेवाली जीवन के एक दौर से दूसरे दौर मे सक्रमण से सबधित विकास प्रक्रियाए कितनी जटिल और महत्त्वपूर्ण है। **बाल्यावस्था से वयस्कता मे सक्रमण** ही इस आयु मे होनेवाले सारे विकास—शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक और सामाजिक विकास—की मुख्य अतर्वस्तु और विशिष्ट लक्षण है। **बच्चे के जीवन के सभी क्षेत्रो मे गुणात्मक रूप से नयी निर्मितियां पनपती हैं।** शरीर चेतना वयस्को तथा साथियो के साथ सबधो के प्ररूप उनके साथ सामाजिक अन्योन्यक्रिया की रीतियो रुचियो, सज्ञानमूलक तथा शिक्षा सक्रियता और व्यवहार, सक्रियता तथा सबधो को व्यवहित करनेवाले नैतिक तथा नीतिक मानदडो के पुनर्गठन के परिणामस्वरूप वयस्कता के नय तत्त्व प्रकट होते हैं।

किशोर के व्यक्तित्व के विकास का प्रमुख कारक उसकी अपनी महती सामाजिक क्रियाशीलता है, जो कुछ निश्चित प्रतिमानो तथा मूल्यो के आत्मसात्करण वयस्को तथा साथियो के साथ मनोवांछित

सबधो की स्थापना और, अतत, स्वय अपनी ओर (अपने व्यक्तित्व तथा अपने भविष्य को प्रक्षेपित करने और इरादो लक्ष्यो कार्यो आदि को साकार बनाने के प्रयत्नो की ओर) लक्षित होती है।

किंतु नये के पनपने की प्रक्रिया काफी दीर्घ होती है। वह कई परिस्थितियो पर निर्भर होती है और उसका सवत्र **एकरूप होना भी अनिवार्य नहीं है**। इसी कारण एक ओर तो किशोर मे "बचपना" और "वयस्कता" दोनो एक साथ पाये जाते हैं और दूसरी ओर, एक ही आयु के किशोरो मे वयस्कता के विभिन्न पहलुओ के विकास के स्तर भिन्न-भिन्न होते है। आज के स्कूली छात्रो की जीवन परिस्थितियो मे दो तरह की बात पायी जाती है १) वयस्कता के विकास मे **बाधक** (बच्चो का अन्य स्थायी और गभीर कामो के अभाव म केवल पढाई मे ही लगे रहना, बहुत से मा बाप का बच्चो पर घरेलू कामकाज चिताओ, आदि का कोई बोझ न डालना, हर बात मे उनकी सरपरस्ती करना), २) वयस्क बनने मे **सहायक** (सूचना का अपरिमित प्रवाह शारीरिक विकास और यौवनारभ का त्वरण, बहुत से मा बाप की अत्यधिक व्यस्तता और इसके फलस्वरूप बच्चो का जल्दी ही आत्मनिर्भर बनना)।

यह सब विकास को निर्धारित करनेवाली बहुत ही विविध परिस्थितियो को जन्म देता है और इस कारण वयस्कता के विभिन्न पहलुओ के विकास मे इतनी अधिक अनेकरूपता और गभीर अतर सामने आते है। उदाहरणार्थ, सातवी कक्षा मे अगर एक ओर ऐसे लडके पाये जाते है जो अभी बिल्कुल बच्चे हैं और जिनकी रुचिया बिल्कुल छोटे बच्चो जैसी है, तो दूसरी ओर, ऐसे लडके भी पाये जाते है जो काफी प्रौढ बन चुके है और वयस्क जीवन के कई पहलुओ से निकट परिचय पा चुके है, अगर एक ओर ऐसे लडके पाये जाते है, जो बौद्धिक है और जिनकी स्थिर, सारगर्भित रुचिया है, तो, दूसरी ओर कुछ लडके ऐसे भी होते हैं, जिनकी कोई रुचिया नही होती और जो शिक्षा सामग्री को भी हृदयगम नही कर पाते अगर एक ओर ऐसे लडके होते हैं जिन्हे खेलकूद और साथियो के साथ ज्यादा से ज्यादा समय बिताने का ही शौक है और जो भविष्य के बारे मे नही सोचते तो दूसरी ओर, ऐसे लडके भी पाये जाते है जो भावी पेशे

के लिए अपने को सचेतन रूप से अभी से तैयार करने लग गये हैं। इसी तरह कुछ लडकिया ऐसी होती है, जो बडी लगन से पढ़ती हैं तरह-तरह की बातो मे रुचि लेती है और कुछ लडकिया अपने को फैशन और लडको के बारे मे सोचने तक ही सीमित रखती हैं। कुछ बच्चे बिगडे हुए और सिर्फ अपने से मतलब रखनेवाले होते हैं, तो दूसरे खुद ही घर मे और बाहर औरो की मदद के लिए तत्पर रहते हैं।

किशोरो मे वयस्कता के विकास की सामान्य दिशाए भिन्न भिन्न हो सकती हैं और हर दिशा के भी अनेकानेक रूप हो सकते हैं। उदाहरण स्वरूप, एक ' बौद्धिक ' के लिए पुस्तकें और ज्ञान जीवन मे सर्वोपरि हो सकते है और बहुत सी अन्य बातो मे वह "बच्चा" ही रह सकता है मगर उसी का सहपाठी दूसरा "बौद्धिक" घर पर तो इलेक्ट्रानिकी की किताबे पढता है रेडियो तकनीक मे रुचि लेता है, मगर कक्षा मे कुछ नही करता अपनी शक्ल-सूरत सवारने और अपने से बड लडको के साथ मेलजोल बढाने की चिंता मे ही लगा रहता है, जिनके साथ जीवन के अर्थ से लेकर फैशन और नवीनतम केशसज्जा तक किसी भी बात पर चर्चा की जा सकती है। तीसरे प्रकार के ' बौद्धिक ' की वयस्कता उसकी बाह्य अभिव्यक्तियो मे खास आकर्षित नही करती, किंतु वह अपने मे पुरुषत्व के गुणो के विकास पर बडा ध्यान देता है और जहा तक लडकियो का सबध है तो उनके सामने उनकी राय म नटखट बच्चे की तरह पेश आता है। इन तीनो ही मिसालो म, जिनम केवल एक ही बात समान है वयस्कता का विकास अलग-अलग ढग से हुआ है और इस तरह अतर्वस्तु की दृष्टि स भिन्न भिन्न जीवन मूल्यो का निर्माण हुआ है। किशोरावस्था इस कारण एक महत्वपूर्ण अवस्था है कि उसमे व्यष्टि की नैतिक तथा सामाजिक मान्यताओ की बुनियाद पडती है और उनके विकास की सामान्य दिशा निर्धारित होती है।

किशोरावस्था को कठिन और क्रातिक वय कहा जाता है। इसका कारण पहले तो यह है कि इस आयु मे बच्चे की विशेषताओ, रुचियो और सबधो म अनेकानेक गुणात्मक परिवर्तन आते है। कभी-कभी तो व पूरी तरह म ही बदल जाते हैं। यह अपेक्षया कम समय म भी हो सकता है और अप्रत्याशित होने के कारण विकास की सारी प्रक्रिया को

छलागनुमा तीव्र बना देता है। दूसरे, ये सब परिवर्तन अपने साथ एक ओर, *स्वय किशोर द्वारा अनुभव की जानेवाली विविध आत्मपरक* कठिनाइया और, दूसरी ओर, उसकी शिक्षा तथा पालन म पैदा होन वाली कठिनाइया लेकर आते है किशोर वयस्को का प्रभाव आसानी से नही स्वीकारता और तरह-तरह से अनाज्ञाकारिता विरोध तथा विद्रोह दिखाने लगता है (अडियलपन उद्दडता धृष्टता नकारात्मकता आत्मसीमितता, सप्रेषण की अनिच्छा इत्यादि के जरिये)।

गत आधी शती से अधिक से कैशोर्यकालीन मानसिक विकास की परिघटनाओ के जन्म मे जैविक और सामाजिक पहलुओ की भूमिका के बारे मे विशेषज्ञो के बीच सैद्धातिक बहस चल रही है।

§२ किशोर के शरीर मे रचना और क्रिया सबधी परिवर्तन

किशोर के विकास मे शारीरिक कारक की समस्या इसलिए पैदा होती है कि इसी आयु मे शरीर मे **दैहिक प्रौढता की ओर ले जानेवाले बुनियादी परिवर्तन आते हैं और लैगिक परिपाक (यौवनारभ) की प्रक्रिया आरभ होती है।** इस सबके पीछे शरीर के आकृतिक और क्रिया सबधी पुनर्गठन की प्रक्रियाए छिपी होती है।

शरीर का पुनर्गठन हाइपोफिसिस, विशेषत उसके अग्राश के सक्रिय होने से सबद्ध है, जिसके हार्मोन ऊतको की अभिवृद्धि तथा महत्त्वपूर्ण अत स्रावी ग्रथियो (लिग अवटु तथा अधिवृक्क ग्रथियो) की क्रिया को उद्दीप्त करते है। उन सबकी मिली जुली क्रिया बच्चे के शरीर मे *अनेकानेक परिवर्तनो को जन्म देती है जिनमे सबस प्रकट* "वृद्धि छलाग" और यौवनारभ (यौन अगो का विकास और गौण लैगिक लक्षणो का प्रादुर्भाव) हैं। ये प्रक्रियाए सबसे अधिक तजी स लडकियो मे ११-१३ वष की आयु मे और लडको मे १३ १५ वष की आयु म घटती हैं। वर्तमान काल मे बच्चो मे शारीरिक विकास तथा यौवनारभ का **त्वरण** देखा जा रहा है इसलिए लडकियो मे ९-१० वर्ष की आयु मे ही लिग ग्रथियो की सक्रियता और स्तन ग्रथियो का निर्माण

आरभ हो सकता है और १०-११ वर्ष की आयु म तो कुछ यौवन की अवस्था म भी पहुच सकती है (लडको के मामले म यह १२ १३ की आयु म हो सकता है)।

पिछले वर्षो म किये गये अध्ययन लैगिक परिपाक के स्तर कायमितीय निदर्शो के बीच किसी निश्चित सबध को तो नही द किंतु दूसरी ओर कद भार तथा वक्ष के घेरे म वृद्धि ही किशोराव म शारीरिक विकास का वह विशिष्ट पहलू है जिसे ' वृद्धि छल के विशेष नाम स पुकारा जाता है। इसकी बदौलत बच्चे की की तुलना म किशोर की शक्ल बदल जाती है और शरीर के मा आयाम लगभग वयस्क के शरीर के सामान्य आयामो जैसे बन है। कपाल के आनन भाग के सघन विकास के परिणामस्वरूप बदल जाता है किंतु मस्तिष्क का आकार बहुत कम ही बदलता ११ १२ से १५ १६ वर्ष की आयु म मेरुदड का विकास शरीर लबाई की वृद्धि से एक वर्ष पिछडा रहता है। चूकि १४ वर्ष की मे कशेरुकाओ के बीच की जगह अभी उपास्थियो से पूरित रहती अत शरीर की अवस्थिति सही न होने पर, देर तक शरीर के एक भाग पर जोर देते रहने पर अथवा अत्यधिक शारीरिक श्रम करने रीढ म विकृति आ सकती है। ठवन के अधिकतम विकार ११ १५ की आयु म ही पैदा होते है यद्यपि उन्हे सुधारना भी सर्वाधिक इसी आयु मे होता है। श्रोणि अस्थियो (जिनके बीच लडकियो यौन अग स्थित होते है) का बढना २०-२१ वर्ष की आयु म पूरा होता है। बहुत ऊचाई से कूदने पर वे और अविकसित अ स्थानच्युत हो सकती है। ऊची एडी की जूतिया पहनने पर श्रोणि आकार बदल सकता है, जो आगे चलकर जनन प्रकार्य के लिए हा सिद्ध हो सकता है।

पेशी सहति और पेशी शक्ति की सर्वाधिक वृद्धि यौवनारभ के अत मे होती है। लडको की मासपेशियो का विकास पुरुषो क से होता है और लडकियो के मृदु ऊतको का स्त्रियो के ढग से। उनम तदनुरूप पुरुषत्व अथवा स्त्रीत्व के लक्षण आ जाते है। किंतु प्रक्रिया का अत कैशोर्योत्तर अवस्था म जाकर ही होता है।

मासपेशियो की शक्ति बढने से शारीरिक शक्ति मे भी वृद्धि

है। लडके इसे महसूस कर लेते हैं और उनमे से हर किसी के लिए इसका बडा महत्त्व होता है। किंतु किशोर की पेशिया वयस्को के मुकाबले जल्दी थक जाती है और अभी दीर्घ तनाव को झेलने मे समर्थ नही होती। खेलकूद और शारीरिक श्रम के दौरान इस तथ्य को ध्यान म अवश्य रखा जाना चाहिए। शरीर मे गति प्रेरक तत्र का पुनर्गठन होने पर गतियो मे लयात्मकता कम हो जाती है और शरीर पर नियत्रण नहीं रखा जाता (अत्यधिक हरकतें, उनका अपर्याप्त समन्वय, अनाडी-पन, झटके से कुछ करना)। इससे अप्रिय अनुभूतिया और आत्म-विश्वास की कमी उत्पन्न हो सकती हैं। किंतु ६-८ से १३-१४ वर्ष तक की आयु अनेक गति-प्रेरक विशेषताओ के आदर्श विकास और गति प्रेरक क्रिया के सनिय सुधार तथा उसके कई निदर्शों (गतियो की तीव्रता तथा प्रायिकता कूद की लबाई, इत्यादि) की सघन वृद्धि का काल भी होती है।

विभिन्न अगो तथा ऊतको की सवृद्धि को देखते हुए हृदय को अधिक सघनता स काम करना पडता है। हृदय भी बढता है किंतु धमनियो से कही अधिक तेजी से। इस कारण हृद्वाहिका तत्र मे नियात्मक विकार उत्पन्न हो सकते हैं, जिनकी अभिव्यक्ति तेज धडकन बढे हुए रक्त दाब सिर चकराने, सिर दुखने जल्दी थकने आदि म पायी जाती है।

किशोर आयु मे अत स्रावी ग्रथियो मे परिवर्तनो की वजह से अगो के आतरिक परिवेश मे आकस्मिक परिवर्तन आते है। अवटु और लिग ग्रथियो के हार्मोन चयापचय के उत्प्रेरक का काम भी करते है। चूकि अत स्रावी और तत्रिका तत्र नियात्मक दृष्टि से परस्पर सबद्ध होते है किशोरावस्था मे एक ओर तो शक्ति मे तीव्र उभार आता है और, दूसरी ओर, विकारी प्रभावो के प्रति सवेदनशीलता बढ जाती है। इसीलिए शारीरिक और बौद्धिक क्लाति दीर्घ तत्रिका तनाव और भय क्रोध, अवज्ञा व अपमानबोध आदि सवग अत स्रावी विकारों (कुछ समय के लिए ऋतुस्राव चक्र का रुक जाना अवटु अतिक्रियता का बढना) और तत्रिका तत्र के प्रकार्य विकारो (अतिशय चिड चिडापन, अति सवेदनशीलता अतिशय थकावट नियत्रण तत्रो की क्षीणता, अन्यमनस्कता काम मे उत्पादिता घटना नीद ठीक म न

आना आदि) का कारण बन सकता है। किशोर के असंतुलित स्वभाव, चिड़चिड़ेपन, विस्फोटकता, अति सक्रियता, क्लांति और उदासीनता के मूल में प्राय तंत्रिका-देहद्रव संबंधों का पुनर्गठन ही निहित होता है। सहेलियों के मामले में ऐसी अवस्थाएं बहुत बार ऋतुस्राव के आरंभ से कुछ पहले और उसके दौरान भी पायी जाती हैं।

किशोर की मानसिक निर्मितियों के आविर्भाव में उसका शारीरिक विकास और यौवनारम्भ बहुत महत्त्व रखते हैं। पहली बात तो यह है कि स्वयं किशोर के लिए अत्यंत वास्तविक ये परिवर्तन उसे यथार्थत अधिक वयस्क बना देते हैं और अपने वयस्क बनने की अनुभूति के पैदा होने (वयस्कों से अपनी समानता के आधार पर) के लिए आधार का काम करते हैं। दूसरे, यौवनारम्भ दूसरे लिंग के लोगों में रुचि के विकास और नयी अनुभूतियों, भावनाओं तथा संवेगों की उत्पत्ति को प्रेरित करता है। किशोर नयी अनुभूतियों और भावनाओं में कितना खोया, कितना मग्न रहता है और उनका उसके जीवन में क्या स्थान है, यह उसके जीवन तथा शिक्षा की व्यापक सामाजिक व वैयक्तिक परिस्थितियों पर और उसके सामाजिक संपर्क की विशेषताओं पर निर्भर होता है। जो किताबें किशोर की आयु के अनुरूप नहीं हैं, उन्हें पढ़ना और वयस्कों के लिए सृजित फिल्म देखने का किशोर पर बुरा असर पड़ सकता है। यह सब और साथियों के साथ प्रेम तथा सेक्स की विभिन्न समस्याओं के बारे में बात करना मानवीय संबंधों के अंतरंग पहलू में रुचि, काम प्रवृत्तियां और समयपूर्व कामुकता को उभारते हैं। पहली रोमांटिक भावनाओं का जागरण ही दोनों लिंगों के किशोरों के लिए सामान्य बात है।

§३ किशोरावस्था के "सकट" की समस्या के प्रति विभिन्न सैद्धांतिक उपागम

किशोर के शरीर मे आनेवाले रचना तथा क्रिया सबधी गभीर परिवर्तन बहुत समय तक किशोर की विशेषताओं और इस आयु म होनेवाले मानसिक विकास की परिघटनाओं के जैव मूल विषयक विभिन्न

सिद्धातो के लिए आधार का काम करते रहे थे। अमरीकी मनोविज्ञान-वेत्ता स्टेनली हॉल (१८४४-१९२४) तथा आस्ट्रियाई मनोविज्ञानवेत्ता सिगमड फ्रायड (१८५६-१९३९) के सिद्धात और वर्तमान शती के प्रथम चतुर्थांश मे प्रचलित ज्यादातर सिद्धात जैव मूल की धारणा पर ही आधारित थे। हॉल और फ्रायड जिन्होने मनोविज्ञान के क्षेत्र मे जीवज सार्विकता नामक धारा का प्रवर्तन किया था, किशोरावस्था मे सकट और कई विशेषताओ की विद्यमानता को उनके जैव मूल के कारण एक अपरिहार्य और सार्विक परिघटना मानते थे।

तीसरे और चौथे दशको मे जीवज सार्विकता की विरोधी धारा जोर पकड़ने लगी क्योकि तब तक विभिन्न देशो मे ऐसे पर्याप्त अध्ययन किये जा चुके थे, जो दिखाते थे कि किशोर के व्यक्तित्व के कुछ पहलू उसके सामाजिक परिवेश पर निर्भर होते है। ऐसा सैद्धातिक रुझान कतिपय सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओ मे भी देखा जा सकता था। उदाहरणार्थ ल० स० विगोत्स्की ने परिपक्वता के तीन बिदुओ – लैगिक शारीरिक और सामाजिक – के असपात का सिद्धात पेश किया था और कहा था कि यह असपात ही किशोरावस्था की मुख्य विशेषता और मुख्य अतर्विरोध है।

जीवज सार्विकता के सिद्धातो पर प्रबल चोट अमरीकी मानव विज्ञानवेत्ताओ ने भी की, जो यह जानने के लिए 'आदिम सभ्यताओ का अध्ययन कर रह थे कि मनुष्य म क्या "प्रकृति' द्वारा निर्धारित किया जाता है और क्या सस्कृति' यानी जीवन व विकास की ठोस सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थितियो द्वारा। समोआ द्वीप के किशोरो का अध्ययन करके मार्गरेट मीड (सयुक्त राज्य अमरीका) ने सिद्ध किया कि किशोरावस्था मे सकट और द्वद्वो की अनिवार्यता की बात निराधार है और इस सकट तथा इन द्वद्वो का मूल सामाजिक है न कि जैव। उन्होन समोआ के किशोरो मे **बाल्यावस्था से वयस्कता मे सामजस्यपूर्ण, द्वद्वरहित सक्रमण** का अस्तित्व पाया और उनकी रहन सहन की परिस्थितियो, पालन की विशेषताओ और परिवेश के साथ बच्चो के सबधो का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। मीड ने लडकियो के मामले मे किशोर वय को कुल मिलाकर सबसे मधुर और बाल्यकाल और वयस्कता की तुलना मे कही अधिक स्वच्छदतापूर्ण काल बताया।

बाद मे उन्होंने दर्शाया कि पहले तो लडकी के लिए यौवनारभ सर्वाधिक महत्त्व रखनेवाला आत्मपरक कारक नही भी हो सकता है और वह उसके जाने बिना भी गुजर सकता है और, दूसरे, यौवनारभ कबीले के जीवन के लिए और स्वय लडकी के लिए अलग-अलग अर्थ रख सकता है कुछ मामलो मे यह लडकी की वयस्कता की मान्यता का और विवाह सस्कार के लिए तैयारी का सकेत होता है और कुछ मामलो मे लडकी के अधिकारो तथा दायित्वो मे नगण्य सा परिवर्तन ही लाता है। मानवविज्ञानियो ने अपने अध्ययनो द्वारा सिद्ध किया है कि किशोरावस्था की अवधि भिन्न भिन्न हो सकती है। कुछ कबीलो मे तो वह कुछ ही महीने जारी रहती है।

इसी प्रकार किशोर लडको मे ईडिपस मनोग्रथि की अनिवार्यता का भी खडन किया गया और सिद्ध किया गया कि किशोरावस्था मे सकट भी अनिवार्य नही है जब किशोर को वयस्क की हैसियत के लिए विशेषत तैयार किया जाता है (दीक्षा सस्कार अथवा इनिशियेशन) तब भी और जब वह इस हैसियत की अपेक्षाओ को पूरा करना शनै शनै सीखता है तब भी।

आर० बेनेडिक्ट (सयुक्त राज्य अमरीका) ने नृजातिवृत्तात्मक सामग्री का सामान्यीकरण करके **बाल्यावस्था से वयस्कता मे सक्रमण के दो प्ररूप** पाये १) अनवरत और २) बच्चा बचपन मे जो सीखता है उसके और वयस्क की भूमिका के निर्वाह के लिए जो व्यवहार की रीतिया तथा धारणाए आवश्यक है, उनके बीच अतराल सहित। पहला प्ररूप तब पाया जाता है जब व्यवहार के मानक व अपेक्षाए बच्चो के मामले मे अलग और वयस्को के मामले मे अलग नही होते। ऐसी हालत मे विकास सहज होता है, बच्चा शनै शनै वयस्क व्यवहार की रीतिया सीखता जाता है और जब वयस्क बन जाता है, तो अपने को उस हैसियत की अपेक्षाए पूरी करने के लिए तैयार पाता है। सक्रमण का दूसरा प्ररूप तब पाया जाता है जब व्यवहार के मुख्य मानक व अपेक्षाए बच्चो तथा वयस्को के मामले मे भिन्न भिन्न होते हैं (बेनेडिक्ट और मीड इस आधुनिक अमरीकी व अन्य सुविकसित औद्योगिक समाजो के लिए लाक्षणिक मानती थी)। इस हालत मे वयस्कता मे सक्रमण बाह्य तथा आतरिक द्वद्वो के साथ होता है और इसका एक निश्चित

परिणाम निकलता है – "औपचारिक" वयस्कता प्राप्ति पर भी वयस्क की भूमिका के निर्वाह के लिए अपने को तैयार न पाना। बेनेडिक्ट ने इस बात पर जोर दिया था कि बाल्यावस्था से वयस्कता मे सक्रमण का मार्ग भिन्न भिन्न समाजो मे भिन्न भिन्न होता है और उनमे से किसी को भी वयस्कता की ओर ले जानेवाली 'प्राकृतिक' पगडडी नही कहा जा सकता।

मानववैज्ञानिक और नृजातिवृत्तात्मक अनुसधानो का बहुत बडा सैद्धातिक महत्त्व है। उन्ही की मदद से यह सिद्ध किया जा सका कि **बच्चे के जीवन की ठोस सामाजिक परिस्थितियो** पर निम्न बात निर्भर होती है १) किशोरावस्था की अवधि २) सकट, द्वद्वो तथा कठिनाइयो की विद्यमानता अथवा अभाव ३) बाल्यकाल से वयस्कता मे सक्रमण का रूप। इन अनुसधानो से जो निष्कर्ष निकला है, वह फ्रायडवाद के निष्कर्ष के विपरीत है **मनुष्य मे जो नैसर्गिक है, उसे सामाजिक के विरोध मे नहीं रखा जा सकता, क्योकि उसमे सब नैसर्गिक सामाजिक है।**

मानवविज्ञान किशोरावस्था को एक ऐसा काल मानता है जब बच्चा समाज मे अपने स्थान की ओर बढ और वयस्को के सामाजिक जीवन मे पैठ रहा होता है। इस विचार के एक प्रमुख प्रतिपादक अमरीकी विद्वान क० लेविन (१८९० १९४७) है जिन्होने आधुनिक समाज मे किशोर की स्थिति का विश्लेषण जारी रखा था और समाज मे बच्चो के समूह तथा वयस्को के समूह की स्थिति उनके कतिपय अधिकारो तथा विशेषाधिकारो की दृष्टि से बाल्यावस्था से वयस्कता मे सक्रमण के द्वद्वमूलक प्ररूप की जाच की थी। उन्होने **इन समूहो की विभक्तता** का उल्लेख किया था और यह मान्यता व्यक्त की थी कि **किशोर आयु मे एक समूह से सबध टूटकर दूसरे समूह के साथ कायम होने लगते हैं।** किशोर मे वयस्को के समूह मे शामिल होने और उनके ऐसे विशेषाधिकारो को पाने की प्रवृति होती है, जो बच्चो को नही प्राप्त होते। किंतु वयस्को द्वारा उसे अभी अगीकार नही किया जाता अत **उसकी स्थिति समूहो के बीच की होती है।** लेविन कठिनाइयो की मात्रा और द्वद्वो को इन सामाजिक कारको पर निर्भर मानते है समाज मे बच्चो के समूह और वयस्को के समूह के बीच भेद कितना

बडा है और उस अवधि की लबाई, जब किशोर इन दोनो समूहो के बीच की स्थिति मे होता है। किशोर के अधर मे लटके होने के लेविन के विचार को वर्तमान काल मे कतिपय विदेशी मनोविज्ञानवेत्ताओं द्वारा आगे विकसित किया जा रहा है, जो किशोरो की एक विशेष 'उपसस्कृति' के अस्तित्व यानी वयस्को के समाज मे किशोरो के समाज की विद्यमानता की बात कर रहे हैं।

ल० स० विगोत्स्की ने शातिक अवस्थाओ का अध्ययन करते हुए कुछ सर्वथा नये सवाल उठाये थे, जैसे (किशोरो की) चेतना मे बुनियादी नवनिर्मिति को निर्दिष्ट करने की आवश्यकता और विकास की उस सामाजिक स्थिति को मालूम करने की आवश्यकता, जो हर आयु मे बच्चे और परिवेश के सबधो की विशिष्ट प्रणाली का सूचक होती है। उनका सोचना था कि इस प्रणाली का पुनर्गठन ही सक्रमणात्मक अवस्था के सकट का मुख्य सार है।

इस प्रकार किशोरावस्था के 'सकट' के स्पष्टीकरण से सबधित सैद्धातिक गवेषणाओ से यह निष्कर्ष निकला कि किशोरावस्था के विकास और उसकी विशेषताओ का स्वरूप किशोर के जीवन तथा विकास की ठोस सामाजिक परिस्थितियो द्वारा, वयस्को की दुनिया मे उसकी सामाजिक हैसियत द्वारा निर्धारित होता है।

§४ किशोरावस्था मे सक्रमण के दौरान व्यक्तित्व की मुख्य नवनिर्मिति

"वयस्कता की अनुभूति" का जन्म, स्रोत तथा विशेषताए

सामाजिक वयस्कता के विकास का अर्थ यह है कि बच्चा पूर्ण और समानाधिकार प्राप्त सदस्य के रूप मे वयस्को के समाज मे रहने के लिए तैयार हो रहा है। यह तैयारी वस्तुपरक ही नही, आत्मपरक भी होती है। आत्मपरक तैयारी वयस्को की सक्रियता सबधो तथा व्यवहार से की जानेवाली सामाजिक अपेक्षाओ को सीखने के लिए आवश्यक है क्योकि इन अपेक्षाओ को सीखने की प्रक्रिया मे ही सामाजिक सक्रियता बढती है।

किशोरावस्था के आरंभ में बच्चे वयस्कों जैसे कतई नहीं होते वे अभी बहुत नटखट होते हैं, खेलते-कूदते है नादान होते है चैन से नहीं बैठ पाते, अपने ऊपर नियंत्रण रखना नहीं जानते, एक साथ कई दिशाओं में सक्रिय रहते हैं रुचियों, गौकों और संबंधों के मामले में प्राय लापरवाह और अस्थिर होते है और आसानी से दूसरे के प्रभाव में आ जाते है। किंतु बचकानेपन का ऐसा बाह्य रूप भ्रामक होता है, क्योंकि उसके नीचे परिवर्तन की महत्त्वपूर्ण प्रक्रियाएं छिपी होती हैं। किशोर अनेक बातों में बच्चे ही रहने के बावजूद अलक्षित रूप में वयस्क बन सकते है। **वयस्क बनने की प्रक्रिया सतह पर नहीं घटती। उसकी अभिव्यक्तियां और लक्षण बहुरूप और बहुविध होते हैं।** वयस्कता के प्रथम अंकुर उसके विकसित रूपों से बहुत भिन्न हो सकते हैं और वयस्क को किशोर का जो व्यवहार पसंद नहीं आता उसमें भी वे सहसा प्रकट हो सकते हैं। किशोर के व्यवहार में नूतन, प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों से न मिलती-जुलती बातों की बहुतायत ही बताती है कि बचपन पीछे छूटता जा रहा है। ये नूतन बातें भविष्य का संकेत देती हैं, क्योंकि आगे विकास उनका ही होगा और किशोर के पालन व शिक्षा में उनका ही अवलंब लेना पड़ेगा। यदि किशोरावस्था में विकास की नयी प्रवृत्तियों को पहचाना और ध्यान में रखा नहीं जाता तो पालन व शिक्षा की प्रक्रिया कारगर सिद्ध नहीं होगी और बच्चे के विकास के इस उत्तरदायित्वपूर्ण दौर में व्यक्तित्व का निर्माण स्वत स्फूर्त, अनियंत्रित ढंग से ही होगा।

किशोरावस्था में कदम रखनेवाले बच्चे के व्यक्तित्व की संरचना में बुनियादी परिवर्तन उसकी आत्मचेतना में गुणात्मक प्रगति के कारण आते हैं। आत्मचेतना का विकास बच्चे और परिवेश के बीच पहले से चले आ रहे संबंध को तोड़ देता है। **किशोर के व्यक्तित्व की मुख्य और विशिष्ट नवनिर्मिति यह है कि वह सोचने महसूस करने लगता है कि वह अब बच्चा नहीं है ("वयस्कता की अनुभूति")। इसकी सक्रिय अभिव्यक्ति उसके वयस्कों की तरह आचरण करने और वयस्क माने जाने की कोशिशों में दिखाई देती है।** इस विशेषता में निराली बात यह है कि किशोर अपने को बच्चों में शामिल किये जाने का विरोध करता है किंतु अभी वह अपने वास्तविक और पूर्ण वयस्क

भी अनुभव नही करता हालांकि आसपास के लोगो द्वारा उसे वयस्क मान जाने की आकाक्षा उसमे विद्यमान रहती है और इसके लिए वह कोशिश भी करता है।

वयस्कता की अनुभूति शारीरिक विकास मे होनेवाले परिवर्तनो और यौवनारभ को महसूस करने उनका महत्त्व समझने के फलस्वरूप भी पैदा हो सकती है जो उसे वस्तुत ही नही स्वय अपने सोचने मे भी अधिक वयस्क बना देते हैं। वयस्कता की अनुभूति के अन्य स्रोत सामाजिक हैं। वह उन परिस्थितियो मे पैदा हो सकती है, जब वयस्को के साथ सबधो मे किशोर बच्चे की हैसियत नही रखता, कामकाज में भाग लेता है और गभीर दायित्वो का निर्वाह भी करता है। कम उम्र म ही स्वावलबी और दूसरो का विश्वासभाजन बन जाना बच्चे को सामाजिक ही नही अपनी नजर मे भी वयस्क बनाता है। फासिस्ट कब्जावरो के विरुद्ध सोवियत जनता के महान देशभक्तिपूर्ण युद्ध के वर्षो (१९४१ १९४५) म इस तरह की अनगिनत मिसाल देखने में आयी थी। वयस्कता की अनुभूति किशोर मे तब भी पैदा होती है जब साथी, जिन्हे वह अपने से बडा समझता है उससे बराबरी का वर्ताव करते हैं। वयस्क होने का अहसास कई सारी बातो म अपने और उस आदमी के बीच जिसे किशोर वयस्क समझता है समानता की स्थापना के फलस्वरूप भी पैदा हो सकता है (जैसे ज्ञान म ताकत म चुस्ती मे निर्भीकता मे)। वयस्कता की अनुभूति यौवनारभ मे पहले भी उत्पन्न हो सकती है। आजकल शारीरिक विकास और यौवनारभ मे जो त्वरण देखने म आ रहा है उसके फलस्वरूप बच्चे की अपनी वयस्कता की मात्रा की धारणा पहले जमाने की अपेक्षा कही पहले ही बदल सकती है जिसका मतलब है कि वह किशोरावस्था म प्रवेश कर चुका है।

आत्मचेतना की यह नवनिर्मिति व्यक्तित्व की मूलभूत विशेषता और उसकी सरचना का नाभिक है क्योकि वह लोगो और विश्व के प्रति किशोर के नये जीवन दृष्टिकोण को व्यक्त करती है, उसकी सामाजिक क्रियाशीलता की [illegible] दिशा [illegible] वस्तु की और नयी आकाक्षाओ अनुभूतियो [illegible] को निर्धारित करती है। किशोर की [illegible] व्यक्त होती

है कि वह वयस्को की दुनिया और उनके सबधो मे अस्तित्वमान व्यवहार के नियमो, मानको, मूल्यो तथा रीतियो को आत्मसात करने मे अधिक सक्षम बन जाता है। इसके दूरगामी परिणाम निकलते है क्योकि वयस्क और बच्चे दो भिन्न समूह है और उनके दायित्व अधिकार तथा विशेषाधिकार भी भिन्न होते है। बच्चो के लिए बनाये अनेकानेक नियमो, मानदडो, प्रतिबधो और आज्ञापालन के कर्त्तव्य म उनकी अस्वावलबिता, वयस्को की दुनिया मे असमान तथा परनिर्भर स्थिति व्यक्त होती हैं। वयस्को की पहुच के भीतर की बहुत सी चीज बच्चे के लिए वर्जित होती है। बाल्यकाल मे बच्चा उन्ही नियमो, मानको और अपेक्षाओ को सीखता है, जो समाज ने उनके लिये बनाये है। किंतु वयस्को के समूह मे सक्रमण करने पर इन नियमो, मानको तथा अपेक्षाओ मे गुणात्मक परिवर्तन आ जाता है। किशोर में अपने बारे म इस धारणा का जन्म कि वह बाल्यकाल की सीमा पार कर चुका है, एक तरह के (बाल) मानदडो तथा मूल्यो से दूसरी तरह के (वयस्क) मानदडो और मूल्यो की ओर उसके अभिमुखन के लिए आधार का काम करता है।

किशोर का वयस्को का समकक्ष बनना बाह्यत उनसे मिलता जुलता बनन, उनके जीवन और सक्रियता के कुछ पहलुओ से सपर्क म आन, उनके जैसे गुण, योग्यता अधिकार तथा विशेषाधिकार विशेषत जिनसे वयस्को की भिन्नता तथा बडप्पन सर्वाधिक स्पष्टत झलकते है उन्ह हासिल करन की कोशिशो मे व्यक्त होता है।

§५ किशोर और वयस्क के आपसी सबध

नये प्रकार के परस्पर सबधो की स्थापना

किशोर का नये अधिकारो का दावा सबसे पहले वयस्को के साथ सबधो के सारे क्षेत्र से ताल्लुक रखता है। किशोर पहले जिन अपेक्षाओ को सहर्ष पूरा कर देता था उन्ह पूरा करने मे अब वह आनाकानी करने लगता है। जब भी उसकी स्वतत्रता को सीमित किया जाता है

और वैसे भी जब उसकी बच्चो जैसे हिफाजत की जाती है, मार्गदर्शन किया जाता है निगरानी रखी जाती है, आज्ञापालन करने का कहा जाता है, सजा दी जाती है उसकी रुचियो, सबधो, राय, आदि का ध्यान नही रखा जाता है वह बुरा मानता है और विरोध करता है। किशोर मे अपनी अस्मिता की तीव्रानुभूति प्रकट होती है, वह अपने को ऐसा व्यक्ति मानने लगता है, जिसे दबाया कुचला और स्वतन्त्रता के अधिकार से वचित नही किया जा सकता। बचपन मे वयस्को के साथ उसके जैसे सबध थे (जो वयस्को की दुनिया मे बच्चे की असमान हैसियत को प्रतिबिबित करते है), वे उसके लिए अस्वीकार्य उसकी अपनी वयस्कता के स्तर की धारणा से असगत बन जाते हैं। वह वयस्को के अधिकारो को तो सीमित करता है, किंतु अपने अधिकारों को बढ़ा चढ़ाकर देखता है, अपने व्यक्तित्व तथा अस्मिता का समादर किये जाने, विश्वासपात्र बनाये जाने और स्वतत्रता बढाये जाने, यानी वयस्को का समकक्ष माने जाने का दावा करता है और इस दावे को मान्य ठहराये जाने के लिए कोशिश भी करता है। किशोर के विरोध और अनाज्ञाकारिता के विभिन्न रूप वे साधन हैं जिनके जरिये वह वयस्को के साथ पहले के सबधो के स्थान पर नये, वयस्को के बीच ही प्रचलित सबध स्थापित करने की चेष्टा करता है। किशोर मे वयस्कता की अनुभूति और अन्य लोगो द्वारा उसे मान्य ठहराये जाने की आवश्यकता का जन्म एक सर्वथा नयी समस्या खडी करता है। यह है एक दूसरे के साथ सबधो मे वयस्क और किशोर के अधिकारो की समस्या।

किशोर का महत्त्व और विशेष स्थान इससे निर्धारित होता है कि इस आयु मे ही बाल्यकाल के लिए लाक्षणिक वयस्क-बच्चा सबधों से गुणात्मक रूप से नये, वयस्क लोगो के बीच प्रचलित सबधो मे सक्रमण होता है। यह सक्रमण किशोर और वयस्क की सामाजिक अन्योन्यक्रिया की नयी रीतियो के विकास की प्रक्रिया के रूप मे सपन्न होता है। नयी रीतिया शनै शनै पुरानी रीतियो का स्थान लेती जाती हैं, किंतु साथ ही व समकालिक भी होती हैं। इससे वयस्को के लिए भी और किशोर के लिए भी बडी कठिनाइया उत्पन्न हो जाती हैं। किशोर के व्यवहार उसके आत्ममूल्याकन और वयस्को के उसके प्रति रवैये

के मूल्याकन को व्यवहित करनेवाले नये मानदड किशोर के विकासमान नैतिक विश्व-दृष्टिकोण का आधार बनते है।

नये प्रकार के सबधो मे निर्बाध, सहज सक्रमण तभी सभव होता है, जब वयस्क स्वय पहल करता है अथवा किशोर की अपेक्षाओ को ध्यान मे रखकर उसके प्रति अपने रवैये को बदलता है यानी उसके साथ बच्चे की तरह व्यवहार नही करता है। किंतु कुछ ऐसी बात है जो पहले के रवैये को आसानी से बदलने नही देती। ये है १) किशोर की सामाजिक स्थिति का न बदलना – वह "स्कूली छात्र" था और अब भी रहता है, २) उसकी मा-बाप पर पूर्ण भौतिक निर्भरता, जो अध्यापक के साथ उसकी शिक्षा व पालन मे भाग लेते है, ३) वयस्को की बच्चे का मार्गदर्शन करने व उसपर निगरानी रखने की आदत जिसे छोडना कठिन होता है, ४) किशोर की शक्ल-सूरत और व्यवहार मे विशेषत आरभ मे, बच्चे के लक्षणो का बना रहना और उसका स्वतत्र रूप से काम न कर पाना। इन सब कारणो से वयस्क किशोर से बच्चे की भाति बर्ताव करते रहते है और इसका मतलब है कि उसे उनका आज्ञापालन करना ही चाहिए। इन्ही सब कारणो से किशोर के अधिकारो तथा स्वतत्रता को बढना भी अनावश्यक और अनुचित माना जाता है। किंतु वयस्क का ऐसा रवैया न केवल किशोर की आकाक्षाओ तथा प्रयासो पर, बल्कि बाल्यकाल से वयस्कता मे सक्रमण की इस आयु मे बच्चो की शिक्षा व पालन के लक्ष्य पर भी कुठाराघात करता है। किशोर की सामाजिक वयस्कता का विकास उसे भावी जीवन के लिए तैयार करने के वास्ते सामाजिक दृष्टि से आवश्यक है। यह एक जटिल प्रक्रिया है। वह समयसाध्य होती है और तभी सपन्न हो सकती है, जब किशोर वयस्को के लिए निर्धारित मानदडो और अपेक्षाओ की प्रणाली मे रहना आरभ करे, जिसके लिए उसकी स्वतत्रता कर्त्तव्यो और अधिकारो को बढाना बहुत जरूरी है। केवल ऐसी हालत म ही किशोर वयस्को की तरह काम करना, सोचना, तरह-तरह के कृत्य पूरे करना और लोगो से घुलना मिलना सीख सकता है। इसीलिए किशोर की शिक्षा और पालन के लिए वयस्को के साथ पहले प्रकार के सबधो को नये सबधो से प्रतिस्थापित करना आवश्यक है।

किशोर और वयस्क के द्वंद्व के कारण

किशोरावस्था के आरंभ मे ऐसी स्थिति पैदा हो जाती है, जिसमें यदि वयस्क की ओर से किशोर के प्रति बच्चे जैसा रवैया बना रहे, तो विरोध पैदा हो सकते हैं। यह रवैया, एक ओर शिक्षा व पालन के लक्ष्य से टकराता है और किशोर की सामाजिक वयस्कता के विकास मे बाधक बनता है और, दूसरी ओर, वह किशोर की अपनी वयस्कता की मात्रा की धारणा और नये अधिकारो के उसके दावो से टकराता है। यही विरोध उन द्वंद्वो तथा कठिनाइयो का स्रोत बनता है, जो किशोर के अधिकारों के स्वरूप और स्वतंत्रता की मात्रा के बारे में वयस्क और किशोर की धारणाओ मे अंतर के कारण उनके परस्पर संबधो मे उत्पन्न होते है।

यदि वयस्क किशोर के प्रति अपने रवैये को नही बदलता, तो किशोर नये संबधो मे संक्रमण के लिए पहल स्वयं करने लग जाता है। वयस्क यदि प्रतिरोध करता है, तो किशोर विभिन्न प्रकार से अनाज्ञाकारिता और विरोध दिखाकर उसका जवाब देता है। इन विरोधी प्रवृत्तियो की विद्यमानता और परस्पर प्रतिरोध से टक्कर पैदा होती है जो वयस्क द्वारा अपना रवैया फिर भी न बदले जाने पर नियमित और किशोर द्वारा नकारात्मक रुख दिखाये जाने पर और अधिक जबरदस्त बनती जाती है। ऐसी स्थिति बने रहने पर पुराने संबधो के टूटने की प्रक्रिया सारी किशोरावस्था के दौरान जारी रह सकती है और चिर द्वंद्व का रूप ले सकती है। विभिन्न प्रकार से अवज्ञा और विरोध प्रदर्शन करके किशोर पहले के बचकाने संबधो को तोडता है और वयस्क पर नये 'वयस्क' संबध थोपता है जिन्हे वैसे भी देर-सबेर कायम होना ही है। द्वंद्व तब तक जारी रह सकता है, जब तक कि वयस्क किशोर के प्रति अपने रवैये को नहीं बदल डालता। द्वंद्वपूर्ण संबध व्यवहार के अनुकूलनात्मक रूपों के विकास और निखार की विमुक्ति मे सहायक होते हैं। विसंबंधन और वयस्क की बेइमानी मे विश्वास पैदा हो जाता है। किशोर की इन भावनाओ को उसकी इस धारणा मे और भी बल मिलता है कि वयस्क उसे नही समझता और न समझ ही सकता है। अंतःविस्म यह हो सकता है कि किशोर

वयस्क की अपेक्षाओ, मूल्याकनो और नजरियो को मानने से जान-बूझकर इनकार करने लगेगा और फिर वयस्क किशोर के व्यक्तित्व के नैतिक तथा सामाजिक आधारो के विकास के महत्त्वपूर्ण दौर मे उसपर कोई प्रभाव डालने की सभावना से हाथ धो बैठेगा।

द्वद्व इसका परिणाम होता है कि वयस्क किशोर के लिए अपने बराबर मे नया स्थान या तो खोज नही सकता या फिर खोजना नही चाहता। किशोर की स्वतत्रता और समानता की समस्या वयस्क किशोर सबधो और सामान्यत किशोर की शिक्षा व पालन की सबसे कठिन और उग्र समस्या है। **स्वतत्रता की एक ऐसी सीमा खोजा जाना आवश्यक है, जो किशोर की क्षमताओ तथा समाज द्वारा उससे की जानेवाली अपेक्षाओ के अनुरूप हो और वयस्क को उसका मार्गदर्शन करने, उसपर प्रभाव डालने की सभावना दे सके।**

वयस्क और किशोर के सपर्को मे कठिनाइया तब नही उत्पन्न होगी, जब उनके परस्पर सबध वयस्को के सबधो – **मित्रो के सबधो – की तरह बनाये जाये या फिर वे परस्पर आदर, सहायता और विश्वास पर आधारित सार्थक सहयोग के सबध हो।** सहयोग की प्रक्रिया मे किशोर और वयस्क की सामाजिक अन्योन्यक्रिया की नयी रीतिया पैदा होती है जिनकी नैतिक अतर्वस्तु किशोर की सामाजिक वयस्कता के विकास के लक्ष्य और वयस्को के साथ सबधो के स्वरूप के बारे मे उसकी जो नयी अपेक्षाए हैं, उनसे पूर्णत मेल खाती है। सहयोग ही वयस्क को किशोर को उसकी नयी स्थिति – **विभिन्न कामो मे अपने सहयोगी और साथी की स्थिति – मे रखने और उसके लिए आदर्श व मित्र बनने की सभावना देता है।** ऐसे सबध ही आत्मपरक रूप से किशोर के लिए और वस्तुपरक रूप मे उसकी शिक्षा व पालन के लिए आवश्यक होते हैं।

वयस्क और किशोर के तनावहीन सबध उनके बीच सपर्क और परस्पर समझ इसलिए जरूरी है कि आरभिक स्कूली आयु से किशोरावस्था मे सक्रमण के वक्त बच्चे के सपर्क की दो प्रणालियो – वयस्को के साथ और साथियो के साथ – के बीच जटिल सबध पैदा हो जाते है। इसका कारण है इन दो प्रणालियो मे बच्चे की **सर्वथा भिन्न स्थितिया।** पहली प्रणाली (वयस्को के साथ सपर्क) मे उसकी

जबकि वयस्को के साथ सबधो की बुनियाद -- आज्ञाकारितावाली विशिष्ट बाल नैतिकता ही रहती है। इस विरोधाभास के कुछ महत्त्वपूर्ण परिणाम निकल सकते है १) किशोर के व्यक्तित्व के विकास के लिए सपर्क क इष्टतम प्ररूप के तौर पर सहयोग साथियो के साथ सबधो मे अधिक तेजी से बढ सकता है, २) वयस्को का ससर्ग नही, अपितु साथियो का ससर्ग ही किशोर को अधिक सतोष दे सकता है, आत्मपरक रूप से अधिक आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण बन सकता है और सामाजिक-नैतिक वयस्कता के विकास तथा व्यक्तित्व के निर्माण मे मुख्य भूमिका अदा कर सकता है ३) किशोर द्वारा आत्मसात्कृत वयस्क नैतिकता के मानक एक तो आज्ञाकारितावाली नैतिकता से टकरा सकते है और, दूसरे वे उसपर हावी भी हो सकते है ठीक इसलिए कि बाल नैतिकता किशोर के लिए अस्वीकार्य हो गयी है।

यही विदेशी मनोविज्ञानवेत्ताओ द्वारा इतनी अधिक प्रचारित समस्या -- "स्वतत्र बाल नैतिकता" और उसकी वयस्को के समाज की नैतिकता से टक्कर की समस्या -- को सही ढग से समझने की कुजी है। 'स्वतत्र बाल नैतिकता' को समाजविरोधी और इसलिए वयस्को की नैतिकता से टकरानेवाली कहना गलत प्रस्थापना है स्वतत्र बाल नैतिकता' सारत वयस्को के साहचर्यपूर्ण और मैत्रीपूर्ण सबधो की नैतिकता है और इसीलिए वह सबसे अधिक समाजसगत है। उसका विरोध 'वयस्क नैतिकता' से नही अपितु उस नैतिकता से है जो वयस्को ने बच्चो के लिए बनायी है। वयस्को और साथियो के साथ किशोर के स्कूली और शैक्षिक सबधो की स्थिति मे इन दो नैतिकताओ के बीच टकराव की सदा बेहद सभावना रहती है क्योकि दत्त परिस्थितियो म वे परस्पर असगत होती है। जब वयस्क आज्ञाकारितावाली नैतिकता के वाहक और अभिव्यक्तिकर्त्ता की भूमिका मे सामने आता है, तो वह किशोर के लिए इसी कारण अस्वीकार्य बन जाता है कि किशोर उस नैतिकता को अगीकार नही करता (अन्यथा उसके उस वयस्क को स्वीकार न करने का कोई कारण नही है)। इसी कारण किशोर उन अनजाने लोगो के सामने अभद्रता भी दिखाते हैं जो उनकी हरकतो पर टीका टिप्पणी करते है उन्हे बाल आचरण क नियमो के विपरीत बताते हैं।

शिक्षा और पालन की अ० म० मकारेको द्वारा प्रतिपादित पद्धति किशोर आयु वर्ग के बच्चों की कठिन से कठिन समस्याओं को सुलझाने का आदर्श रास्ता दिखाती है। यह पद्धति बहुत हद तक इसलिए सफल हो पायी कि मकारेको ने वयस्कों और किशोरों के संबंधों को समाजवादी समाज के वयस्कों की नैतिकता के मानकों पर आधारित किया था और समुदाय के जीवन के ये संगठनात्मक रूप प्रस्तावित किये थे, जो जनवादी केंद्रीयतावाद के मानकों से मेल खाते थे। मकारेको की पद्धति में परस्पर आदर, समानता, सहायता और विश्वास के मानकों को विभिन्न सवालों पर सामूहिक विचार विमर्श द्वारा साकार बनाया जाता था। इन विचार विमर्शों के दौरान वयस्क और बच्चे समान हैसियत रखते थे और जब कोई निर्णय कर लिया जाता था, तो उसका पालन वयस्कों समेत सबके लिए अनिवार्य होता था। "दो नैतिकताओं" की कोई समस्या न उठती थी, न उठ ही सकती थी क्योंकि सबके लिए एक ही नैतिकता थी। ऐसी परिस्थितियों में ही समुदाय अपार प्रभाव अर्जित करता है और अपने हर सदस्य का शिक्षक-प्रतिपालक बनता है। मकारेंको की पद्धति में किशोरों के आपस में और वयस्कों के साथ सहयोग द्वारा एक तो विभिन्न प्रश्नों पर समुदाय के उद्देश्य, कार्यभार तथा रवैया निर्धारित किया जाता था और दूसरे, सारा व्यावहारिक कार्यकलाप चलाया जाता था और आपसी संबंधों का नियमन किया जाता था। किशोरों की स्वतंत्रता सामाजिक दृष्टि से सामुदायी सामूहिक और निजी सक्रियता के रूप में साकार बनती थी, जिसके परिणाम सबके लिए और प्रत्येक के लिए समान रूप से महत्त्व रखते थे। यही समाज के लिए सही दिशा में किशोरों की सामाजिक नैतिक प्रौढ़ता के सघन विकास को सुनिश्चित करता था।

ौढता की नीव वर्तमान म, लोगो के साथ किशोरो की सामाजिक न्योन्यक्रिया की "वयस्क" रीतियो के जरिये तथा सोवियत समाज े लिए लाक्षणिक सामाजिक-नैतिक मूल्यो के आधार पर डाली जाती ी। मकारेको की पद्धति, जिसे एक अमरीकी मनोविज्ञानवेत्ता ने निरकुशता की गलत सज्ञा दी है, अपने वास्तविक सार की दृष्टि से और अपन उदात्त उद्देश्यो की बदौलत ही नही, अपने नैतिक मूलमन्त्र – व्यक्ति का आदर – की बदौलत भी एक जनवादी पद्धति है और किशोर के लिए उसके व्यक्तित्व का आदर ही सर्वोपरि महत्त्व रखता है।

समुदाय मे, समुदाय के जरिये और समुदाय के लिए व्यक्ति का सवर्धन सामाजिकत सही और आवश्यक दिशा मे किशोर की सामाजिक-नैतिक प्रौढता के विकास की अनिवार्य और अपरिहार्य शर्त है। समुदाय के साथ किशोर के सबध जितने ही सारगर्भित होगे और सामाजिक दृष्टि से उपयोगी सक्रियता के विविध क्षेत्रो मे अपन हमउम्रो तथा वयस्को के साथ उसका सहयोग जितना ही व्यापक होगा उतने ही अधिक सामाजिक महत्त्व के मूल्य वह आत्मसात् करेगा और उतना ही सपन्न उसका व्यक्तित्व होगा।

किशोरो की कम्यूनिस्ट शिक्षा दीक्षा की प्रणाली मे पायोनियर सगठन की बहुत बडी भूमिका है (सोवियत सघ मे ६ स १४ वर्ष की आयु तक के सभी बच्चे इस सगठन के सदस्य होत है)। उसका प्रभाव बहुत हद तक इसपर निर्भर होता है कि ये दो प्रश्न कितनी सफलतापूर्वक हल किये गये है १) किशोरो के आयोजित क्रियाकलाप की अतर्वस्तु का प्रश्न और २) एक ओर वयस्को तथा किशोरो के और, दूसरी ओर, स्वय किशोरो के परस्पर सबधो के निर्माण का प्रश्न। सामूहिक जीवन सगठित करने का लक्ष्य ही यह है कि किशोरो को देश तथा जनता के जीवन के घनिष्ठ सपर्क मे लाया जाये और उन्ह समाजोपयोगी कायकलाप का और अपन स बडो तथा छोटो के साथ काम करने के तरीको का अनुभव सिखाया जाये

§६ वयस्कता के विकास की दिशाएं और जीवन-मूल्यों का निर्माण

वयस्कता प्राप्ति के दौरान किशोर जिन प्रतिमानों में निर्मित होता है उनका स्वरूप प्रायः भिन्न भिन्न होता है अतः वयस्कता के विकास की दिशाएं भी भिन्न भिन्न होती हैं। किशोर के जीवन-मूल्यों की अंतर्वस्तु और उसके व्यक्तित्व निर्माण की सामान्य दिशा बहुत हद तक इन प्रतिमानों से ही निर्धारित होती है।

वयस्कता की बाह्य अभिव्यक्तियों का अनुकरण

किशोर के लिए वयस्कता की बाह्य अभिव्यक्तियां काफी आकर्षक सिद्ध हो सकती हैं। इन अभिव्यक्तियों में सबसे पहले उसकी नजर वयस्कों के बाह्य रूप तथा तौर-तरीकों पर और अपने कतिपय विशेषाधिकारों के कारण वे बच्चों की अपेक्षा जिस बेहतर स्थिति में होते हैं उसपर ही पड़ती है जैसे धूम्रपान, ताश खेलना, शराब पीना, खास तरह के शब्दों का प्रयोग करना, फैशनेबुल कपड़े पहनना, रूप सज्जा करना, सौन्दर्य प्रसाधनों का उपयोग, आभूषण पहनना, नाज नखरे, विश्राम व मनोरंजन के ढंग, आदि। हाथ में सिगरेट लेना किशोर को अपनी नजरों में और जैसा कि उसे लगता है, आसपास के लोगों की नजरों में भी वयस्क बना देता है। पुरुष अथवा नारी वयस्कता के ऐसे लक्षणों का अनुकरण किशोर के लिए अपनी वयस्कता को अभिव्यक्त तथा प्रदर्शित करने और मनवाने का साधन होता है। यह सबको दिखायी देनेवाली वयस्कता की प्राप्ति का सबसे सरल उपाय है। इसीलिए किशोरों में वयस्कता का प्रायः यह रूप ही सबसे पहले प्रकट होता है। वह बहुप्रचलित है, मजबूत होता है और आसानी से बेनकाब नहीं किया जा सकता।

अपने को आकर्षक बनाने की चिंता, फैशनेबुल दिखाने की कोशिश विशेषतः लड़कियों का बहुत समय ले लेती है। कुछ किशोर पांचवीं छठी कक्षा में ही साथियों की सहायता से फैशनेबुल नृत्य सीखने लग जाते हैं। उनके लिए यह महत्त्वपूर्ण बन जाता है कि उनके प्रति स्नेह प्रेम

और प्रशसा का प्रदर्शन बच्चो के ढग से नही, वयस्को के ढग से किया जाये, जैसे मिलन के लिए बुलाया जाये, सौजन्य प्रदर्शन पारपरिक तरीके से किया जाय नाच-गान और शराबवाली पार्टिया की जाये, वगैरह। ऐसी स्थितियो मे किशोर आरभ मे कुछ सकोच, झिझक अनुभव करते है उनके पास बात करने को कुछ नही होता, वे नही जानते कि दूसरो के सामने कैसे पेश आय, किंतु उनके लिए व्यवहार सबधो और मनोरजन के एक निश्चित रूप का पालन ही अपने आप मे बडा महत्त्व रखता है। कुल मिलाकर वे प्राय कालेज विश्वविद्यालय के छात्रो के पदचिह्नो पर चलने की कोशिश करते है सिनेमा मे, टेलीविजन पर सडक पर जो देखा है, उसकी नकल करते है। **सीखा अथवा किया वही जाता है, जो पापुलर लगता है** (सब ऐसा करते है', "इसी का फैशन है') और इससे मेल खानेवाले **प्रतिमान मूल्याकन और आत्ममूल्याकन की कसौटी बन जाते हैं।** फैशन नाच गानो, पार्टियो, मिलनो आदि के पीछे दीवाना होने की मात्रा भिन्न भिन्न हो सकती है। बहुत बार तो यह प्रवृत्ति एक खास वर्ग के किशोरो के जीवन मे बहुत बडा महत्त्व रखने लग जाती है। किंतु **अपने बाह्य रूप और दूसरे लिग के व्यक्ति मे रुचि अन्य प्रकार से भी—वयस्को की नकल किये बिना भी—व्यक्त हो सकती है।**

प्राय ठोस प्रतिमान अपने से अधिक वयस्क सहपाठी अथवा दूसरे बच्चे बनते है। बहुत बार वे ही किशोरो को वयस्क जीवन के न्यूनाधिक वर्जित पहलुओ से परिचित कराते हैं और उनके लिए एक तरह के उस्ताद या मार्गदर्शक बन जाते है। सबमे अधिक खतरे की बात तब होती है जब बडी कक्षाओ के किशोर (सातवी आठवी कक्षाओ के छात्र) मौज मस्ती और बेफिक्री की उस जीवन पद्धति की नकल करने लगते है जिसे विधिवेत्ता लोग 'खाली समय बिताने का निकृष्ट तरीका' कहते है (मद्यपान, ताशबाजी सार्वजनिक नृत्यस्थलो पर जाना, बेमतलब सडको पर घूमना आदि)। ऐसे मे किशोर के जीवन मे पढाई गौण बन जाती है सज्ञानमूलक रुचिया लुप्त हो जाती है और **"मौज-मस्ती मे समय गुजारने"** का लक्ष्य और उसके अनुरूप जीवन **मूल्य पैदा हो जाते हैं।** इस तरह से समय गुजारने के लिए पैसो की समस्या अपराधवृत्ति को जन्म दे सकती है। यह पाया गया है कि ८०-९०

प्रतिशत अवयस्क अपराधियों को अपराध के मार्ग पर "खाना समय बिताने के निकृष्ट तरीका" ठेलता है। वयस्कता के विकास की ऐसी दिशा अत्यंत अवांछनीय है।

"सच्चे पुरुष" का आदर्श

वयस्कता के विकास की एक अन्य दिशा किशोर लड़कों की पुरुषत्व के आदर्श की एक निश्चित अंतर्वस्तु, जिसे "सच्चे पुरुष" की विशेषताएं कहा जाता है, की ओर सक्रिय रूप से उन्मुख होना है। इन विशेषताओं में एक ओर शक्ति, संकल्प, साहस, निर्भीकता, तितिक्षा जैसे गुण आते हैं और दूसरी ओर, अटूट मैत्री और वफादारी जैसे गुण। सोवियत संघ के किशोरों की टामस मेन रीड, जे० फेनीमोर कूपर और अलैक्जेंडर ड्यूमा के उपन्यासों, १६१७ की महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति तथा महान देशभक्तिपूर्ण युद्ध (१६४१-१६४५) के वीरों से संबंधित रचनाओं और शौर्यपूर्ण तथा जासूसी कथानकवाले साहित्य तथा फिल्मों में अनेक दशकों से ज्यों की त्यों बनी हुई रुचि के पीछे काफी हद तक यही कारण है कि इन सबके नायकों में 'सच्चे पुरुष' के या तो सभी या अधिकांश गुण पाये जाते हैं। ऐसे नायक उन्हें मोहित कर लेते हैं, उनके लिए अनुकरण अथवा आत्मशिक्षा के वास्ते प्रतिमान बन जाते हैं। किशोर अपने पिता, भाई और परिचित जनों के भी ऐसे गुणों पर गर्व करते हैं, उनके बारे में दूसरों को बताते हैं और स्वयं भी उनके जैसा बनने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। किशोर के लिए उसका वह समवयस्क भी प्रतिमान बन सकता है, जो अन्य बच्चों के बीच अपनी शक्ति, साहस, फुर्तीलेपन और क्रीड़ा-कुशलता के लिए मशहूर है। ऐसे बच्चों को विशेष आदर की दृष्टि से देखा जाता है और यदि वे अच्छे साथी भी हों, तो उनकी लोकप्रियता और भी बढ़ जाती है। कायरता को हिकारत की नजरों से देखा जाता है। अपने साहस और निर्भीकता के प्रदर्शन के लिए बच्चा जोखिम का काम और कभी कभी तो अनुचित काम करने से भी नहीं झिझकता। शारीरिक बल की बड़ी कद्र की जाती है। कभी कक्षा में अथवा समूह में बच्चों में शारीरिक बल के मुताबिक एक सोपानक्रम सा बन जाता है,

जिसे सभी जानते और ध्यान मे रखते है। किशोर अपने शारीरिक विकास के प्रति बडे सवेदनशील होते है। वे कुश्ती लडना ताकत आजमाना पसद करते है। इन्हे सबके सामने किया जाता है। कुछ बच्चो की एक दूसरे से लडने भिडने की आदत बहुधा किसी पर अपनी ताक्त का रौब जमाने की आकाक्षा मे जुडी होती है। साथियो का आदर पाने के लिए किशोर अपने शौर्य-पराक्रम का बढा चढाकर बखान कर सकता है। इस सिलसिले मे उसे जो तारीफ मिलती है, वह उसके लिए बडा महत्त्व रखती है।

बहुत सारे लडके विभिन्न अभ्यासो के जरिये पाचवी-छठी कक्षा मे ही अपने मे शारीरिक बल और दृढ इच्छा शक्ति का विकास करना शुरू कर देते हैं। इसमे खेलकूद महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। सातवी आठवी कक्षाओ के लडको को शक्ति और निडरता के खेल के रूप मे बाक्सिग विशेष रूप से आकृष्ट करता है। पहले चरण मे किशोर की अपने व्यवहार पर नियत्रण करने की आकाक्षा किसी काम को करने की अनिच्छा पर और भयोत्पादक स्थितियो मे भय पर काबू पाने की कोशिशो का रूप लेती है। अनिच्छा पर काबू पाने के लिए वह अपनी दिनचर्या निश्चित करता है और भय पर काबू पाने के लिए अपने शारीरिक बल, इच्छा-शक्ति तथा साहसिकता की तरह तरह से परीक्षा करता है तथा उनके विकास के लिए विशेष प्रशिक्षणात्मक अभ्यास करता है (यद्यपि कभी-कभी वे स्वास्थ्य व जीवन के लिए खतरनाक भी होते है)। आरभिक असफलताए जिनका होना स्वाभाविक ही है किशोर के उत्साह पर पानी फेर सकती है और कमियो के दूर कर पाने की अपनी क्षमता मे अविश्वास पैदा कर सकती है। ऐसे समय पर किशोर को वयस्को की सहायता की विशेष जरूरत होती है। वयस्को को ठोस लक्ष्य निर्दिष्ट करने और उनकी प्राप्ति के सही साधन ढूढने और सायोगिक क्रियाओ को स्थायी क्रियाओ मे बदलने के तरीके चुनने मे उसकी मदद करनी चाहिए। सातवी आठवी कक्षाओ मे कुछ बच्चे आत्मशिक्षा के इस अधिक ऊचे चरण मे स्वय ही पहुच जाते है। तब आत्मशिक्षा उनके लिए उत्तरोत्तर जटिल बनते कृत्यको से युक्त सगठित और नियमित सक्रियता बन जाती है।

किशोरावस्था मे अधिकाश लडको के लिए पुरुषत्व के गुण वयस्को,

साथियो और स्वय को आकने का महत्त्वपूर्ण मापदड बन जाते हैं और उनकी स्थायी रुचियो तथा शौको — सामान्यत मेलजूल मे सबद्ध रुचियो तथा शौको — को निर्धारित करनेवाले निजी मूल्यों के विशेष प्रवर्ग का रूप ले लेते हैं। अलग-अलग किशोरो के लिए इन मूल्यो का अन्य मूल्यो के बीच स्थान अलग-अलग और कभी-कभी तो बहुत ही महत्त्वपूर्ण भी हो सकता है। किंतु नैतिक शिक्षा के अभाव म किशोर म (अथवा किशोर समूह म) शक्ति सकल्प और साहसिकता की पूजा की भावना भी उत्पन्न हो सकती है चाहे इन गुणो का सामाजिक-नैतिक अभिप्राय कुछ भी क्या न हो। अत शिक्षको और प्रतिपालको का कर्त्तव्य है कि वे किशोरो म पुरुषत्व के गुणो तथा उनकी नैतिक अतर्वस्तु की सही धारणा का पोषण करे।

किशोर की सक्रियता मे प्रतिमान के रूप मे वयस्क

अतर्वस्तु की दृष्टि से मूल्यवान सामाजिक व नैतिक प्रौढ़ता का विकास वयस्क और किशोर की सयुक्त सक्रियता के दौरान होता है। उसमे वयस्क की भूमिका प्रतिमान (कर्तव्य-पालन और योग्यता के प्रतिमान) की होती है और किशोर की भूमिका उसके सहायक की। किशोर के लिए ऐसा प्रतिमान पिता मा, अध्यापक यानी कोई भी वयस्क हो सकता है। ऐसा उन परिवारो मे प्राय दिखायी देता है, जो किन्हीं कठिनाइयो से गुजर रहे है। उनमे किशोर द्वारा दी जानेवाली सहायता आवश्यक बन जाती है और परिवार के जीवन मे बहुत सी चीजे उसपर निर्भर होती है। प्राय घर के बहुत से कामो और छोटे बच्चो की देखभाल का दायित्व उसी को निबाहना पडता है। उन बच्चो के सबध मे उसकी हैसियत वयस्क जैसी ही होती है। ऐसी स्थितियो म — और जब मा बाप के बीच खटपट चल रही हो तब तो और भी — किशोर काफी हद तक वयस्को के ढग से ही रहने लग जाता है।

श्रम मे वयस्को के बराबर ही सहभागिता और उनकी ओर से विश्वास किशोर मे उत्तरदायित्व स्वावलंबिता विभिन्न कार्यों और कर्त्तव्यो को निभाने की दक्षता दूसरो के बारे मे सोचने व ध्यान रखने की योग्यता, सवेदनशीलता और सतर्कता जैसे गुण विकसित करते हैं।

इन गुणो के विकास के लिए सर्वोत्तम परिस्थितिया तब बनती है जब किशोर मा के सहारे और रक्षक की भूमिका निभाता है। अपने प्रिय जनों की सकुशलता, उनकी चिता उसके लिए अत्यत महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं और जीवन मूल्य का रूप ले लेती हैं।

उल्लेखनीय है कि बहुत से किशोर लडके 'वयस्क' हुनरो को भी सीखने की कोशिश करते है, जैसे बढई और फिटर के काम खराद चलाना, डाइवरी, ट्रैक्टर चलाना फोटोग्राफी बदूक चलाना शिकार खेलना, कुतुबनुमा का इस्तेमाल जानना आदि। किशोरावस्था का आरभ ऐसे हुनर सिखाने के लिए सबसे उपयुक्त समय है। इसके लिए किशोर को वयस्को के इन कामो मे सहायक के तौर पर भाग लेने के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए। स्वय किशोर भी इसके लिए लालायित रहते है और काम की अतर्वस्तु तथा शिक्षण जितने ही गभीर होगे, व उतनी ही तत्परता से काम मे हिस्सा लेगे। वयस्को द्वारा उसपर भरोसा किया जाना किशोर को अच्छा लगता है और वह उसे सही ठहराने का प्रयत्न करता है। उसके लिए मडलियो और श्रम कक्षाओ म काम का आकर्षण इसपर निर्भर होता है कि उससे उसे नयी बात सीखने, आगे बढने, अपनी मेहनत के फल देखने और समाज का व अपना हित करने का अवसर कहा तक मिलता है। लडकियो मे भी 'जनाना' हुनरो (सिलाई, कढाई, बुनाई पाककला आदि) को सीखने की तत्परता पायी जाती है।

शैक्षिक व सज्ञानमूलक सक्रियता के दौरान वयस्कता का विकास

वयस्कता के विकास की एक मुख्य दिशा सार्थक रुचियो के विकास और भविष्य की योजनाओं के निर्माण से जुडी हुई है। उसका मूल किशोर की किसी काम को असली ढग से जानने और करना सीखने की आकाक्षा म होता है। इससे स्वतत्र शैक्षिक व सज्ञानात्मक सक्रियता के जन्म को प्रेरणा मिलती है, जिसकी अतर्वस्तु स्कूली पाठ्यक्रम तक ही सीमित नहीं होती। ऐसी सक्रियता और ज्ञान के प्रति ऐसा रुख पेशे सबधी योजनाओ मे अभिव्यक्त और विज्ञान तकनीक कला

साथियो और स्वय को आकने का महत्त्वपूर्ण मापदड बन जाते हैं और उसकी स्थायी रुचियो तथा शौको – सामान्यत खेलकूद से सबद्ध रुचिया तथा शौको – को निर्धारित करनेवाले निजी मूल्यो के विशेष प्रवर्ग का रूप ले लेते हैं। अलग अलग किशोरो के लिए इन मूल्यो का अन्य मूल्यो के बीच स्थान अलग अलग और कभी कभी तो बहुत ही महत्त्वपूर्ण भी हो सकता है। किंतु नैतिक शिक्षा के अभाव म किशोर म (अथवा किशोर समूह मे) शक्ति सकल्प और साहसिकता की पूजा की भावना भी उत्पन्न हो सकती है चाहे इन गुणो का सामाजिक-नैतिक अभिप्राय कुछ भी क्यो न हो। अत शिक्षको और प्रतिपालको का कर्तव्य है कि वे किशोरो मे पुरुषत्व के गुणो तथा उनकी नैतिक अतर्वस्तु की सही धारणा का पोषण कर।

किशोर की सक्रियता मे प्रतिमान के रूप मे वयस्क

अतर्वस्तु की दृष्टि से मूल्यवान सामाजिक व नैतिक प्रौढता का विकास वयस्क और किशोर की सयुक्त सक्रियता के दौरान होता है। उसमे वयस्क की भूमिका प्रतिमान (कर्तव्य पालन और योग्यता के प्रतिमान) की होती है और किशोर की भूमिका उसके सहायक की। किशोर के लिए ऐसा प्रतिमान पिता, मा, अध्यापक यानी कोई भी वयस्क हो सकता है। ऐसा उन परिवारो मे प्राय दिखायी देता है, जो किन्ही कठिनाइयो म गुजर रह है। उनमे किशोर द्वारा दी जानेवाली सहायता आवश्यक बन जाती है और परिवार के जीवन म बहुत सी चीजे उसपर निर्भर होती है। प्राय घर के बहुत से कामो और छोटे बच्चो की देखभाल का दायित्व उसी को निबाहना पडता है। उन बच्चो के सबध मे उसकी हैसियत वयस्क जैसी ही होती है। ऐसी स्थितियो मे – और जब मा बाप के बीच खटपट चल रही हो तब तो और भी – किशोर काफी हद तक वयस्को के ढग से ही रहने लग जाता है।

श्रम मे वयस्को के बराबर ही सहभागिता और उनकी ओर से विश्वास किशोर म उत्तरदायित्व स्वावलबिता, विभिन्न कार्यो और कर्तव्यो को निभाने की दक्षता, दूसरो के बारे मे सोचने व ध्यान रखने की योग्यता, सवेदनशीलता और सतर्कता जैसे गुण विकसित करते हैं।

इन गुणो के विकास के लिए सर्वोत्तम परिस्थितिया तब बनती है, जब किशोर मा के सहारे और रक्षक की भूमिका निभाता है। अपने प्रिय जनो की सकुशलता, उनकी चिता उसके लिए अत्यत महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं और जीवन मूल्य का रूप ले लेती हैं।

उल्लेखनीय है कि बहुत से किशोर लडके 'वयस्क" हुनरो को भी सीखने की कोशिश करते है जैसे बढई और फिटर के काम, खराद चलाना डाइवरी ट्रैक्टर चलाना, फोटोग्राफी, बदूक चलाना, शिकार खेलना कुतुबनुमा का इस्तेमाल जानना आदि। किशोरावस्था का आरभ ऐसे हुनर सिखाने के लिए सबसे उपयुक्त समय है। इसके लिए किशोर को वयस्को के इन कामो मे सहायक के तौर पर भाग लेने के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए। स्वय किशोर भी इसके लिए लालायित रहते है और काम की अतर्वस्तु तथा शिक्षण जितने ही गभीर होगे व उतनी ही तत्परता से काम म हिस्सा लेगे। वयस्को द्वारा उसपर भरोसा किया जाना किशोर को अच्छा लगता है और वह उसे सही ठहराने का प्रयत्न करता है। उसके लिए मडलियो और श्रम कक्षाओ म काम का आकर्षण इसपर निर्भर होता है कि उससे उसे नयी बात सीखने, आगे बढने अपनी मेहनत के फल देखने और समाज का व अपना हित करने का अवसर कहा तक मिलता है। लडकियो मे भी "जनाना" हुनरो (सिलाई कढाई, बुनाई, पाककला, आदि) को सीखने की तत्परता पायी जाती है।

शैक्षिक व सज्ञानमूलक सक्रियता के दौरान वयस्कता का विकास

वयस्कता के विकास की एक मुख्य दिशा सार्थक रुचियो के विकास और भविष्य की योजनाओ के निर्माण से जुडी हुई है। उसका मूल किशोर की किसी काम को असली ढग से जानने और करना सीखने की आकाक्षा म होता है। इसम स्वतत्र शैक्षिक व सज्ञानात्मक सक्रियता के जन्म को प्रेरणा मिलती है, जिसकी अतर्वस्तु स्कूली पाठ्यक्रम तक ही सीमित नहीं होती। ऐसी सक्रियता और ज्ञान के प्रति ऐसा रुख पेशे-सबधी योजनाओ से असबधित और विज्ञान तकनीक कला

आदि कई अथवा एक ही ज्ञान शाखा से सबधित हो सकते हैं। शौक कभी-कभी इतनी गहरी धुन का रूप ले सकता है कि खाली समय का ही नही, पाठो की तैयारी के लिए आवश्यक समय का भी काफी बडा भाग उसी को अर्पित कर दिया जाता है। जिन किताबो, पत्रिकाओ सामग्रियो या उपकरणो मे रुचि है, उन्हे खोजने और हासिल करने के लिए एडी-चोटी का जोर लगा दिया जाता है। किशोर नियमित रूप से पुस्तकालय, सग्रहालय अथवा प्रदर्शनियो म जाने लगते है, किसी खास विषय से सबद्ध सामग्री का बारीकी से अध्ययन करने लगते है। रुचि-साम्य के आधार पर साथियो के साथ गहन, सार्थक सपर्क कायम किये जाते है। तरह तरह के सवालो पर बहस चलती है, पुस्तका सामग्रियो का विनिमय किया जाता है, कथनी और करनी द्वारा एक दूसरे की कठिनाइयो मे मदद की जाती है। ऐसी स्थिति में किशोर सदर्भिकाओ और पुस्तको से भी सहायता लेता है और स्वय असफलता का कारण खोजने का प्रयास करता है। यह सार्थक रुचियो और उत्पादक सक्रियता के विकास का बहुत महत्त्वपूर्ण पहलू है किशोर किन्हीं नयी जानकारियो को हासिल करने की अपनी आवश्यकता स्वय ही, यानी आत्मविकास व स्वयशिक्षा द्वारा पूरी करता है। प्राय किशोर की स्वतत्र सक्रियता म सृजनात्मक तत्त्व रहते हैं–उस नवसृजन की प्रक्रिया और सामान्यतया खुद सधान की प्रक्रिया भी आकृष्ट करती है। फलस्वरूप बौद्धिक विकास तजी से होता है और ज्ञान अधिक गभीर तथा व्यापक बन जाता है।

किशोरावस्था मे ही सधानमूलक रुचियो की मुख्य प्रवृत्ति का विकास होता है। हर कक्षा म ज्ञान की विभिन्न शाखाओ के अपने विशेषज्ञ होते है जिनसे सहपाठी परामर्श लेते हैं, बहसो म निर्णायक का काम करने को कहते है। ऐसे किशोरो का काफी अधिक ज्ञान स्वय अर्जित किया हुआ होता है। उनके लिए वे ज्ञान भी और उसके अर्जन की प्रक्रिया भी व्यक्तिगत रूप से महत्त्वपूर्ण और आवश्यक होते हैं। स्वय शिक्षा की प्रवृत्ति कतिपय पाचवी कक्षा के छात्रो म भी दिखायी देने लग जाती है। सामान्यत य व बच्चे होते है जिनके माता पिता अपने बेटे या बेटी की सधानमूलक रुचियो और सार्थक शौको के विकास पर बडा ध्यान देते हैं।

बहुधा ऐसी परिस्थितियो मे ही आरभिक स्कूली आयु मे अथवा किशोरावस्था के आरभ म बच्चा अपने भावी पेशे के बारे मे इरादे बनाने लग जाता है (जिनम स्कूली शिक्षा की समाप्ति तक कोई खास परिवर्तन नही आता) और फिर पाचवी छठी कक्षा से अपने को भविष्य के लिए तैयार भी करने लग जाता है। कुछ मामलो मे खेल, आत्म-विकास तथा स्वयशिक्षा का अद्भुत मेल देखने मे आता है किसी निश्चित पेशे को अपनाने का छठी कक्षा के बच्चे का स्वप्न, एक ओर, मनपसद भूमिकापरक खेलो और मनपसद भूमिकाओ की अतर्वस्तु मे साकार बनता है और दूसरी ओर, रुचियो के दायरे को निर्धारित करता है और किसी खास प्रकार का ज्ञान, कौशल तथा गुण हासिल करने के लिए प्रेरणा का स्रोत बनता है। मिसाल के लिए, सागर से सबधित किसी पेशे का स्वप्न, एक ओर सामरिक अतर्वस्तुवाले खेलो के शौक म प्रतिबिंबित हो सकता है और दूसरी ओर सागर व सागर-यात्रियो से सबधित पुस्तके तथा देशभक्तिपूर्ण लडाइयो की कहानिया पढने के शौक मे, जहाजी के लिए आवश्यक गुणो दक्षताओ तथा ज्ञान के अर्जन की कोशिशो मे झलक सकता है। पुस्त्व के गुण विभिन्न अभ्यासो और खेलकूद मे भाग लेने के जरिये विकसित किये जा सकते है। छठी कक्षा मे ज्ञान और कौशलो का अर्जन असगठित ढग से होता है, किंतु सातवी कक्षा म किशोर बाल नदी जहाजरानी की मडली मे शामिल होने की योजना बनाने लग जाता है और अपनी इस योजना को साकार भी बना लेता है। किशोरावस्था के उत्तरार्ध (सातवी-आठवी कक्षाओ) मे पेशे सबधी स्वप्नो के साकारीकरण के बाल रूप लुप्त हो जाते है।

किशोर के मन मे भावी पेशे की तसवीर **जितनी ही साफ और टिकाऊ होगी**, उतनी ही जल्दी वह "आवश्यक और अनावश्यक' 'महत्त्वपूर्ण और 'महत्त्वहीन" जानकारियो के बीच भेद करना जान जायेगा और उनके बीच समय को ठीक से बाटना सीख लेगा। छठी कक्षा मे ही कुछ बच्चो को और सातवी-आठवी कक्षाओ म तो और भी ज्यादा बच्चो को जिनका तकनीकी विषयो और तकनीकी पेशो के प्रति रुझान है मानविकी के विषय "अनावश्यक और "महत्त्वहीन" प्रतीत होने लग जाते है जबकि भौतिकी तथा गणित

म उनकी रुचि स्कूली पाठ्यक्रम की सीमाए भी लाघ जाती है। सरल वैज्ञानिक और विशेषीकृत साहित्य को अधिक पढा जाता है, वैज्ञानिक और तकनीकी क्लबों म नियमित रूप स जाया जाता है और तकनीकी यत्र व युक्तिया बनायी ईजाद की जाती हैं। कुल मिलाकर उनकी स्वतत्र सक्रियता ऐसी स्वयशिक्षा का रूप ले लेती है, जिसकी एक सर्वथा निश्चित दिशा और स्पष्ट लक्ष्य होता है – उन सब चीजों को सीखना, जो भविष्य मे काम आयेंगी। इसलिए पाठ्येतर सज्ञानमूलक सक्रियता का किशोर के लिए बहुत बडा व्यक्तिगत महत्त्व होता है।

किशोरावस्था मे ज्ञान, उसकी व्यापकता और गहराई किशोर के लिए वयस्कों, साथियो और स्वय के मूल्याकन का एक महत्त्वपूर्ण मापदड हो जाते हैं। इस कारण सातवी आठवी कक्षाओ के बहुत स छात्र अपना सामान्य सास्कृतिक स्तर ऊचा उठाने, कला के विविध क्षेत्रो – साहित्य, सगीत चित्रकला, थियेटर, आदि – के बारे म ज्यादा से ज्यादा जानने के लिए लालायित रहते है। बहुत बार इसके लिए उन्हे प्रेरणा अपने उन साथियो से मिलती है, जिनका बहुज्ञान उनकी सगत को रोचक बना देता है और किशोर की अपने अज्ञान के बारे म आखे खोलता है। आरभ म किशोरो की आत्मपरिष्कार की ओर उन्मुख यह सक्रियता अनियमित अनेकमुखी और असगठित होती है, किंतु कुछ बच्चो के मामले मे उसमे आठवी कक्षा मे ही तरुणो की सक्रियता जैसे लक्षण आ जाते है।

सभी ही किशोरो के मामले मे ज्ञानार्जन वर्तमान तथा भविष्य के लिए आत्मपरक दृष्टि से आवश्यक सक्रियता का रूप नही लेता। इसके बावजूद जिज्ञासा और कौतूहल किशोर की विशेषताए हैं। जो कुछ भी नया है, रोचक है, अर्थपूर्ण है, उसे ग्रहण करने के लिए उसके मस्तिष्क के कपाट खुले रहते हैं, वह तरह-तरह की जानकारियो तथा तथ्यो को आत्मसात् करता है किंतु उसकी जिज्ञासा की मुख्य दिशा बहुविध हो सकती है। वयस्क किन्ही कारणो से उससे जो जानकारी छिपाते हैं वह उसकी रुचि और भी बढा देती है। वर्जना और निषेध जिज्ञासा और सक्रियता को उद्दीप्त करते है।

किशोर की वयस्कता के विकास मे ललित साहित्य सिनेमा और टेलीविजन विशेष भूमिका निभाते है। किशोरो को सिनेमा देखन का बडा शौक होता है और किताबे भी उनमे से अधिकाश के लिए आत्मपरक दृष्टि से आवश्यक बन जाती है। इस सबध मे पठन रुचियो का परिवर्तन भी ध्यान देने योग्य है बाल साहित्य का स्थान शनै शनै वयस्को द्वारा पढा जानेवाला साहित्य लेने लगता है और बाद मे केवल वयस्को का साहित्य, उपन्यास ही पढे जाते है। यही बात फिल्मो और रगमच से सबधित रुचि पर भी लागू होती है। **पुस्तके और फिल्मे वस्तुपरक रूप से ही नहीं, आत्मपरक रूप से भी जीवन और लोगो को जानने का साधन होती है। दोनो ही जीवन और मानव सबधो के विभिन्न पहलुओ मे पैठने मे मदद करती हैं।**

किशोर का प्रिय नायक ऐसा व्यक्ति होता है जो सक्रिय है लक्ष्योन्मुख है, गभीर लगभग अलघ्य बाधाओ को भी पार कर लेता है और अत मे विजयी सिद्ध होता है। किशोर को ऐसे कथानक आकृष्ट करते हैं जिनमे प्रकृति की शक्तियो के साथ, तरह तरह की कठिनाइयो के साथ बुराई और उसकी विभिन्न अभिव्यक्तियो के साथ सघर्ष दिखाया होता है। आयु के साथ किशोर मानव सबधो तथा क्षमताओ और प्रेम की समस्याओ मे रुचि लेने लगता है। पुस्तके और फिल्मे ही उसे मानव सबधो और भावनाओ की जटिलता और मनुष्य के जीवन मे उनके स्थान के बारे म जानने की सभावना देती है। वे उसके जीवन क दायरे को विस्तृत कर देती हैं। पात्रो और नायको की नियति मे सहभागी बनना, विभिन्न स्थितियो मे काल्पनिक रूप से पैठना अपने को नायक के स्थान पर रखना अत को आकर्षक बनाने के लिए कल्पना मे कथानक को दूसरा मोड देना, जो लिखा कहा नही गया है, उसकी कल्पना करना, ये सब किशोर स्वभाव की विशेषताए है।

हर कलात्मक रचना की अतर्वस्तु किशोर के लिए ऐसे सक्रिय कर्म का विषय होती है जिसके दौरान वह विभिन्न पात्रो की एक दूसरे से और अपने से तुलना करता रहता है। इस तुलना के जरिये वह अपने आपको पहचानता है और कुछ पात्र उसके लिए प्रतिमान

वन जाते है। कार्यो की तुलना व फलस्वरूप विभिन्न गुणो के मूल्याकन की कसौटिया वनती है। मानसिक स्तर पर रचना की विषयवस्तु सबधी ऐसी क्रिया किशोर के नैतिक और सवेगात्मक विकास का साधन होती है। पुस्तको और फिल्मो की वदौलत वह एक विशेष रूप म और विशेष तरीके स वयस्को के जीवन के सपर्क म आता है और दत्त क्षण म जो मानव सवध तथा अनुभूतिया उसकी पहुच से बाहर हैं, उन्हे आत्मसात करता है। इस तरह मानसिक, वैचारिक आत्मसात्करण व्यावहारिक आत्मसात्करण से पहले सपन्न हो जाता है। किशोर के विकास के लिए यह अत्यत महत्त्वपूर्ण है।

यथार्थ के विविध पहलुओ का वैचारिक आत्मसात्करण स्वप्नो (कल्पना) मे जारी और विद्यमान रहता है। उनम किशोर अपनी सक्रियता के लिए पढी देखी या सुनी गयी चीजो म से जिस चीज न उसे चकित किया है उसके आधार पर कल्पित जीवनीय स्थितियो का निर्माण करता है। इस तरह कल्पित स्थितिया वर्तमान मे मौजूद स्थितियो और सबधो स अतर्गुफित भी हो सकती है और उनसे असबद्ध भी। प्राय किशोर अपने भावी रूप की कल्पना वयस्क के तौर पर ही करता है। अपनी वयस्कता के बिंब का निर्माण और तदनुसार आचरण की कल्पना किशोर वय के स्वप्नो का विशेष लक्षण है। उनका सबध बाह्य रूप विभिन्न गुणो जैसे मैत्री और प्रेम के सबधो से होता है। कुल मिलाकर ऐसे स्वप्नो को वर्तमान और भावी जीवन की सतोषजनक रीति की खोज और ऐसे गुणो की समष्टि के रूप मे अपने व्यक्तित्व के बिंब की खोज कहा जा सकता है, जो किशोर ने अन्य लोगों मे देखे है और जो उसे आकर्षित करते हैं। किशोर अपनी कल्पना म तरह-तरह के विकल्प गढता है और कुल मिलाकर एक रोचक और सारगर्भित जीवन के सामाजिकत उपयोगी व सृजनपूर्ण सक्रियता के, अपने आपको जताने तथा दूसरो से मान्यता व आदर पाने के, सच्ची मैत्री तथा प्रेम के स्वप्न देखता है। उसकी कल्पना की कभी कभी कोई सीमा नही होती और कल्पित वस्तु की अयथार्थता भी नयी नयी स्थितियो को गढने मे बाधक नही बनती। कल्पनालोक मे विहार करना सभी किशोरो को प्रिय है। स्वप्न को व्यवहार मे साकार बनाने की आकाक्षा आत्मविकास और स्वयशिक्षा की प्रवृत्ति म प्रकट होती है।

कभी कभी वह घर से भागकर किसी निर्माणस्थली पर अथवा अन्यत्र कार्य करने चले जाने, नाविक प्रशिक्षण विद्यालय अथवा ऐसी किसी अन्य सस्था मे भरती हो जाने मे भी प्रकट होती है। ऐसे विशिष्ट तरीके मे बच्चा भविष्य को निकट लाता है, उसमे आज ही प्रवेश करने अपने को स्वतत्र, स्वावलबी महसूस करने सरक्षण से मुक्ति पाने, दुनिया को अपनी आखो से देखने, वयस्को के श्रम मे भाग लेने और समाज को लाभ पहुचाने की कोशिश करता है।

इस प्रकार किशोर वयस्को की दुनिया म विभिन्न तरीको से प्रवेश और उसके मूल्यो का आत्मसात्करण करते है। वयस्कता अथवा प्रौढता का विकास एकागी तौर पर भी हो सकता है और एक साथ कई दिशाओ मे, विभिन्न गतियो से और विभिन्न रीतियो से भी हो सकता है, जैसे एक खास ढग से बने हुए सबधो पर अमल के रूप मे, अनुकरण और सीधे सीधे ग्रहण के जरिये, आत्मविकास और स्वयशिक्षा के जरिये, वयस्को और उनके जीवन से सबधित ज्ञान के आत्मसात्करण के जरिये। इन सभी प्रक्रियाओ का वस्तुत एक ही प्रयोजन होता है हर प्रक्रिया के दौरान किन्ही न किन्ही मानको मूल्यो सामाजिक अपेक्षाओ तथा व्यवहार रीतियो का आत्मसात्करण होता है और सक्रियता की दिशा तथा अतर्वस्तु को, मूल्याकन और आत्ममूल्याकन की कसौटियो को निर्धारित करनेवाले वैयक्तिक मूल्य बनते हैं। वैयक्तिक मूल्यो की इस निश्चित प्रणाली के निर्माण की अभिव्यक्ति यह है कि किशोर के लिए विभिन्न कार्य विभिन्न वैयक्तिक महत्त्व रखते है—किसी का सर्वोपरि महत्त्व और किसी का शून्य महत्त्व। इसके अलावा एक ही काम का विभिन्न किशोरो के लिए विभिन्न प्रयोजन भी हो सकता है। उदाहरणार्थ, एक किशोर के लिए खेलकूद आत्मविकास का साधन होता है दूसरे के लिए मलजोल बढाने का और तीसरे के लिए विश्राम और मनोरजन का अथवा निठल्लेपन को दूर करने का।

वयस्को की दुनिया के मूल्य आत्मसात और इस दुनिया मे प्रवेश करने मे मुख्यतया माता पिता तथा अध्यापको को ही किशोर की मदद करनी चाहिए। अन्यथा किशोर यह स्वय अथवा साथियो मित्रो व अन्य वयस्को की मदद से करेगा और बिल्कुल सभव है कि महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर दृष्टिभेद के कारण किशोर और मा-बाप व शिक्षक के सबधो

मे कठिनाइया पैदा हो जाये। वयस्क का यह कहना कि किशोर को अभी अपना दृष्टिकोण रखने का अधिकार नही है, न केवल कठिनाई को हल नही करता बल्कि किशोर के लिए अत्यत अपमानजनक भी है। उसके भ्रामक दृष्टिकोण को तर्को द्वारा परास्त किया जाना चाहिए, क्योकि उसके आत्मविश्वास की तह मे अस्थिर राय और जानने समझने की इच्छा छिपी होती है। किशोर से बात करने के लिए वयस्क म उसकी बात सुनने की योग्यता, धैर्य शाति और आतरिक एकाग्रता होना आवश्यक है। बहसो को गभीरता से लिया जाना चाहिए। व किशोर के नैतिक विकास का साधन होती है।

§७ किशोर का साथियो से ससर्ग

एक ही आयु के बच्चो की बुनियादी तौर पर समान स्थिति सबधो के इस क्षेत्र को उनके लिए आकर्षक बना देती है, क्योकि यह समानता किशोर म उत्पन्न अपनी वयस्कता की अनुभूति के नैतिक अतर्य के अनुरूप होती है। किशोरावस्था के आरभ म विकास म होनेवाले विशिष्ट परिवर्तनो के कारण किशोरो की आकाक्षाओ आवश्यकताओ, सवेगो और वयस्को व साथियो के साथ सबधो से की जानेवाली अपेक्षाओ म बुनियादी साम्य पाया जाता है। इससे समवयस्को के साथ सबध गहन बनने मे मदद मिलती है। किशोर के जो मूल्य बनते है वे वयस्क की अपेक्षा समवयस्क के लिए अधिक बोधगम्य होते है। वयस्को का ससर्ग पूरी तरह समवयस्को के ससर्ग का स्थान नही ले सकता।

किशोर के जीवन मे समवयस्को के ससर्ग की भूमिका

अपने सहपाठियो के साथ किशोर के सबध प्राथमिक कक्षाओ के बच्चो के सबधो के मुकाबले कही ज्यादा जटिल, बहुविध और सारगर्भित होते हैं। घनिष्ठता की मात्रा की दृष्टि से बहुविध सबध किशोरावस्था मे ही बनते हैं, जिनमे किशोर द्वारा स्पष्ट अतर किया जाता है मात्र साथी के सबध घनिष्ठ साथी के सबध, व्यक्तिगत मित्रता के सबध। साथियो के साथ ससर्ग शैक्षिक सक्रियता और स्कूल के बाहर

भी लगातार बढता जाता है। उसके दायरे मे नयी नयी रुचिया काम और सबध शामिल होते जाते है और अतत वह **किशोर के लिए जीवन का एक स्वतत्र व बहुत महत्त्वपूर्ण क्षेत्र** बन जाता है। यह क्षेत्र अनेकानेक व बहुविध घटनाओ सघर्षो व टकरावो विजयो व पराजयो, नयी खोजो व निराशाओ, रजिशो व खुशियो से भरपूर होता है। किशोर का वास्तविक जीवन, जिसमे वह काम करता व सोचता है और जिसे वह बहुत समय व आत्मिक शक्ति अर्पित करता है इन सबकी समष्टि होता है। **साथियो का साथ किशोर के लिए कभी कभी इतना मूल्यवान बन जाता है** कि पढाई पृष्ठभूमि म छूट जाती है और नाते रिश्तेदारो का ससर्ग भी बहुत कम आकर्षक रह जाता है। आम तौर पर सबसे पहले मा ही इसे महसूस करती है जो पाती है कि पुत्र (या पुत्री) उसस दूर हट रहा है, अपना एक अलग ही जीवन जी रहा है इस बारे मे उसे कुछ नही बताता है और अपना ज्यादा से ज्यादा समय घर स बाहर साथियो क साथ बिताने को लालायित रहता है। किशोर के लिए साथियो के साथ सबध **उसके अपने निजी सबधो का क्षेत्र** होते है जिसमे वह स्वतत्र रूप स काम करता है। वह समझता है कि उसे इसका अधिकार है। अपने इस अधिकार पर वह अडा रहता है और इसलिए वयस्को का अनुचित हस्तक्षेप उसक मन मे नाराजगी और विरोध की भावना पैदा करता है। किशोर के वयस्को के साथ सबध जितने ही तनावपूर्ण होगे उसके जीवन मे साथियो क साथ सबधो का उतना ही ज्यादा स्थान होगा और उतना ही प्रबल उसपर उनका प्रभाव होगा।

किशोर मे एक ओर तो **समवयस्को से ससर्ग बढाने, उनके साथ मिल जुलकर कार्य करने** और घनिष्ठ साथी बनाने की प्रबल प्रवृत्ति होती है और दूसरी ओर, इतनी ही प्रबल यह इच्छा भी कि **साथी उसे समझे, माने और आदर दे।** यह उसकी एक महत्त्वपूर्ण आत्मिक आवश्यकता बन जाती है। यदि सहपाठियो क साथ सबध अच्छे न हो कोई घनिष्ठ साथी और मित्र न हो या मैत्री टूट जाय तो किशोर क लिए यह व्यक्तिगत ट्रेजेडी होती है और उसे गभीर मानसिक आघात पहुचता है। किशोर के लिए सबसे अप्रिय स्थिति वह होती है जब साथी उसकी सच्चे दिल स भर्त्सना करते है। उसक लिए सबसे बडी

सजा वह होती है जब उसका प्रकटत या अप्रकटत बहिष्कार किया जाता है उससे मिलने-जुलने की अनिच्छा दिखायी जाती है। एकाकीपन का अहसास किशोर के लिए अत्यत असह्य व कष्टकर होता है। सह पाठियो के साथ अच्छे सबध न होने पर वह स्कूल के बाहर साथी और मित्र खोजता है। सामान्यत वे उसे मिल भी जाते हैं। किंतु ऐसी नयी मैत्री के दुखद परिणाम निकल सकते हैं।

किशोर की साथियो का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने उनकी अपने मे रुचि जगाने और सहानुभूति अर्जित करने की आकाक्षा कई तरह से व्यक्त हो सकती है जैसे सीधे-सीधे अथवा वयस्को की अप क्षाओ का उल्लघन करके अपने गुणो का प्रदर्शन करना, मसखरापन दिखाना नखरे करना आदि। किशोरो द्वारा सामाजिक व्यवहार के नियमो के उल्लघनो के पीछे सबसे अधिक वे अभिप्रेरक होते हैं, जिनका सबध समवयस्को के बीच अपनी स्थिति से किशोर की असतुष्टि से होता है।

सोवियत सघ मे आरभिक किशोर आयु के बच्चे अपने स्वभाव से समाजोन्मुखी और लोक सेवा की भावना से प्रेरित होते हैं। सामूहिक जीवन व कार्य पद्धति उन्हे अच्छी लगती है। सामाजिक कार्य उन्हे आकृष्ट करता है पसद आता है। इस आयु मे सामाजिक कार्य का शिक्षा व पालन के लिए बहुत बडा महत्त्व रखता है। इसके अलावा वह किशोरो के परस्पर ससर्ग के लिए सारगर्भित आधार बनता है और उन्हे अपनी स्वावलबिता क्रियाशीलता तथा उपक्रम के प्रदर्शन का अवसर देता है। फलस्वरूप हर कार्य मे बच्चे निरपेक्ष दर्शक न रहकर उसके सक्रिय भागीदार बनते है।

साथियो से अपेक्षाए

किशोरो के वैयक्तिक और सामूहिक परस्पर सबध प्राय वयस्को के साथ सबधो से निरपेक्ष रूप से बनते है। बहुत बार तो उनमे वयस्को की इच्छा और प्रभाव को भी अनदेखा कर दिया जाता है। इन परस्पर सबधो की अपनी अतर्वस्तु और विकास का अपना तर्क होता है। कक्षा

मे किशोर का उच्च समाजमितीय स्थान निम्न बात तय करती हैं १) किशोर मे उन वैयक्तिक गुणो का होना, जिनकी कक्षा के सभी छात्र कद्र करते है २) किशोर के मूल्यो का कक्षा के अन्य छात्रो के मूल्यो से मेल खाना, ३) साथियो की दृष्टि मे मूल्यवान अपने गुणो को उचित ढग से, वल्कि कुछ कम करके ही आकना। कक्षा मे अलोकप्रिय और कक्षा द्वारा ठुकराये हुए किशोरो का आत्ममूल्याकन प्राय गलत और अधिकाश मामलो मे अतिरजनापूर्ण होता है। किशोर के आत्ममूल्याकन का स्वरूप साथियो के साथ सबधो के विकास के लिए बडा महत्त्व रखता है। आरभिक स्कूली आयु की तुलना मे किशोरावस्था मे बच्चो के दो चरम समूह (लोकप्रिय और अलग थलग) स्पष्टत उभर आते हैं और समुदाय मे बच्चे की स्थिति अधिक स्थिर बन जाती है।

यदि प्राथमिक कक्षाओ मे समुदाय मे बच्चे की स्थिति मुख्यतया उसकी पढाई मे प्रगति, व्यवहार और सामाजिक क्रियाशीलता से (यानी वह वयस्को की अपेक्षाए कैसे पूरा करता है, इससे) निर्धारित होती है तो **किशोरो के मामले मे सबसे महत्त्वपूर्ण अन्य बातें बन जाती हैं, जैसे साथी और मित्र के नाते इसके गुण, सूझबूझ, ज्ञान (केवल पढाई मे प्रगति ही नहीं), साहसिकता और आत्मनियत्रण की योग्यता।** विभिन्न कक्षाओ मे (किशोर-समूहो मे भी) इन गुणो का मूल्याकन भिन्न-भिन्न होता है। **किंतु एक गुण – साथीपन का गुण – फिर भी सर्वोच्च स्थान पर रहता है।** लोकप्रियता ही नही सच्चा आदर और मान्यता अर्जित करने के लिए भी सर्वप्रथम अच्छा साथी होना आवश्यक है। इस सबध मे प्राय किशोरावस्था के आरभ मे पहले के लोकप्रिय बच्चो का समूह बदल जाता है एक तो, पहले जिनका दबदबा था उनके स्थान पर अन्य आ जाते हैं और दूसरे प्राय देखा जाता है कि कक्षा मे जो मानीटर वगैरह है वे अनिवार्यत सबसे अधिक समादृत और प्रतिष्ठित भी नही है, क्योकि बहुत से अध्यापको मे मानीटर वगैरह को अच्छा पढनेवाले तथा अनुशासनबद्ध किशोरो मे से चुनने की प्रवृत्ति होती है, चाहे उनमे अच्छे साथी के गुण हो या न हो। सहपाठी जिनके प्रभाव दबदबे को नही मानते उनका मानीटर, आदि होना अच्छा समुदाय बनाने और पायनीयर

सगठन के काम को ठीक से आयोजित करने मे पैदा होनेवाली कठिनाइया का एक कारण है। दूसरा, उतना ही महत्त्वपूर्ण कारण है अध्यापका द्वारा अपनी निरकुश नेतृत्व शैली को बनाये रखना और मानीटर, वगैरह को सहपाठियो स वैसे ही पेश आने की सीख देना, हालाकि किशोर इसे बिल्कुल कबूल नही करते, क्योकि वयस्को से भी और साथियो से भी उनकी एक ही बुनियादी अपेक्षा होती है—उनके व्यक्तित्व और गरिमा का आदर।

यह अपेक्षा ही किशोरो की 'साथीपन क नियमो की सहिता' का मेरुदड है। ये नियम खेलकूद मे और अन्य कार्यो म शनै शनै बनत और निश्चित रूप धारण करते है। उन्हे वयस्को क परस्पर सबधो से भी लिया जाता है। इन नियमो के निर्धारण तथा सुनिश्चितीकरण मे पुस्तके और फिल्मे भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। किशोरों की "साथीपन के नियमो की सहिता" मे सबसे अधिक बल आदर, समानता, निष्ठा, साथी की सहायता और ईमानदारी पर दिया जाता है। किशोरो के बीच किसी की भी साथी, समूह अथवा कक्षा के सबध मे कोई भी हरकत छिपी नहीं रहती और इन नियमो के अनुकूल अथवा प्रतिकूल करार दी जाती है। इसीलिए किशोर साथी या समूह के प्रति दिखायी गद्दारी' की, समझौता तोडने की नेतागीरी दिखाने की घमड और अपने गुणो को बढा चढाकर दिखाने की साथी की राय की उपेक्षा करने और किसी भी रूप मे (सीधे या उसके पीठ पीछे) उसकी गरिमा पर आघात करने की एक स्वर से भर्त्सना करते है। ये बाते मनमुटाव टकराव और झगडे पैदा करती है। किशोर साथी मे आत्मसम्मान की कमी, अपनी राय न रखन अथवा उसपर डटे रहना और अपमानकर्त्ता को मुहतोड जवाब देना न जानने की भी निंदा करते है। इसी तरह उन्ह चापलूसी खुशामद और गिरगिट की तरह रग बदलने से भी घृणा होती है। इन सबके प्रतिकूल गुण ही किशोर के उस जायमान नैतिक आदर्श का आधार बनते हैं जो साथी के गुणो के सबध म उसकी अपक्षाओ तथा साथी के साथ सबधो क नियमो को निर्धारित करता है।

बहुत महत्त्वपूर्ण है कि ये मानक नियम और अपेक्षाए वयस्का क सबधो के मुख्यतम मानको व नियमो—साथीपन मैत्री, सच्चे सहयोग

वे सबधो–म मेन ग्राते ह। किशोरो की "साथीपन के नियमो की सहिता" की नैतिक अतर्वस्तु के वयस्को के परस्पर सबधो के मानको व नियमो से एकरूप होने की बदौलत किशोर का अपने समवयस्को से ससर्ग उसकी सामाजिक-नैतिक प्रौढता के विकास के लिए एक विशेष विद्यालय जैसा बन जाता है। यह ससर्ग उस समुदाय मे सामाजिक अन्योन्यक्रिया की नयी रीतियो जो वयस्को की नैतिकता के मानको पर आधारित होती है की व्यावहारिक शिक्षा देता है। साथियो के साथ सबधो के व्यवहार मे ही यह नैतिकता सबसे कारगर ढग से आत्मसात् हो पाती है। समवयस्को का ससर्ग किशोर को अपने बडे होने की अनुभूति विकसित तथा सुदृढ करने के लिए अनुकूलतम परिस्थितिया मुहैया करता है।

समवयस्को से आदर तथा मान्यता पाने की चाह किशोर को उनकी रायो तथा मूल्याकनो के प्रति सवेदनशील बनाती है। साथियो की टीका टिप्पणिया असतोष और नाराजगी उसे उनके कारणो के बारे मे सोचने अपनी खामिया महसूस करने के लिए बाध्य करती है और दूसरी ओर, अच्छे सबध और आदरपूर्ण स्थिति की आवश्यकता खामिया दूर करने और दूसरो की आशा के अनुकूल सिद्ध होने की इच्छा जागृत करती है। किशोरावस्था म समवयस्को की अपेक्षाओ को समझने, उन्हे ध्यान मे रखने की योग्यता बडी तेजी से विकसित होती है। सुचारु सबधो और ससग के लिए यह योग्यता बहुत जरूरी है। उसके अभाव को बडे किशोरो द्वारा बचकानापन माना जाता है। सबधो के सुचारु न होने का मुख्य कारण प्राय किशोर की अपनी बारे मे बढी-चढी राय होती है, जिसकी वजह से वह साथियो द्वारा की गयी आलोचना को नही सह पाता और उनकी अपेक्षाओ को नही समझ पाता। इसीलिए वह उनके लिए अस्वीकार्य बन जाता है।

किशोर के जीवन मे मैत्री का स्थान

किशोर के व्यक्तित्व और सामाजिक-नैतिक प्रौढता के विकास मे घनिष्ठ साथियो और मित्र के साथ सबधो की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। ये सबध उसके लिए उत्तरोत्तर आवश्यक बनते जाते है। किशोर

अपने उन सहपाठियो से मेलजोल बढ़ाने और मैत्री करने के लिए लालायित रहता है, जिनका दूसरे आदर करते हैं और दबदबा मानते हैं। इस आकर्षण के कारण कुछ भी हो सकते हैं अच्छे साथी के गुण, व्यापक ज्ञान बहुकार्यदक्षता, साहसिकता, क्रीडा-कुशलता बाह्य रूप तथा आचरण मे प्रौढता रोमांटिक सबधो का अनुभव, वयस्कों के साथ सबधो म आत्मनिर्भरता, वगैरह। उल्लेखनीय है कि कम आयु के किशोरो म व किशोर प्राय हलचल पैदा करते हैं, जिनमे बाह्य प्रौढता के लक्षण होते हैं (ये किशोर प्राय व होते हैं जो अपनी आयु से बडे लगते है अथवा दूसरे वर्ष एक ही कक्षा मे रह जाते हैं)। सहपाठियो की नजर म व औरो से बडे होते हैं और इसीलिए अपने म जरूरत से ज्यादा दिलचस्पी जगाते है। कुछ बच्चे उनकी आलोचना करते हैं, कुछ उनके जैसा बनने उनकी नकल करने अथवा उनसे घनिष्ठ सबध बनाने की कोशिश करते हैं। यह इसके लिए प्रत्यक्ष सकेत है कि कक्षा म सामान्य शिक्षा का कार्य तेज कर दिया जाना चाहिए। बहुत जरूरी है कि वयस्कता अथवा प्रौढता के इन नक्ली प्रतिमानो को तुरत बेनकाब कर दिया जाय और उसकी अतर्वस्तु के बारे मे सच्चे आदर और प्रभाव के बुनियादी तत्त्वो के बारे मे सही धारणाए पेश की जाय। इसके लिए अवसर प्रचुर होते हैं, क्योकि किशोर को एक साथ कई तरह के बहुत ही भिन्न भिन्न रुचियोवाले सहपाठी या साथी आकृष्ट करते है और न्यूनाधिक लबे समय तक उसके सपर्क का दायरा व्यापक मगर अस्थिर रहता है काफी घनिष्ठ किंतु अल्पकालिक सबध कायम किये जाते है — घनिष्ठ साथी की तलाश चल रही होती है और सभी मामलो मे सपर्क की परस्पर आकर्षकता को और दोहरे ढग की — रुचियो के अनुसार और व्यक्तिगत सबधो के स्वरूप से सतोष की मात्रा के अनुसार — परस्पर सगति को परखा जा रहा होता है।

किशोरो की किन्ही विशेषताओ के विकास के स्तरो मे यदि काफी अतर है तो मैत्री की स्थापना मे बाधा उत्पन्न हो सकती है, क्योकि अधिक विकसित के लिए कम विकसित की सगत मे कोई आनद न आयेगा। दूसरी ओर यह भी हो सकता है कि अधिक विकसित कम विकसित पर हावी हो जाये।

किशोरो का एक दूसरे के करीब आने के लिए रुचियो तथा प्रिय

कामो की साम्यता सगत और बातचीतो का दिलचस्प होना बडा महत्त्व रखते है। मेलजोल का सार्थक आधार प्रिय शौक और काम हो सकते है। किशोरो मे मिल जुलकर काम करने और किसी एक को दिया हुआ काम भी सयुक्त रूप से करने की प्रवृत्ति होती है। यदि उन्हे अपना कोई समवयस्क मानता है, तो वे आसानी से उसकी रुचियो को अपना लेते है और, दूसरी ओर उसे भी अपनी रुचियो कामो मे भागीदार बनाने का प्रयास करते है। प्राय साथियो की सगत इतनी आकर्षक होती है कि उनके साथ किशोर वह काम भी करने लग जाता है जिसमे उसकी रुचि न पहले थी और न अब है। किंतु समय के साथ वह उसमे रुचि लेने लग सकता है। इसलिए **साथियो का ससर्ग नयी रुचियो की उत्पत्ति का स्रोत होता है।** साथ मिलकर अच्छी तरह काम करने की योग्यता की किशोर बडी कद्र करते है।

मनपसद समवयस्क के गुण किशोर को पहली बार अपने बारे मे गभीरतापूर्वक सोचने अपने मे उन गुणो की कमी जानने और महसूस करने की सभावना देते है जो उसे अच्छे लगते है और साथी जिनकी कद्र करते है। इस तरह उसके जैसा बल्कि बेहतर बनने की इच्छा पैदा होती है। **साथी किशोर के लिए प्रतिमान बन जाता है।** वह उसकी या तो सीधे सीधे नकल करता है या फिर अपने मे कुछ खास गुण विकसित करने लगता है जैसे खूब पढना शारीरिक शक्ति और साहसिकता का विकास करना आत्मसयम सीखना वचन पालन की आदत डालना आदि।

घनिष्ठ साथियो के परस्पर सपर्क मे बातचीत का बडा स्थान है। किशोर कक्षाओ मे और पाठो के दौरान घूमते समय और पाठ तैयार करते समय भी बात करते रहते है, क्योंकि उनकी राय मे बातो से बढकर दिलचस्प और कुछ नही है। कुछ मामलो म तो सारा खाली समय, जब किशोर साथ होते हैं बातचीत मे ही बीतता है और उनके बीच एकमात्र सबध-सूत्र यही होता है। ऐसी मैत्री पहले-पहल किशोरावस्था मे पैदा होती है। बच्चे अपनी दिलचस्पी की सूचनाओ का विनिमय करते है, कक्षा की घटनाओ सहपाठियो की हरकतो परस्पर सबधो, आदि की परिचर्चा करते है, बिल्कुल निजी सवालो के बारे मे खुसफुसाते है जिनका खुले आम ढिढोरा नही पीटा जा सकता।

जैसे अपने मसूबे बनाने, उन्हे जीवन में साकार बनाना, सयुक्त इरादे, रोमाटिक झुकाव (प्रसगत किशोरो के "राज" इन्ही सवालो से सबध रखते है) और अधिक अतरग, यौवनारभ मे सबधित सवाल।

बातचीत की महत्त्वपूर्ण और वैयक्तिक समझी जानेवाली अतर्वस्तु ज्यो-ज्यो बढती तथा गहन बनती जाती है, त्यो-त्यो ऐसे मित्र की आवश्यकता अधिकाधिक तीव्रता से महसूस की जाने लगती है, जिससे मन की बात कही जा सके सलाह ली जा सके और सहारा व मदद पायी जा सके। इसलिए **मैत्री सबधो से भी विशेष अपेक्षाए की जाने लगती हैं – परस्पर स्पष्टवादिता, समझ, सवेदनशीलता, सहृदयता, सहानुभूति और राज छिपाये रखने की योग्यता जैसी अपेक्षाए।** जिस मैत्री मे एक मित्र दूसरे मित्र से कुछ नही छिपाता, अपना मन खोलकर रख देता है वैसी मैत्री दोनो को ही आत्मिक तौर पर सपन्न बनाती है एक दूसरे को बेहतर समझने और यह जानने की सभावना देती है कि स्वय अपनी आत्मा मे क्या घट रहा है। सच्चा मित्र पाना और खुद भी उसके लिए एकमात्र मित्र होना हर किशोर का लडके और लडकी का स्वप्न होता है। वे मित्र अथवा घनिष्ठ साथी के अन्य किशोरो के प्रति झुकाव के बारे मे बडे ईर्ष्यालु होते है और अपनी मैत्री मे किसी तीसरे का दखल सहन नही कर सकते। किंतु जोडे के हर सदस्य के सामान्यत अन्य कमोबेश घनिष्ठ साथी भी होते हैं और उनसे ही किशोर का ज्यादातर मिलना जुलना होता है। इसी आधार पर कक्षा मे समूह बनते है। किशोरावस्था मे विभिन्न समूहो के सदस्यो के बीच जटिल और तनावपूर्ण सबध पैदा हो सकते हैं।

किशोरो की मैत्री का आदर्श होता है "सदा सब मिल जुलकर और सदा सब बाटकर!" इसका मतलब 'साथीपन के नियमो की सहिता" का और मैत्री सबधो से की जानेवाली अतिरिक्त अपेक्षाओ का पूर्ण पालन ही नही एक दूसरे के जीवन के सभी पहलुओ मे दखल, सहयोग और सहकार्य भी होता है। **किशोर अपने साथी अथवा मित्र के साथ साझे जीवन के लिए प्रयत्नशील रहता है।** आयु के साथ आत्मैक्य " यानी मानसिक जीवन का साझापन परस्पर समझ और वैयक्तिक मूल्यो की समानता व आकाक्षाओ की समानता महत्त्व पूर्ण प्रश्नो पर दृष्टिसाम्य अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण बनते जाते है। ऐसी

मैत्री की स्थापना मे सभी सभव जीवन सबधी, नैतिक तथा सौंदर्यपरक प्रश्नो पर परस्पर विचार और वहसे सहायक होती है, जो कभी-कभी लबी और अत्यत सवेगात्मक भी हो सकती है। वे नैतिक विकास के लिए आवश्यक हैं, क्योकि उनमे हर कोई न केवल अपने मत की सत्यता को सिद्ध करना तथा उसपर अडे रहना, बल्कि यदि वह गलत है तो उसकी त्रुटिपूर्णता को देखना भी सीखता है। वहसो और उसके बाद होनेवाले चितन मनन की प्रक्रिया मे किशोर का दष्टिकोण बनता है जो उसका अपना, निजी दृष्टिकोण होता है। दूसरे शब्दो मे, उसके दृढ विश्वास बनते हैं। इसके साथ ही मित्रो का विभिन्न प्रश्नो पर दृष्टि साम्य भी उत्पन्न होता है, जो उनकी आत्मिक घनिष्ठता का आधार बनता है।

सबध तब विकास के और भी ऊचे स्तर पर पहुच जाते है, जब किशोरो के साझे और हर किसी के लिए समान रूप से महत्त्वपूर्ण लक्ष्य और कार्यभार प्रकट हो जाते है, जिनका सबध भावी पेशे की तैयारी, आत्मविकास और स्वयशिक्षा से होता है। मित्र सयुक्त प्रयासो से उन्हे असली रूप देना शुरू करते है सयुक्त रूप से ज्ञान का अर्जन करते है, हुनर सीखते है, विभिन्न गुण विकसित करते है और एक दूसरे के काम आते है। यह व्यक्तित्व के विकास के लिए सबसे मूल्यवान मैत्री प्ररूप है। इसका विलोम मैत्री-प्ररूप किशोरो की बाह्य वयस्कता की आकाक्षा पर, समययापन व मनोरजन के मामले मे वयस्को की नकल करने पर आधारित होता है।

सच्ची मैत्री विरले ही तुरत पैदा होती है। सामान्यत खोज असफलताए और अल्पकालिक सबध उसके पूर्वगामी होते हैं। ऐसे अनुभव के आधार पर ही मित्र और मैत्री का वैयक्तिक आदर्श बनता और परिष्कृत रूप ग्रहण करता है। सबधो का जन्म जितनी आसानी से होता है उतनी आसानी से वे सुदृढ और प्रगाढ नही बन पाते। इसके लिए मात्र रागात्मक झुकाव और रुचि साम्य काफी नही है। यह जरूरी है कि हर पक्ष साथीपन के नियमो" और मैत्री मे की जानेवाली अपेक्षाओ का पालन करे। यही सबसे कठिन होता है विशेषत आरभ मे, चूकि किशोर साथी के साथ सबध से तो बडी-बडी और कुछ निश्चित अपेक्षाए करता है, किंतु अपने से इनी गिनी ही और वे

भी हमेशा नही और इसी तरह वह दूसरे की खामिया तो देखता है, किंतु अपनी खामिया नही। इससे मनमुटाव, टकराव, झगडे पैदा होते है और संबंध टूट भी सकते हैं। किशोर मैत्री का मूल्य करते हैं, किंतु साथ ही वे बहुत कठोर और अतिसंवेदनशील भी होते हैं। घनिष्ठ साथी का मित्र बनना बहुत ही अंतरंग प्रक्रिया है। वह किशोर की समवयस्क के साथ संगत से अपनी संतुष्टि के बोध और इस संगत के एक ऐसी आवश्यकता में परिवर्तन से जुड़ी हुई है, जिसकी तुष्टि दत्त क्षण में और कोई नही कर सकता। इसीलिए किशोरों की मैत्री संवेगात्मक और वैयक्तिक संबंधों के स्वरूप के सिलसिले में अनेकानेक अनुभूतियों से भरपूर होती है।

किशोर घनिष्ठ साथी और मित्र के साथ संबंधों के बारे में बहुत सोचता है। यह जानना और समझना चाहता है कि इन संबंधों में और साथी में उसे क्या पसंद है और क्या नही। वह अपने प्रति उसके रवैये की और उसके प्रति अपने रवैये की तुलना करता है, उन हरकतों को निर्दिष्ट करता है, जो बुरी लगती है और फिर उनके कारण समझने की चेष्टा करता है। वह साथी की अपने से तुलना करता है। ऐसे चिंतन तथा मूल्यांकन की प्रक्रिया में संबंधों से असंतुष्टि के कारणों के बारे में और दोषी कौन है व आगे क्या किया जाना चाहिए (उदाहरणार्थ क्षमा कर दिया जाना चाहिए अथवा दोस्ती तोड़ देनी चाहिए), इस बारे में धारणा बनती है। किशोर अपने संबंधों के विकास के हर चरण में एक दूसरे के संबंध में बहुत सक्रियता से काम करते हैं और उन्हें इस या उस दिशा में बनाते हैं।

उनका परस्पर संसर्ग एक विशेष प्रकार की सक्रियता होता है, जिसका विषय दूसरा व्यक्ति–साथी–है और अंतर्वस्तु परस्पर संबंधों का निर्माण तथा उनके दायरे में काम करना। इस सक्रियता के दौरान किशोर द्वारा दूसरे व्यक्ति का और स्वयं अपना ज्ञान प्राप्त किया जाता है और इस ज्ञान के साधन विकसित होते हैं, जैसे साथी और अपने कार्यों की तुलना विश्लेषण और सामान्यीकरण करने की योग्यता उन कार्यों के नैतिक अंतर्य को देखने व मूल्यांकन करने की क्षमता। इस तरह साथी के व्यक्तित्व और स्वयं अपने व्यक्तित्व से संबंधित धारणाएं भी समृद्धतर बनती है और मूल्यांकन तथा आत्ममूल्यांकन

मे परिवर्तन होता है। इन सब सोच विचारो के फलस्वरूप अपनी ही नहीं, साथी की भी खामियो को सुधारने की ओर लक्षित क्रियाशीलता जन्म लेती है।

दूसरे आदमी पर प्रभाव डालने की चेष्टा किशोर की नयी और काफी महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इसमे उसकी सामाजिक क्रियाशीलता और समवयस्को से सामाजिक अन्योन्यक्रिया का नया स्वरूप झलकते हैं। मित्रो और घनिष्ठ साथियो के साथ सबधो की विशिष्टता यह है कि किशोर एक दूसरे को ढालते है, क्योकि हर पक्ष दूसरे पक्ष से सबध और व्यवहार विषयक कुछ निश्चित अपेक्षाए करता है और उनकी पूर्ति पर निगरानी रखता है और यदि उनकी पूर्ति नही की जाती तो सजा के तौर पर ससर्ग मे इनकार जैसा कडा कदम उठाया जाता है। व्यक्तित्व के विकास के लिए निकट साथी और मित्र के ससर्ग का बहुत बडा महत्त्व इसलिए है कि यह ससर्ग **विशेष प्रकार के सबधो – वैयक्तिक सबधो**, जो केवल वयस्क लोगो के बीच ही पाये जाते हैं – **के नियमो को सीखने की व्यावहारिक शिक्षा देता है। मैत्री के नियमो को सीखना किशोरावस्था मे बच्चे की एक सबसे बडी उपलब्धि है।**

लडके लडकियो के सबधो की विशेषताए

किशोरावस्था मे लडको और लडकियो के सबधो मे गभीर परिवर्तन आते है। एक दूसरे मे रुचि एक दूसरे को पसद आने की चाह पैदा होती है और फिर इसी सिलसिले मे अपनी शक्ल सूरत पर अपनी आकर्षकता पर भी ध्यान दिया जाने लगता है। शारीरिक विकास और लैंगिक परिपाक (यौवनारभ) के मामले मे लडकिया लडको मे आगे निकल जाती है। पाचवी छठी कक्षाओ मे कुछ लडकिया लडको से अधिक लबी और हृष्ट-पुष्ट होती है। छोटा कद लडके मे अप्रिय अनुभूतिया और हीनता का भाव उत्पन्न कर सकता है। ऐसी ही अनुभूतिया उस लडकी मे भी पैदा हो सकती है जो कक्षा मे औरो से लबी है।

आरभ मे बहुत से लडको की लडकियो मे रुचि अस्पष्ट सी होती है और नवकिशोरो के मामले मे एक विशेष ढग से व्यक्त होती है जैसे लडकियो को चिढाना। लडकिया इसपर प्राय नाराज होती हैं

मगर यह नाराजगी गभीर नही होती, क्योकि वे ऐसी हरकतो का कोई उल्टा मतलब नही लगाती। बाद म सबध बदल जाते हैं निश्छलता खो जाती है एक प्रकार की जडता, झिझक और सकोच प्रकट हो जाते है। कुछ के मामले मे यह सीधे सीधे दिखायी द जाता है और कुछ के मामले मे दूसरे लिग के प्रति छद्म उदासीनता तथा "घृणा" के नीचे छिपा रहता है। व्यवहार उभयभावी बन जाता है लडके लडकियो की एक दूसरे मे रुचि और अलगाव बने रहते हैं, किंतु साथ ही वे जायमान सबधो म और उनके विकास की विशेषताओ मे बडी जिज्ञासा भी दिखाते है।

छठी-सातवी कक्षाओ मे बहुत से किशोरो, विशेषत लडकिया का यह प्रश्न परेशान करता है कि किसे कौन पसद है। यद्यपि अपने अनुराग क बारे मे किशोर सामान्यत केवल मित्र या घनिष्ठ साथी का ही बताते है फिर भी आम तौर पर उसे कई अन्य सहपाठी भी जानते है उनकी निगाह पैनी होती है और खबरो का आदान प्रदान भी चलता ही रहता है।

पाचवी छठी कक्षाओ मे लडको और लडकियो के बीच मैत्री विरले ही पैदा होती है किंतु सातवी आठवी कक्षाओ मे परस्पर अनुराग अत्यत सवेगात्मक हो सकता है और जीवन मे महत्त्वपूर्ण स्थान रख सकता है। इकतरफा अनुराग प्राय गभीर मनोवेदनाओ का कारण बनता है। साझे शौक रुचियो और कामो के रूप मे कोई सारगर्भित आधार होने पर रोमाटिक सबध साथियो के सबधो की तरह विकसित हो सकते है। ऐसे आधार के अभाव मे मिलन साथ साथ भ्रमण सिनमा देखना पार्क मे टहलना आदि उसकी जगह ले सकते हैं। सातवी आठवी कक्षाओ मे लडके लडकियो के मिले जुले गिरोह बनने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है।

विपरीत लिग के समवयस्को मे रुचि का किशोर के व्यक्तित्व के विकास के लिए बडा महत्त्व होता है। जिस व्यक्ति से अनुराग है, उसम बढी हुई दिलचस्पी चयनात्मक प्रेक्षण मे अभिव्यक्ति पाती है उस व्यक्ति के व्यवहार कार्यो प्रतिक्रियाओ, मनोदशाओ मनोवृत्तियो और भावनाओ मे सूक्ष्म परिवर्तनो पर ध्यान दिया जाने लगता है। इसी तरह दूसरे लिग के व्यक्ति के ससर्ग से उत्पन्न अपनी मन स्थितियो

पर भी ध्यान देने की प्रवृत्ति पैदा होती है। रोमांटिक अनुभूति व्यक्तित्व की क्षमताओ को समेकित करती हैं बेहतर बनने की इच्छा को जन्म देती है, प्रिय कार्य मदद अथवा रक्षा करने की प्रेरणा प्रदान करती है। ऐसा अनुराग आत्मपरिष्कार का एक अभिप्रेरक बन जाता है।

इस प्रकार किशोरावस्था म साथियो का सपर्क किशोर के व्यक्तित्व के निर्माण पर गभीर प्राय निर्णायक प्रभाव डालता है। साथी उसके लिए प्रतिमान बन जाते है। एक दूसरे पर सक्रिय प्रभाव डाला जाता है एक दूसरे को शिक्षित किया जाता है। इसलिए अध्यापक के प्रभाव के दायरे म किशोरो के कामवाजी परस्पर सबधो को ही नही, साथियो और मित्रो के साथ सबधो को भी समाविष्ट किया जाना चाहिए।

§८ किशोर की शिक्षा सक्रियता

पढाई, अध्यापक और शिक्षा विषयो के प्रति रवैया

स्कूल और पढाई किशोरो के जीवन मे बहुत बडा स्थान रखते है। किंतु यह स्थान सभी बच्चो के मामले मे एक सा नही होता यद्यपि पढाई की आवश्यकता और महत्त्व को सभी स्वीकारते है। बहुत से बच्चो के लिए स्कूल का आकर्षण समवयस्को से ससर्ग की व्यापक सभावना की वजह से बढता है किंतु इससे प्राय पढाई पर बुरा असर पडे बिना नही रहता। किशोर के लिए पाठ का घटा पढाई का ही नही, बल्कि सहपाठियो और अध्यापक स सपर्क का समय भी होता है जो अनेकानेक अर्थपूर्ण हरकतो, क्रियाओ, मूल्याकनो और अनुभवो से भरपूर रहता है। विभिन्न कृत्यको को करते हुए बच्चे अपने सपर्क को रोकते नही। अध्यापक का सामग्री को दिलचस्प ढग स समझाना और पाठ को कुशलतापूर्वक सचालित करना ही किशोर बच्चे को साथियो के बारे मे भूलने के लिए मजबूर कर सकते है। साथियो से सपर्क किशोर का पाठ की तैयारी की ओर से ध्यान हटाता है। इसके अलावा किशोर की निजी रुचिया, प्रिय काम और शौक पढाई मे आडे आते हैं। इसी प्रकार किशोर विविध स्रोतो से जो बहुविध

और विभिन्न अवधारणाओं को व्यवस्थापूर्वक आत्मसात् करता है, वे भी स्कूल में प्राप्त ज्ञान से प्रतिस्पर्धा करती हैं।

जीवन का और परिवेश के साथ संबंधों का समृद्धतर और व्यापकतर होना किशोर की स्कूली पढ़ाई में निमग्नता को कम कर देता है। किशोर की शिक्षा सक्रियता की परिस्थितियां वैसी नहीं होतीं जैसी कि पहले थीं।

माध्यमिक स्कूल में पहुंचने तक बच्चों में कई दृष्टियों से अंतर आ जाते हैं जिनका संबंध निम्न बातों से होता है १) पढ़ाई के प्रति रवैया – अति गंभीरता से लेकर काफी कुछ उदासीनता तक २) सामान्य विकास – ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में जानकारी के ऊंचे और अपनी आयु के लिए काफी उच्च स्तर से लेकर अति सीमित स्तर तथा दायरे तक ३) शिक्षा सामग्री के आत्मसात्करण की शैलियां – स्वतंत्र रूप से काम करने और सामग्री को हृदयंगम करने की योग्यता से लेकर उसके पूर्ण अभाव और शब्दशः रटने की आदत तक और ४) रुचियां – ज्ञान विज्ञान की किसी शाखा में स्पष्टतः परिलक्षित रुचियों और सार गर्भित कार्यों व अभ्यासों से लेकर संज्ञानमूलक रुचियों के पूर्ण अभाव तक।

शिक्षा सक्रियता के दोषों की बाह्य अभिव्यक्ति की मात्रा भिन्न भिन्न हो सकती है। यदि प्राथमिक कक्षाओं में उनमें से कुछ दोष बच्चों के ठीक से पढ़ने में बाधक नहीं बनते थे तो पांचवीं कक्षा से वे प्रच्छन्न नहीं रह जाते और ज्ञान के पूर्ण आत्मसात्करण में गंभीर रुकावटें पैदा करने लग जाते हैं। उन्हें समय रहते दूर किया जाना आवश्यक है अन्यथा उनके स्थायी कुपरिणाम निकल सकते हैं, जैसे नयी, शनैः शनैः जटिल बनती सामग्री को स्वतंत्र रूप से आत्मसात करने की अयोग्यता। किशोर पढ़ाई में ठीक नहीं चल रहा है इसका सीधा संकेत है प्राथमिक कक्षाओं के मुकाबले अब खराब अंक पाना। इसका कारण पढ़ाई के प्रति दोषपूर्ण रवैया और शिक्षा सामग्री के आत्मसात्करण के गलत ढंग हो सकते हैं इसलिए दोनों ही हालतों में ज्ञान में रिक्त स्थान बढ़ते जाते हैं।

माध्यमिक स्कूल में आ जाने पर किशोरों का शैक्षिक कार्य एकाएक काफी जटिल बन जाता है अब एक ही अध्यापक के स्थान पर पांच छह

नये अध्यापक आ जाते है, जो सभव है कि आरभ मे अपने छात्रो को जानते भी नही। उनमे से हर किसी का पढाने और पूछने का अपना ढग होता है छात्रो से अपनी अपेक्षाए और उनके प्रति अपना रवैया होता है। अध्यापको की नयी और विभिन्न अपेक्षाओ के अनुकूल अपने को ढालने की प्रक्रिया पूरी कक्षा के लिए और प्रच्छन्न अथवा प्रकट दोषयुक्त शिक्षा सक्रियतावाले छात्रो के लिए विशेषत कठिन होती है। छात्रो और कोई एक ही विषय पढानेवाले अध्यापको के परस्पर सबध प्राथमिक कक्षाओ के छात्र अध्यापक सबधो से भिन्न होते है यानी ज्यादा सतही और कम वैयक्तिक। वैसे भी हर नया अध्यापक सदा रुचि पैदा करता है। जब एक साथ कई सारे नये अध्यापक आ जाये, जिनकी पेशेगत कुशलता का स्तर व्यक्तित्व की विशेषताए व्यवहार और छात्रो के प्रति दृष्टिकोण भिन्न भिन्न है तो विभिन्न बातो मे उनकी तुलना और मूल्याकन भी किया जाने लगता है। कुछ का अध्यापन कौशल दूसरो की आलोचना किये जाने का कारण बनता है। इसके परिणामस्वरूप एक तो अध्यापको के प्रति विभेदित दृष्टिकोण पैदा होता है कुछ मनपसदो" की श्रेणी मे आ जाते हैं और कुछ "ना-पसदो" की श्रेणी मे और दूसरे अन्य व्यक्ति को जानने के साधन विकसित होते है और वयस्क की सक्रियता तथा व्यक्तित्व को आकने की नयी कसौटिया बनती है। कुछ कसौटिया अध्यापन से [illegible] सबध रखती है और कुछ किशोरो के प्रति अध्यापक के रवैये की विशेष-ताओ से। वैसे किशोरावस्था के आरभ अध्यापक की [illegible] साथ सबधो को सही ढग से बनाने की योग्यता अथवा [illegible] ही [illegible] उसके कार्य की कठिनता की मात्रा को निर्धारित करती है।

किशोर जानकार, कठोर, निष्पक्ष, सहानुभूतिपूर्ण, व्यवहारकुशल और ऐसे अध्यापको की कद्र करते हैं, जो सामग्री को रोचक व बोधगम्य ढग से पढाना, समझाना, पाठ के दौरान काम का चलते-चलते सगठित करना, छात्रो को उसमे मग्न करना और पाठ का सभी के लिए व हर एक के लिए अधिकतम उत्पादक बनाना जानते हैं। [illegible] कक्षाओ मे अध्यापक की विद्वता विषय पर अधिकार और [illegible] अतिरिक्त जानकारी देने की उत्सुकता की विशेष कद्र [illegible] उन अध्यापको का भी सम्मान किया जाता है जो [illegible]

नही गवाते। दूसरी ओर, वे अध्यापक पसद नही किये जाते, जो छात्रो के स्वतन रूप से सोचन पर रोक लगाते हैं।

किशोरावस्था के आरभ मे शिक्षा विषय के प्रति बच्चो का रवैया सबसे पहले अध्यापक के प्रति रवैये और प्राप्त अको पर निर्भर होता है। बहुतो को वह विषय पसद आता है, जो उनके लिए सरल होता है और जिसमे आसानी से उत्तीर्ण हुआ जा सकता है। इसके साथ ही वह विषय अधिकाधिक आकृष्ट करता है, जो बौद्धिक क्रियाशीलता तथा स्वतन्त्र रूप से कार्य की अपेक्षा करता है और दृष्टिकोण को व्यापक बनाता है। शिक्षा विषयो का 'रोचक' और "अरोचक" म विभेदन बहुत अध्यापन के स्तर तथा किशोर की वैयक्तिक रुचियो पर निर्भर होता है जबकि पाठो का "आवश्यक' और 'अनावश्यक" मे विभाजन भावी व्यवसाय विषयक इरादो के बनने से सबध रखता है। हर नया विषय अथवा पाठ्यक्रम किशोर मे रुचि जागृत करता है। इस रुचि को बनाये रखना व आगे विकसित करना अध्यापक के हाथ मे है। उसके कौशल पर बहुत कुछ निर्भर होता है जैसे यह कि छात्र पाठ पर ध्यान देगा या अपने ही कामो मे लगा रहेगा, घर पर करने के लिए दिया हुआ काम ईमानदारी से करेगा या यो ही अथवा कुछ नही करेगा, सामग्री को समझने जानने की कोशिश करेगा या आवश्यक अक पाने के लिए न्यूनतम चेष्टा से ही सतुष्ट हो जायेगा। अध्यापक बदलने पर यह बात स्पष्टत दिखायी दे जाती है आलसी और जैसे-तैसे पढनेवाला छात्र थोडे ही समय मे सक्रिय, विषय मे रुचि लेनेवाला और अच्छा पढनेवाला छात्र बन जाता है अथवा इसके विपरीत, किशोर की विषय मे रुचि, पाठ के दौरान अध्यापक की बात सुनने की इच्छा घर पर महनत करने की चाह घट जाती है। अध्यापक बदलने से बहुत बार सारी कक्षा के काम और व्यवहार का स्वरूप भी बदल जाता है और समस्या कक्षा' से वह "सामान्य कक्षा मे अथवा विपरीत क्रम मे परिवर्तित हो जाती है।

किशोरावस्था मे पढाई की सकल्पना की अतर्वस्तु व्यापकतर बन जाती है, क्योकि इसी आयु म ज्ञानार्जन स्कूल और पाठ्यक्रम की सीमाए लाघता है और स्वतन्त्र रूप म ही नही अपितु सोद्देश्य ढग से भी किया जाता है। समय के साथ यह प्रवृत्ति बढती जाती है। बहुत

से छात्रो मे बौद्धिक परिश्रम के प्रति स्थायी झुकाव, नये ज्ञान व योग्यताओ को अर्जित करने की आकाक्षा, कुछ विषयो और ज्ञान, विज्ञान तकनीक व कला की तत्सबधित शाखाओ मे गहन, स्थिर रुचि जागृत हो जाती है। कुछ किशोरो का एक या एकाधिक शाखाओ का ज्ञान उनकी आयु के बच्चो से अपेक्षित ज्ञान से कही ज्यादा हो सकता है।

किंतु कक्षा मे कुछ योग्य किंतु पाठो के दौरान ठीक से काम न करनेवाले किशोर भी होते है जिनका बौद्धिक सक्रियता के प्रति झुकाव, चितनपरकता सूझ-बूझ देर तक और एकाग्रता से काम करने की क्षमता और सज्ञानात्मक व उत्पादक सक्रियता का शौक शिक्षा विषयो की अतर्वस्तु के आत्मसात्करण के समय प्रकट नही होते। इन मामलो मे **व्यक्तित्व के मूल्यवान गुण स्कूली पढाई के दौरान नहीं, बल्कि पाठ्येतर स्वतत्र सक्रियता के दौरान जन्मते और विकसित होते हैं।**

व्यक्तित्व के विकास के लिए सर्वोत्तम परिस्थितिया तब होती है, जब अर्जित ज्ञान किशोर के लिए **आत्मपरक रूप से आवश्यक तथा वर्तमान के लिए तथा भविष्य की तैयारी के लिए महत्त्वपूर्ण बनता है और जब विभिन्न शैक्षिक कार्यों मे सज्ञानात्मक, उत्पादक व सृजनात्मक कृत्यको का समावेश होता है तथा वे आत्मविकास एव आत्म परिष्कार मे सहायक बनते हैं।** किशोरावस्था मे ही पढाई के नये अभिप्रेरक पैदा होते है जिनका सबध जीवन के सदर्शो तथा आदर्शो पेशे सबधी इरादो और आत्मचेतना (अपने ज्ञान तथा सास्कृतिक स्तर मे कमियो की चेतना) के निर्माण से होता है। **अपने से असतोष और इरादे को पूर्ण करने का प्रयास किशोर की सज्ञानात्मक क्रियाशीलता के स्रोत बन जाते हैं।** किशोर के स्वतत्र कार्यो मे दूर और निकट के लक्ष्य उभरते है और उसकी ठोस सक्रियता को सगठित तथा निदेशित करते है। **पढाई वैयक्तिक अर्थ ग्रहण कर लेती है और स्वयशिक्षा मे परिवर्तित हो जाती है।** इस गुणात्मक रूप मे नयी और उच्च प्रकार की शिक्षा सक्रियता का जन्म तथा विकास किशोरावस्था मे ही होना है।

दूसरी ओर किशोरावस्था मे ही स्कूल की पढाई एक औपचारिक सक्रियता मे बदल जा सकती है यदि किशोर की प्रबल विभितर रुचिया हो और सज्ञानमूलक रुचिया न हो यानी जब जायमान वैयक्तिक

मूल्यो मे ज्ञान के अर्जन को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त न हो। स्कूली पढाई की आवश्यकता की अमूर्त समझ ही किशोर के लिए पर्याप्त कारगर प्रेरक नहीं हो सकती। इस दृष्टि से स्थितिक अभिप्रेरक (उदाहरणार्थ, किशोर की कक्षा मे सर्वोत्तम छात्रो मे गिने जाने और इस तरह अधिकाश अन्य छात्रो से भिन्न दर्जा पाने की आकाक्षा) काफी प्रभावी होते हैं। किंतु पढाई म अच्छे अक पाने को ही मुख्य मानने और साथ ही आत्म सात् किये जा रहे ज्ञान मे रुचि न लेने का परिणाम शिक्षा सक्रियता का ह्रास ही हो सकता है। पढाई अरोचक, बोझ बन जाती है और ज्ञान मात्र औपचारिक बनकर रह जाता है।

किशोर का बौद्धिक विकास

माध्यमिक कक्षाओ के छात्र विज्ञानो के मूलतत्त्वो का अध्ययन आरभ करते है। उन्हे ज्ञान की बहुत बडी मात्रा आत्मसात् करनी होती है। इन कक्षाओ का पाठ्यक्रम एक ओर तो शैक्षिक, सज्ञानमूलक तथा चितनमूलक सक्रियताओ के पहले से ऊचे स्तर की अपेक्षा करता है और दूसरी ओर स्वय उसका लक्ष्य इन सक्रियताओ के विकास म योग देना होता है। छात्र नयी नयी वैज्ञानिक सकल्पनाए और गणित, भौतिकी तथा रसायनविज्ञान मे प्रयुक्त विशेष सकेत प्रणालिया सीखत है सैद्धातिक धरातल पर तर्क वितर्क करन की आदत डालते हैं। उपर्युक्त नये और वस्तुपरक रूप से सबसे कठिन शिक्षा विषय ही ज्ञान के आत्मसात्करण की रीति से सर्वथा नयी अपेक्षाए करते हैं और उच्चतम स्तर की बुद्धि – सैद्धातिक, तार्किक और मननात्मक चितन – के विकास की ओर लक्षित होते है। ऐसा चितन तरुणावस्था के लिए लाक्षणिक है किंतु उसके अकुर ११-१२ वर्ष की अवस्था से ही दिखायी देन लग जात है। किशोर प्राक्कल्पना निगमनात्मक ढग से, अर्थात केवल सामान्य आधारिकाओ की बुनियाद पर तर्क वितर्क करने लग जाता है। इस स्तर पर सारा तर्क वितर्क – निष्कर्ष निकालन तक – मौखिक (शाब्दिक) धरातल पर होता है क्योकि ऐसे तर्क वितर्क की प्रयक्ष अतर्वस्तु कथन (शब्दो अथवा गणित आदि म प्रयुक्त विशेष सकेतो क रूप म) होता है।

किशोर की बुद्धि के विकास मे नया तत्त्व यह होता है कि सज्ञानकारी कृत्यको के प्रति उसके उपागम मे परिवर्तन आ जाता है वह उन्हे ऐसे कामो के रूप मे समझने लगता है जिनके लिए सबसे पहले **विभिन्न प्राक्कल्पनाओ के निर्माण के जरिये चिंतन के स्तर पर अग्रिम निष्पादन और जाच की आवश्यकता होती है।** बच्चे के विपरीत किशोर अपने सामने उत्पन्न बौद्धिक समस्या का विश्लेषण उपलब्ध तथ्यो मे विद्यमान सबधो के उद्घाटन के प्रयासो से आरभ करता है इन सबधो के बारे मे विविध प्रकल्पनाए बनाता है और इसके बाद उन प्रकल्पनाओ (प्राक्कल्पनाओ) की जाच करता है। **यथार्थ का इस भाति विश्लेषण करते हुए किशोर जो सबसे महत्त्वपूर्ण बात सीखता है, वह है बौद्धिक कृत्यको के निष्पादन मे प्राक्कल्पनाओ से काम लेना।** प्रकल्पनात्मक चिंतन वैज्ञानिक तर्कणा का एक उत्कृष्ट उपकरण है। चिंतन के विकास के इस स्तर की विशिष्टता यही नही है कि अमूर्तीकरण बढता है बल्कि यह भी है कि किशोर के ध्यान, विश्लेषण और मूल्याकन का विषय स्वय उसकी बौद्धिक क्रियाए बन जाती है। इसलिए ऐसे चिंतन को मननात्मक चिंतन कहा जाता है।

यद्यपि स्कूल मे वैज्ञानिक सकल्पनाओ का आत्मसात्करण स्वय ही छात्र के सैद्धातिक चिंतन के विकास के लिए कई वस्तुपरक परिस्थितिया पैदा कर देता है फिर भी वह सभी मे विकसित नही हो पाता है। विभिन्न छात्रो मे उसके विकास का स्तर और गुणवत्ता वस्तुत भिन्न भिन्न हो सकते हैं। सैद्धातिक चिंतन स्कूली ज्ञान का ही परिणाम नही हो सकता है। कुल मिलाकर चिंतन के इस रूप की विशेषता यह है कि **किशोर को अपनी बौद्धिक क्रियाओ की चेतना होती है और उनका नियमन भी करने लगता है।** ऐसा ही कई अन्य मानसिक क्रियाओं के प्रसग मे भी होता है। **बोली नियत्रित और नियमित बन जाती है।** इतना ही नही कतिपय व्यक्तिगत महत्त्व की स्थितियो मे किशोर विशेषत शुद्ध और अलकारपूर्ण भाषा म बोलने को इच्छुक रहते हैं। ये सब किशोरावस्था मे आनेवाले नये और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हैं।

गणित और भौतिकी से सबधित सामग्री का सकल्पनापरक सामान्यीकृत और तार्किक स्वरूप आरभिक आत्मसात्करण के समय

अर्थात जब अध्यापक वह सामग्री समझा रहा होता है, किशोर मे काफी अधिक बौद्धिक क्रियाशीलता की अपेक्षा करता है। प्रमेय की सिद्धि को "मात्र सुनने" से उस तरह काम नही चल सकता, जैसे कि, मिसाल के लिए, भौगोलिक खोजो से सबधित किसी कहानी के मामले मे चल सकता है। ज्यामिति के पाठ मे एक मिनट के लिए भी ध्यान हटने का परिणाम होगा आगे कुछ भी न समझ पाना, क्योकि इस तरह की सामग्री का प्रत्येक अश तभी पूर्णत आत्मसात् हो सकता है जब **पूर्ववर्ती स्पष्टीकरण और प्रमाण के तर्क को समझ और याद कर लिया जाये।** अन्यथा हर अगला कदम, उदाहरणार्थ, प्रमेय को सिद्ध करने अथवा फार्मूले के निरूपण मे, अबोधगम्य रह जायेगा। किशोरावस्था मे ही **अमूर्त और तार्किक ढग से प्रस्तुत सामग्री पर देर तक ध्यान टिकाये रखने की योग्यता** विकसित होती है। किंतु इसमे समय लगता है और सभी किशोरो मे इस योग्यता का समान मात्रा मे विकास नही होता।

प्रत्यक्षण और अवबोधन की प्रक्रियाओ को बौद्धिक स्तर पर सपन्न करना किसी भी शिक्षा सामग्री के सफल आत्मसात्करण की अनिवार्य शर्त है। इस सामग्री मे आरेख, नक्शे और चित्र भी आ जाते है। किंतु किशोरो मे उनके प्रति उदासीनता दिखाने और उनके महत्त्व को पूरी तरह न समझने की प्रवृत्ति पायी जाती है। इस प्रवृत्ति से लडा जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, आरेख को 'देखने' और 'पढने' की कुशलता पर यह प्रत्यक्ष रूप से निर्भर होता है कि किसी प्रमेय को कितनी गहराई के साथ समझ और आत्मसात् कर लिया जायेगा। आरेख को मात्र याद कर लेने या उसे पुनर्प्रस्तुत करना जानने से काम बिल्कुल नही चल सकता। प्रमेय मे जो महत्त्वपूर्ण सूचना समाविष्ट है और जिसपर उसके सही आत्मसात्करण की सभावना निर्भर है वह सूचना **आरेख के साथ अभ्यास करके ही** प्राप्त की जा सकती है, बेशक शर्त यह है कि उसमे जो निश्चित सबध और निर्भरताए इगित है वे मालूम हो और उन्हे निर्दिष्ट करना आता हो (उदाहरणार्थ दो समानातरो और छेदक रेखाओ के चित्रवाले आरेख मे)। ऐसी सक्रियता मे आरेख का अर्थग्रहण चितनाधारित हो जाता है और गुणात्मक रूप मे बदल जाता है। किशोरो मे मूर्त अथवा अमूर्त ठोस अथवा

सामान्यीकृत, किसी भी प्रकार की सामग्री के साथ काम करते हुए, किसी भी प्रकार के शैक्षिक-व्यावहारिक कृत्यक संपन्न करते हुए चिंतन मनन और अर्थगर्भित, महत्त्वपूर्ण संबंधो एव कार्य-कारण निर्भरताओ को खोजने व निर्दिष्ट करने की आदत डालना बहुत ही जरूरी है।

वैज्ञानिक संकल्पनाओ के आत्मसात्करण की प्रक्रिया मे और उसके परिणामस्वरूप चिंतन मे नयी अंतर्वस्तु आ जाती है बौद्धिक सक्रियता के नये रूप पैदा हो जाते है। सैद्धातिक ज्ञान के अपूर्व आत्मसात्करण का एक महत्त्वपूर्ण संकेत यह है कि किशोर इस ज्ञान के प्रयोग की अपेक्षा करनेवाले कृत्यक निष्पादित नही कर पाता। गणित भौतिकी और रसायनविज्ञान के कृत्यको को करने म ही बहुत से छात्रो को (विशेषत आरभ म) कठिनाई होती है वे तथ्यो को रूपातरित करना उनमे अपने परिचित सिद्धात नियम अथवा प्रमेय की अभिव्यक्ति देखना नही जानते। ज्ञान की शाब्दिकता और औपचारिकता वैज्ञानिक सकल्पनाओ के आत्मसात्करण के क्षेत्र मे एक बहुप्रचलित रोग है। वह तब पैदा होता है जब सामान्यता अभी ठोस बहुसख्या और विविधता पर अवलबित नही होती है। ये बाते दिखाती हैं कि किशोर ने अभी मूर्त और अमूर्त के नये सबध को हृदयगम नही किया है।

मानविकी विषयो की पढाई से भी छात्र वैज्ञानिक सकल्पनाओ को और तथ्यो के वर्गीकरण की विधि को आत्मसात करता है वस्तुजगत की विविध परिघटनाओ के बीच कार्य-कारण सबध को देखना और सक्षेप म लक्षण-वर्णन करना तथा विस्तृत शाब्दिक विवरण देना सीखता है। ऐसी सामग्री का आत्मसात्करण गणित, भौतिकी आदि की सामग्री के आत्मसात्करण से सरल होता है, किंतु कुछ किशोर मानविकी विषयो से सबधित घर के लिए दिये गये कार्य पर जरूरत से ज्यादा समय लगाते है क्योकि काम करने की सही रीतिया नही जानते।

नवकिशोरो के स्वतत्र कार्य का एक बहुप्रचलित दोष सामग्री को **याद करने** अथवा बार-बार दोहराकर कठस्थ करने (न कि समझने) की प्रवृत्ति अथवा आदत है। यह बहुत हानिकर है। किंतु स्मृति का बुद्धि-प्रयोग की दिशा मे विकास किशोरावस्था मे ही होने लगता है। दूसरी कक्षा के छात्रो की स्मृतिक सक्रियता की पाचवी-आठवी कक्षाओ के छात्रो की स्मृतिक सक्रियता के तुलनात्मक अध्ययन से पाया गया है—

कि इस सक्रियता के पुनर्गठन की प्रवृत्तिया निम्न है १) व्यवहित स्मरण के तरीको और उनके उपयोग के अवसरो की सख्या म वृद्धि, २) इन तरीको का प्रयोग करनेवाले बच्चो की सख्या मे वृद्धि, और ३) स्मरण के तरीको के प्रयोग का उत्तरोत्तर साभिप्राय व सोद्देश्य बनते जाना। स्मरण के तरीको के प्रयोग, उनमे सिद्धहस्तता क स्तर और स्मरण तथा पुनर्प्रस्तुतीकरण की फलदायिता के बीच प्रत्यक्ष सबध होता है।

स्मृतिक सक्रियता के स्वरूप के अनुसार छात्रो मे दो चरम वर्ग पाये जाते है अच्छे स्मरणकर्त्ता और बुरे स्मरणकर्त्ता। अच्छे स्मरणकर्त्ता पाचवी कक्षा के छात्र स्मरण के प्राय न केवल बाह्य तरीके, अपितु कतिपय व्यवहित उपाय (साहचर्य मुख्य स्थलो की खोज अर्थपरक वर्गीकरण) भी इस्तेमाल करते है। इस वर्ग के आठवी कक्षा के छात्रो की विशेषता यह होती है कि वे याद करने की प्रक्रिया मे व्यवहित तरीका का सचेतन रूप से और इरादतन प्रयोग करते है। उनमे प्रत्येक सामग्री के लिए पृथक विशिष्ट तरीको की खोज की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। इनमे मुख्य स्थान सामग्री की अतर्वस्तु, विशिष्टता तथा आतरिक तर्कसगति के विश्लेषण को प्राप्त है। कुछ किशोर याद करने के तरीको के चुनाव के मामले मे लचीलापन बरतते है, कुछ किसी एक ही रीति को पसद करते है और कुछ सामग्री को क्रमबद्ध तर्क की कसौटी पर परख करके याद करने का पयत्न करते है। बुरे स्मरणकर्त्ता पाचवी कक्षा के छात्र ध्यान एकाग्र नही कर पाते और बौद्धिक दृष्टि से निष्क्रिय होते हैं। इस वर्ग म आठवी कक्षा के छात्रो की स्मृतिक सक्रियता म विविधताहीनता व जडता पायी जाती है। वे सामग्री क विश्लेषण सश्लेषण की इनी गिनी सामान्य रीतिया ही जानते है जिनम आपस मे कोई खास भेद नही होता। उनका प्रिय तरीका है रटना। उनके स्मरण म मानो चितन का कोई स्थान नही होता।

किशोरो म सामग्री के विश्लेषण सश्लेषण की योग्यता प्राय स्वत स्फूर्त ढग से विकसित होती है। अध्यापक को इसके विकास पर विशेष ध्यान देना चाहिए। छात्र की सुचारु प्रगति और उसक ज्ञान की गहराई और मजबूती ही नही बुद्धि व विभिन्न योग्यताओ का आगे विकास करते जाना भी इसी पर निर्भर होते हैं। सामग्री का "सम्न" वठस्थ

करने की आदत वाक्शक्ति के और विचारो को अपने तरीके से व्यक्त करने की क्षमता के विकास मे गभीर बाधा होती है।

किशोर की शैक्षिक सामग्री का ठीक से अध्ययन व हृदयगम करने की योग्यता और उसकी बुद्धि तथा सज्ञानात्मक रुचियो के विकास के बीच घनिष्ठ सबध पाया जाता है। बुद्धि और सज्ञानात्मक रुचियो के विकास का भावी सभावनाओ के निर्माण के लिए बहुत बडा महत्त्व है। किंतु काफी अधिक किशोरो मे रुचियो के मामले मे बिखराव तथा अनिश्चय और भावी पशे सबधी इरादो के मामले मे अस्थिरता देखी जाती है। किंतु इस अस्थिरता का स्वरूप प्राथमिक कक्षाओ के बच्चो की अस्थिरता से भिन्न होता है।

भावी पेशे के बारे मे रवैया

किशोरावस्था वह दौर है जब भविष्य विषयक बालसुलभ स्वप्नो का स्थान भविष्य विषयक चिंतन ले लेता है, जिसमे किशोर अपनी क्षमताओ और जीवन परिस्थितियो को भी ध्यान मे रखने का प्रयत्न करता है। बेशक ऐसा परिवर्तन सभी किशोरो के मामले मे नही आता है क्योकि बहुत से फिर भी पूर्वत वर्तमान मे ही रहते है और भावी पेशे के बारे मे बहुत कम सोचते है। किंतु अधिकाश किशोरो के लिए सातवी-आठवी कक्षाओ मे पढाई का काल भविष्य के बारे मे सघन चिंतन का काल होता है। कुछ स्वप्नो को वास्तविकता मे साकार बनाने का प्रयत्न करते है, तो कुछ तरह-तरह के विकल्पो को तौलते रहते है। कुछ अपनी क्षमताओ की पेशे की अपेक्षाओ के साथ सगति की समस्या को हल करने म लगे रहते है, तो कुछ को यह समस्या परेशान किये रहती है कि जिस पेशे को वे अपनाना चाहते है उसकी अतर्वस्तु उनकी आशाओ के अनुरूप निकलेगी कि नही। गलती कर बैठने का भय पैदा हो जाता है।

किशोर अपने को आकर्षित करनेवाले पेशे के बारे म और जिस शिक्षा सस्था मे उसका प्रशिक्षण पाया जायेगा उसके बारे म जानकारी जुटाते हैं अपने निकट साथियो से सलाह-मशविरा करते है अपने सहपाठियो की योजनाओ मे दिलचस्पी दिखाते हैं। कुछ गभीरतापूर्वक

सोच विचार करते है और अपनी क्षमताओ, योग्यताओ को ठीक ठीक आकते हैं कुछ अतिमूल्याकन अथवा अल्पमूल्याकन कर बैठते हैं। कतिपय ज्येष्ठ किशोर गभीर दुविधा और अनिश्चय मे पड जाते हैं और अपने पहले के स्वप्नो को बचपना समझकर (उनकी अपूरणीयता के कारण) त्याग देते है। अवस्था बढने के साथ ऐसे किशोरो का सख्या बढती जाती है, जो ऐसा पेशा अपनाना चाहते है, जिसके लिए उच्च शिक्षा आवश्यक होती है। विशेषत आकर्षक महत्त्वपूर्ण और आधुनिक पेशे, रूमानियत से भरपूर पेशे, रोचक और सृजनात्मक कार्य की सभावना देनेवाले पेशे होते है। अधिकाश किशोर लडक इजीनियरी के पेशे चुनते है। लडकियो मे भी अध्यापन, डाक्टरी और सिलाई जैसे पारपरिक जनाना' पेशो के अलावा विज्ञान व तकनीक से सबधित पेशे चुनने की प्रवृत्ति बढ रही है।

आठवर्षीय शिक्षा का निकट आता अत ज्येष्ठ किशोरो को अपने भविष्य के बारे मे सोचने के लिए प्रेरित करता है। कुछ दसवर्षीय (पूर्ण माध्यमिक) शिक्षा पूरी करने की सोचते है और दूसरे विशिष्ट माध्यमिक विद्यालय मे भरती होकर पेशा प्रशिक्षण पाने की।

§९ किशोर वय मे आत्मचेतना का विकास

आत्मचेतना का सामाजिक दृष्टि से नियामक प्रकार्य

किशोरावस्था मे प्रवेश करने पर बच्चे की आत्मचेतना मे गुणात्मक परिवर्तन आ जाते हैं। किशोर परिवेश के प्रति अपने रवैये को बदला हुआ पाता है अपने को ऐसा व्यक्ति अनुभव करने लगता है, जिसे सभी वयस्को की भाति आदर स्वतत्रता और भरोसे का अधिकार है। वह वयस्को की दुनिया मे विभिन्न मूल्य और व्यवहार के मानक व रीतिया आत्मसात करता है जो उसकी चेतना की नयी अतर्वस्तु बनते हैं और दूसरे आदमी के तथा स्वय के व्यवहार से की जानेवाली अपेक्षाओ म और मूल्याकन और आत्ममूल्याकन की कसौटिया म बदल जाते है। जैसा कि विगोत्स्की ने कहा है आत्मचेतना अपनी अतर्वस्तु की दृष्टि से भीतर अतरित की हुई सामाजिक चेतना ही है।

प्रारंभिक कक्षाओं के बच्चे की अपने बारे में धारणा और उसका आत्ममूल्यांकन मुख्यतया वयस्कों विशेषत अध्यापक और माता पिता की राय पर आधारित होते हैं। अपनी विशेषताओं के बारे में वह विशेष रूप से नहीं सोचता। अपनी विशेषताओं के ज्ञान की आवश्यकता, अपने में रुचि और आत्मचिंतन का जन्म किशोरावस्था में ही होता है। अपनी कमियों और गुणों को जानने की जरूरत अन्य लोगों की और स्वयं अपनी अपेक्षाओं का उत्तर देने और परिवेश के साथ संबंधों को नियमित करने की जरूरत से पैदा होती है। अपने व्यक्तित्व के विश्लेषण को किशोर एक ऐसे साधन के तौर पर लेता है जो परस्पर संबंधों और सक्रियता के संगठन के लिए अपने लिए वर्तमान में और भविष्य में महत्त्व रखनेवाले लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। आत्मज्ञान इसकी एक शर्त है। आत्मविषयक चिंतन के सामाजिक दृष्टि से नियामक प्रकार्य की एक स्पष्ट अभिव्यक्ति यह है कि किशोर पहले अपनी कमियों को देखता है और उन्हें दूर करने की आवश्यकता अनुभव करता है और इसके बाद जाकर ही अपने समग्र व्यक्तित्व की विशेषताओं – अपनी क्षमताओं एवं गुणों – पर ध्यान देता है और उन्हें जानने का प्रयत्न करता है। कमियों पर विशेष ध्यान दिया जाना सारी किशोरावस्था के दौरान जारी रहता है। कुछ का अपने से असंतोष बढ़ता ही जाता है। किशोर के आत्मचिंतन का पूर्वविचारित स्वरूप होता है। वह एक स्वतंत्र मानसिक प्रक्रिया बन जाता है और किशोर द्वारा आवश्यक और आरंभिक स्कूली आयु की तुलना में एक नयी चीज जैसा समझा जाता है।

समवयस्कों के बीच सम्मानित स्थान पाने की आवश्यकता और घनिष्ठ साथी मित्र बनाने की आकांक्षा का किशोर को आत्मचिंतन के लिए प्रेरित करने में बड़ा हाथ होता है। साथियों में से किसी के साथ अपने संबंधों अथवा किसी आकर्षक समवयस्क की विशेषताओं के बारे में सोचते हुए किशोर प्राय अपने बारे में भी सोचने लग जाता है। यह बड़े महत्त्व की बात है कि वह अपने साथ तुलना के लिए समवयस्क को ही चुनता है और ऐसा प्रतिमान भी उसे ही बनाता है जिसकी बराबरी पर पहुंचना है। इससे तुलना की प्रक्रिया भी और अपनी विशेषताओं को जानने, आंकने तथा आत्मसुधार की प्रक्रिया भी अधिक-

तम फलप्रद बन जाती है। **किशोर के लिए समवयस्क ऐसा मापदड है,** जो उसे अपने को यथार्थ क्षमताओ के स्तर पर आकने और उन क्षमताओ को ऐसे व्यक्ति मे साकार बना हुआ देखने की सभावना देता है, जिसकी बराबरी पर पहुचा जा सकता है। ऐसा मापदड अथवा प्रतिमान वयस्क नही बन सकता क्योकि एक तो उसकी बराबरी पर पहुचना किशोर के लिए लगभग असभव है और, दूसरे उसकी विशेषताए ऐसी जीवनीय स्थितियो और सबधो मे अपने को प्रकट करती हैं, जिनसे किशोर प्राय परिचित नही होता।

किशोरावस्था के आरभ तक बच्चे शिक्षा सक्रियता से सबधित अपनी विशेषताओ को बेहतर और अधिक सही समझने व आकने लग जाते है। आयु के साथ आत्मविषयक धारणा व्यापकतर गहनतर और अपने ही विचारो पर आधारित बनती जाती है। किंतु बहुत से किशोरो का अपने गुणो और यथार्थ क्षमताओ का मूल्याकन अतिरजित होता है। यह बात गणित के सवालो को हल करते हुए विशेषत प्रकट होती है (किशोरो के लिए सूझ-बूझ मूल्याकन और आत्ममूल्याकन की एक महत्त्वपूर्ण कसौटी है)। यह पाया गया है कि पाचवी-आठवी कक्षाओ के काफी अधिक छात्रो का आत्ममूल्याकन उनकी सक्रियता के परिणामो से मल नही खाता और अधिसख्य मामलो मे वह स्पष्टतया अतिरजनापूर्ण होता है। दूसरी ओर इन कक्षाओ को पढानेवाले अध्यापको म किशोरो की क्षमताओ को घटा करके आकने की प्रवृत्ति पायी जाती है।

ऐसी स्थिति, यानी जब किशोर अपनी क्षमताओ को बढा चढ़ाकर आकता है अथवा अध्यापक उन्हे घटाकर आकता है किशोर को उत्तेजित और विक्षुब्ध करती है। वह सोचता है कि उसके साथ अन्याय किया जा रहा है। पहले मामले मे ऐसी धारणा गलत होती है, क्योकि उसम किशोर का अपने बारे म दावा उसकी यथार्थ क्षमताओ के स्तर म ऊचा है। किंतु दूसरे मामले म किशोर की धारणा उचित होती है।

तीसरा विकल्प भी सभव है अर्थात् जब अध्यापक अतिरजित आत्ममूल्याकनवाले किशोर का अल्पमूल्याकन करता है। इस स्थिति म किशोर म एक विशेष मनोग्रथि पैदा हो जाती है जिसकी अभिव्यक्तिया हैं नाराजगी सन्देह अविश्वास कभी-कभी उद्दड व्यवहार

और हमेशा ही हर छोटी मोटी टिप्पणी पर तुरत विद्रोह उठना। पहली और बार-बार की असफलताएँ उसे उत्तेजित व विक्षुब्ध करती है किंतु जब ये न्यूनाधिक स्थायी परिघटना बन जाती है तो इसका परिणाम आत्मविश्वास के डिगने के रूप मे सामने आता है। किशोर की आत्मविश्वास की आकांक्षा और प्रयत्न उसके आत्ममूल्यांकन के स्वरूप पर निर्भर होते हैं। जब वह अपना अतिमूल्यांकन करता है, तब आत्मसुधार की जरूरत खास प्रबलता से महसूस नही की जाती।

समय के साथ किशोर का आत्ममूल्यांकन अधिकाधिक यथार्थपरक बन जाता है।

किशोर अपनी अपेक्षा दूसरों का अधिक सही व पूर्ण मूल्यांकन करते हैं। साथी के साथ संबंध जितने ही घनिष्ठ होंगे और संसर्ग का आधार जितना ही बहुमुखी होगा उसकी विशेषताओ का ज्ञान उतना ही गहरा होगा। मैं उसे ठीक से नही जानता उससे मेरी दोस्ती नही है।' —किशोरो से प्राय सुना जा सकता है। शनै शनै स्वभाव और चरित्र की विशिष्टता के द्योतक लक्षण महत्त्वपूर्ण बनते जाते है। यदि पाचवी कक्षा के छात्र सामान्यतया अपने समवयस्को की शक्ल सूरत, पढाई और सहपाठियो के प्रति रुख रुचियो और संकल्पशीलता से संबंधित विशेषताओ और गुणो को निर्दिष्ट करते है तो छठी आठवी कक्षाओ के छात्र शक्ल-सूरत और पढाई से संबंधित विशेषताओ पर उतना ध्यान नही देते। सहपाठियो के प्रति रुख रुचियो और संकल्पशीलता पर पहले जैसा ही ध्यान दिया जाता है। इसके साथ ही विचारो, भावनाओ स्वय अपने प्रति व अपने भविष्य के प्रति रवैये से संबंधित विशेषताओ को मूल्यांकन मे शामिल किये जाने की प्रवृत्ति भी बढती जाती है। उल्लेखनीय है कि साथियो और सामान्यत लोगो के प्रति समवयस्क के रुख को पहचानने की जितनी कोशिश किशोर करते है, उतनी अध्यापक नही करते। इसके अलावा वे अपने साथी के जितने विविध गुण गिनाते है, उतने अध्यापक नही गिनाते।

किशोर की परस्पर संबंधो की समस्याओ मे बडी गहरी रुचि होती है। किंतु पाया गया है कि चौथी आठवी कक्षाओ के छात्र अपने प्रति साथियो के रुख को ठीक से नही आक पाते। सही मूल्यांकनो का औसत २५ ४० प्रतिशत ही होता है। अधिकांशत गलती ' आत्यंतिक प्रस्थिति

वाले किशोर करत है और जिनकी माध्यमिक समाजमितीय प्रस्थिति होती है, उनसे कम गलती होती है। अन्य लिग क व्यक्ति के अपन प्रति रुख का मूल्याकन भी काफी अयथार्थपरक होता है। किंतु समूह मे अपनी स्थिति को आकने की अयोग्यता उच्चतर कक्षाओ और उच्च शिक्षा सस्थाओ के छात्रो मे भी पायी जाती है। कभी-कभी इस मामल म किशोर उच्चतर कक्षाओ के छात्रो मे कही ज्यादा योग्य सिद्ध हाते हैं।

किशोर बहुत ही मेलजोलपसद होता है। उसके लिए अपने आस पास के लोगो की राय और उनका अपने प्रति अच्छा रुख बडा महत्त्व रखते हैं। इसलिए वह मूल्याकनो (विशेषत अपनी क्षमताओ के बारे म) सफलता और असफलता क प्रति बडा सवदनशील होता है और अपने को लोगो की, खास तौर से जिनकी राय उसके लिए बडा महत्त्व रखती है, निगाहो मे ऊचा उठाने तथा उनसे प्रशसा पाने का लालायित रहता है। किशोर का तथाकथित आत्मस्थापन बहुत ही विभिन्न रूपो मे प्रकट हो सकता है। कुछ बच्चो मे झिझक और सकोच इसलिए पाये जाते है कि वे अपनी अयोग्यता व अज्ञान के प्रदर्शन से डरते हैं।

आत्मविकास

कम आयु के किशोर प्राय अपने को तटस्थ दृष्टि से नही देख पाते और अपने व्यवहार पर नियत्रण रखना नही जानते। किंतु ज्येष्ठ **वर्ग के किशोरो मे अपनी भावात्मक प्रतिक्रियाओ और व्यवहार पर नियत्रण रखने की प्रवृत्ति पायी जाती है।** उनम से बहुतो का आत्मनियत्रण काफी विकसित होता है और जरूरत पडने पर वे अपनी मन स्थिति रवैय अथवा राय को प्रकट न करना भी जानते है। व्यवहार म स्थिरतापरता आ जाती है। **आयु के साथ आत्मसगठन की प्रवृत्ति बढती है।** विभिन्न कामो का अपने लिए क्या महत्त्व है, इस बारे म सोचा जान लगता है। उन्हे आवश्यक और अनावश्यक म महत्त्वपूर्ण और महत्त्वहीन म विभेदित कर दिया जाता है। ऐसे विभेदीकरण मे वैयक्तिक मूल्यो की निर्माणाधीन प्रणाली का बहुत बडा हाथ होता है। किशोर समय क महत्त्व को जान जाता है, उसे यो ही नही गवाने तथा नियोजित करने का प्रयास करता है। किंतु जो निर्णय किय जात

है, वे बहुधा प्रत्यक्ष इच्छाओ म मेल नही खात और विजय बहुधा इच्छाओ की होती है। कुछ किशोरो क 'दिल' और दिमाग के बीच प्राय टक्कर चलती रहती है। बहुत स अपनी विशृखलता को इच्छाशक्ति के अभाव की दुहाई देकर उचित ठहराते है। इच्छा शक्ति का विकास अधिकाश किशोरो क लिए सर्वप्रमुख लक्ष्य बन जाता है। अपने म अन्य गुणो का भी विकास किया जाता है।

किशोरो म आत्मप्रगति की, उसपर निगरानी रखने की और लक्ष्यो व योजनाओ क पूरा न होने पर अफसोस करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। अध्ययन दिखाते है कि सातवीं-आठवीं कक्षाओ के अधिकाश छात्र आत्मविकास पर विशेष ध्यान देते हैं, किंतु सभी के मामले म यह नियमित और सुनियोजित नही होता। फिर भी महत्त्व की बात यह है कि उसकी बुनियाद तो पड गयी है। किशोरावस्था मे व्यक्तित्व के विकास का एक सबसे महत्त्वपूर्ण नया पहलू यह है कि किशोर की सक्रियता का विषय वह स्वय बन जाता है किसी बात मे वह अपने को रोकता है, किसी बात म तोडता है और किसी बात म फिर से बनाता है। वह स्वय अपने पर प्रभाव डालने और स्वय अपन को बनाने लगता है। इसमे वह अपने सामने कुछ निश्चित प्रतिमान व्यक्तिगत महत्त्व क कुछ निश्चित लक्ष्य और कार्यभार रखता है जिनका सबध उसके वर्तमान और भविष्य से होता है। आत्मविकास और स्वय शिक्षा क जरिये किशोर अपन विकास की सभावनाओ का विस्तृत और अपने को भविष्य के लिए तैयार करता है। वर्तमान म अत्यधिक निमग्न होने क बावजूद वह भविष्य की तनिक भी उपेक्षा नही करता। ऐसी भविष्योन्मुखता और नये गुण विकसित करने के लिए अपने को बदलन की ओर लक्षित ऐसी सक्रियता किशोरावस्था का एक विशिष्ट लक्षण है और व्यक्तित्व के विकास के एक गुणात्मक रूप से नये दौर मे सक्रमण को द्योतित करती है।

अध्याय ६

आरंभिक तरुणावस्था का मनोविज्ञान

§१ एक सामाजिक-मानसिक परिघटना के रूप मे तरुणावस्था

तरुणावस्था और उसकी आयुगत सीमाए

आयु वर्ग मनोविज्ञान मे तरुणावस्था मनुष्य के विकास का वह दौर है जो यौवनारम्भ मे शुरू होता है और वयस्क अवस्था के आगमन के साथ समाप्त होता है। किंतु यह परिभाषा ही, जिसमे पहली सीमा शरीरक्रियात्मक है और दूसरी सामाजिक, इस परिघटना की जटिलता और बहुआयामिता को उजागर कर देती है।

तरुणावस्था के बारे मे कई सिद्धात प्रचलित है। जैव सिद्धात तरुणावस्था को सबसे पहले शरीर के विकास का एक निश्चित चरण मानते हैं। उनके अनुसार अभिवृद्धि की जैव प्रक्रियाओ पर ही शेष सब कुछ निर्भर होता है। मनोवैज्ञानिक सिद्धात मानसिक विकास के नियमो और मनो जगत तथा आत्मचेतना की विशेषताओ पर सबसे अधिक ध्यान देते हैं। मनोविश्लेषणात्मक सिद्धात तरुणावस्था मे मनोलैंगिक विकास के एक विशिष्ट दौर के दर्शन करते है। किंतु उपरोक्त सभी सिद्धातो मे एक समानता भी है। वह यह कि वे सभी तरुणावस्था का विवेचन व्यक्ति के रूप मे मनुष्य के विकास की आतरिक प्रक्रिया की दृष्टि से ही करते हैं। वे सभी इस तथ्य को अनदेखा कर देते है कि यह विकास किसी न किसी रूप मे सामाजिक और सास्कृतिक परिवेश मे ही सपन्न होता है। समाजवैज्ञानिक सिद्धात तरुणावस्था का विवेचन सबसे पहले समाजीकरण के एक निश्चित चरण के रूप मे, पराश्रित बाल्यकाल से वयस्क की स्वतत्र उत्तरदायित्वपूर्ण सक्रियता मे सक्रमण के दौर के रूप मे करते हैं। सर्वोपरि महत्त्व मनुष्य द्वारा सीखी तथा निभायी जानेवाली सामाजिक

भूमिकाओ को, उसके जीवन मूल्यो के निर्माण को और उन समस्याओ को देते हैं, जो श्रम जीवन मे प्रवेश से सबध रखती है। दूसरे शब्दो मे वे व्यक्ति की मानसिक समस्याओ के मूल मे सामाजिक समस्याओ को देखते हैं।

सोवियत मनोविज्ञान की धारणा है कि तरुणावस्था की समस्या का अध्ययन सभी कोणो से और सामाजिक उपागम अपनाने के साथ विकास के आतरिक नियमो को भी ध्यान मे रखते हुए किया जाना चाहिए। बेशक यह काफी कठिन है क्योकि मनोशरीरक्रियात्मक विकास की गति और प्रावस्थाए सदा ही सामाजिक परिपक्वता की अवधियो मे मेल नही खाती। शारीरिक विकास व त्वरण के फलस्वरूप आज के बच्चे दो-तीन पीढी पहले के मुकाबले कही तेजी से बढते हैं और औसतन दो वर्ष पहले ही अपने पूर्ण शारीरिक विकास पर पहुच जाते है। यौवनारभ की शुरूआत और समाप्ति भी दो वर्ष पहले ही हो जाती है। शरीरक्रियाविज्ञानी गौण लैगिक लक्षणो के आविर्भाव के आधार पर इस प्रक्रिया को तीन प्रावस्थाओ मे विभाजित करते है प्राक्-यौवनारभिक यौवनारभिक और उत्तर-यौवनारभिक। आयु-वर्ग मनोविज्ञान किशोराव स्था को सामान्यतया पहली दो प्रावस्थाओ से जोडा करता था।

त्वरण के कारण किशोरावस्था की सीमाए नीचे खिसक गयी है और अब वह चौदह साढे चौदह वर्ष की अवस्था मे ही समाप्त हो जाती है। तदनुरूप तरुणावस्था भी पहले शुरू हो जाती है। किंतु विकास के इस चरण की ठोस अतर्वस्तु फिर भी सबसे पहले सामाजिक परिस्थितियो से निर्धारित होती है। समाज मे तरुण की स्थिति उसे जितना ज्ञान होना चाहिए वह और कतिपय अन्य बाते सामाजिक परिस्थितियो पर ही निर्भर होती हैं।

बहुत से आदिम समाजो मे आयुगत अतर सीधे-सीधे सामाजिक अतरो के सहभावी थे समाजीकरण का मुख्य उपकरण आयु-वर्ग होते थे जो समान आयु के लोगो को (पुरुषो को तो निश्चय ही) एक सूत्र मे पिरोते थे, और ऐसा हर वर्ग एक निश्चित, केवल उसी के लिए सहज, सामाजिक प्रकार्य करता था। सामती समाज मे समाजीकरण काफी हद तक किशोर अथवा तरुण को वयस्को की सक्रियता मे प्रत्यक्षतया सम्मिलित करके (जैसे कृषि मे मददगार के तौर पर सामत के

घर-दरबार मे परिचर अथवा अग्रवाहक के तौर पर) किया जाता था। स्कूल शिक्षण के व्यावहारिक रूपो का केवल पूरक होता था। आधुनिक समाज मे चूंकि श्रम और सामाजिक सक्रियता पहले से जटिल बन गयी है अत तैयारी की अवधि, यानी जब आदमी काम नही करता और मुख्यतया शिक्षा पाता है, काफी लबी हो गयी है। शिक्षा के लिए सामाजिक दृष्टि से आवश्यक अवधि जितनी लबी होगी, वास्तविक सामाजिक वयस्कता उतनी ही देर से आयगी। इसलिए तरुणावस्था की अवधि आज पहले से लबी है और उसकी काल सीमाए थोडी-बहुत अनिश्चित है।

आरभिक तरुणावस्था (१४ ५-१७ वर्ष) जीवन के इस जटिल दौर का केवल आरभ है। उसकी बुनियादी विशेषताए क्या है?

शारीरिक विकास

आरभिक तरुणावस्था वह काल है, जब मनुष्य का शारीरिक विकास पूर्णता को प्राप्त करता है। इसमे कद का बढना किशोरावस्था के मुकाबले मद पड जाता है। लडकियो का कद १६ १७ वर्ष की आयु तक (इसमे १३ महीने की घट बढ हो सकती है) और लडको का कद १७ १८ वर्ष की आयु तक (इसमे १० महीने की घट बढ हो सकती है) अपने चरम पर पहुच जाता है। वजन भी बढता है और लडके इस मामले मे किशोरावस्था मे लडकियो से जो पिछड गये थे उस कसर को पूरा कर लेते है। शारीरिक (पेशीय) शक्ति मे तेजी से वृद्धि आती है सोलहवर्षीय लडका इस दृष्टि से बारहवर्षीय लडके के मुकाबले लगभग दोगुना शक्तिशाली होता है। कद वृद्धि खत्म होने के लगभग साल भर बाद शारीरिक शक्ति भी सामान्य वयस्क स्तर पर पहुच जाती है। बेशक बहुत कुछ समुचित आहार और व्यायाम पर भी निर्भर करता है। कुछ प्रकार के खेलो मे अधिकतम सफलताए आरभिक तरुणावस्था मे ही हासिल की जाती है।

लैंगिक विकास के मामले मे इस आयु-वर्ग के अधिकाश लडके लडकिया उत्तर यौवनारभिक दौर से गुजर रहे होते है। आम धारणाओ के विपरीत यौवनारभ की अवधि नसली अथवा जातीय विशेषताओ

और जलवायु पर निर्भर नही होती। किंतु आहार-भेद और अन्य सामाजिक-आर्थिक कारकों का प्रभाव अवश्य पडता है। इसके अलावा औसत सांख्यिकीय मानक और व्यष्टिक शरीरक्रियात्मक मानक के अंतर को भी ध्यान मे रखा जाना चाहिए। कतिपय पूर्णत सामान्य लोगो का शारीरिक विकास औसत सांख्यिकीय मानकों की अपेक्षा कही अधिक तीव्रता अथवा मथरता के साथ होता है। इन अतरो और शरीरविकारजन्य अतरों के बीच भेद कर पाना सदा आसान नही होता।

विकास की सामाजिक पृष्ठभूमि

तरुण की बच्चे और वयस्क के बीच की स्थिति होती है। बच्चा वयस्कों पर निर्भर रहता है और वे ही उसकी जीवन सक्रियता की मुख्य अतर्वस्तु और दिशा को निर्धारित करते है। बच्चे द्वारा निभायी जानवाली भूमिकाए वयस्को की भूमिकाओ से गुणात्मक दृष्टि से भिन्न होती हैं और दोनो ही पक्ष इसे भली भाति जानते व महसूस करते है। जीवन सक्रियता के जटिलीकरण के साथ तरुण की सामाजिक भूमिकाओ एव रुचियो की अभिसीमा का परिमाणात्मक प्रसार ही नही होता उनमे गुणात्मक परिवर्तन भी आते है। ज्यो ज्यो तरुण अधिक स्वतत्र उत्तरदायी बनता जाता है, उसकी वयस्को जैसी भूमिकाए भी बढती जाती है। सोवियत सघ म तरुण १४ वर्ष की आयु मे युवा कम्युनिस्ट लीग म भरती हो जाता है १६ वर्ष की आयु मे पासपोर्ट धारी बन जाता है और १८ वर्ष की आयु म मताधिकार तथा विवाह अधिकार पा लेता है और उसपर फौजदारी कानून भी लागू होने लग जाता है। वहुत से इस आयु मे श्रम जीवन आरभ कर चुके होते है, पेशे के चुनाव की चिता करने लग जाते है वगैरह। किंतु वयस्क की स्थिति के कतिपय लक्षण पाने के साथ अभी परनिर्भरता पूर्णत खत्म नही हो पाती जिससे उसकी स्थिति बच्चे की स्थिति से मिलती जुलती बनी रहती है। आर्थिक दृष्टि से वह अभी भी मा-बाप पर आश्रित होता है। स्कूल म उसे एक ओर याद दिलाते है कि वह बडा हो चुका है और दूसरी ओर, लगातार अपेक्षा करते है कि आज्ञापालन का अपना कर्त्तव्य न भूले। यही बात स्कूल के बाहर भी होती है, जहा कभी कभी न केवल

सोलहवर्षीयो को वल्कि बीसवर्षीयो को भी वयस्क नही माना जाता। यह अनिश्चित स्थिति (कुछ मामलो म वयस्क माना जाना और कुछ म न माना जाना) और उनस की जानेवाली अपेक्षाए अपने ढग म उनकी तरुण मानसिकता म प्रतिबिंबित होती हैं।

बौद्धिक सक्रियता की विशेषताए

मनुष्य की सामान्य बौद्धिक योग्यताए १५ १६ वर्ष की आयु तक आम तौर पर बन चुकी होती है और बचपन म जैसा उनका तीव्र विकास फिर नही दिखायी देता। किंतु उनका परिष्करण जारी रहता है। जटिल बौद्धिक क्रियाओ म दक्षता प्राप्त करते और सकल्पनात्मक तत्र का समृद्ध बनते जाना तरुण-तरुणियो की बौद्धिक सक्रियता का अधिक स्थिर और कारगर बना देता है और इस दृष्टि से उसे वयस्को की सक्रियता के निकट ले आता है। विशिष्ट योग्यताए खास तजी से बढती हैं। इसके साथ ही रुचियो का विभेदीकरण बढते जाने से तरुण की बौद्धिक सक्रियता की सरचना अधिक जटिल तथा वैयक्तिक बनता जाती है। उपलब्ध तथ्यो से पता चलता है कि बौद्धिक योग्यताओ के विभेदीकरण की प्रक्रिया लडको मे लडकियो के मुकाबले पहले आरभ हो जाती है और अधिक सुप्रकट भी होती है। योग्यताओ तथा रुचियो का विशेषीकरण कई अन्य वैयक्तिक अतरो को भी अधिक स्पष्ट तथा व्यावहारिक दृष्टि से अर्थपूर्ण बना देता है। इसे देखते हुए और इसा तरह उच्च कक्षाओ क छात्रो को पेशे के चुनाव के वास्ते तैयार करने की आवश्यकता को देखते हुए उच्च कक्षाओ मे शिक्षण को अधिक वैयक्तिक बना दिया जाना चाहिए, छात्रो की आत्मनिर्भरता बढायी जानी चाहिए और सामान्य शिक्षा के दायरे मे थोडा बहुत विशेषीकरण लागू किया जाना चाहिए। ध्यान रहे कि विशेष योग्यताओ का जन्म और विकास स्वय बहुत हद तक शिक्षण के स्वरूप और दिशा पर निर्भर होता है।

तरुणावस्था परिपक्वता आने और व्यक्तित्व के निर्माण का अतिम दौर है। शरीर और शक्ल सूरत मे यौवनारभ से सबधित बडे परिवर्तन, अनिश्चित स्थिति (न बच्चा न वयस्क) जीवन सक्रियता का जटिली करण और जिन लोगो के अनुकूल व्यक्ति को अपना व्यवहार ढालना

है, उनके दायरे का व्यापक बनना—ये सब बाते मिलकर तरुणावस्था मे मूल्यानुसारी सक्रियता को एकाएक बढा देती है। प्रश्न चाहे अपनी निजी विशषताओ को जानने का हो, नयी बाते सीखने का हो अथवा अपन से बडो या समवयस्को के साथ सबधो का हो तरुण दूसरे लोगो के मत की चिता करता है और अपना व्यवहार सचेतन रूप से निर्मित अथवा आत्मसात्कृत कसौटियो और मानको के अनुसार ढालने के लिए प्रयत्नशील रहता है।

मुख्यतया यह आत्मचेतना के विकास मे प्रकट होता है।

§२ आत्मचेतना का विकास

आत्मचेतना एक जटिल मानसिक निर्मिति है, जिसके विभिन्न तत्त्व है अपनी पहचान (उसके प्रथमाकुर शिशु मे ही प्रकट हो जाते है, जब वह बाह्य वस्तुओ द्वारा जनित सवेदनो और स्वय अपने शरीर द्वारा जनित सवेदनो मे अतर करने लगता है), एक सक्रिय मूलाधार के रूप मे अपने "अह' की चेतना अपनी मानसिक गुणो और विशेषताओ की चेतना और सामाजिक-नैतिक आत्ममूल्याकनो की एक निश्चित प्रणाली। य सभी तत्त्व अपनी क्रिया और मूल की दष्टि से परस्पर सबद्ध होते है। किंतु उनका जन्म एक ही समय नही होता। अपनी पहचान के अकुर शैशवावस्था मे ही पनप जाते हैं और अह की चेतना लगभग ३ वर्ष की आयु मे पैदा होती है जब बच्चा निजी सर्वनामो का सही प्रयोग करने लगता है। अपने मानसिक गुणो का बोध और आत्ममूल्याकन सर्वाधिक महत्त्व किशोरावस्था और तरुणावस्था मे ग्रहण करते है। किंतु ये सभी घटक चूंकि परस्पर सबद्ध हैं उनम से किसी एक का भी विकास अनिवार्यत सारी प्रणाली का रूप बदल डालता है।

अपनी शारीरिक छवि

किशोरावस्था मे ही, जब आत्मस्थापन की आकाक्षा काफी प्रबल होती है अपन अह और उसकी विशेषताओ म गहन रुचि ली

जाने लगती है। किशोर अपने बाह्य रूप, शरीर को बिल्कुल नये ढग से देखने लगता है। यह बढी हुई रुचि प्राय आरभिक तरुणाई मे भी यथावत बनी रहती है। अपनी बदलती हुई बाह्याकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करते हुए लडके और लडकिया प्राय बेहद चिंतित हो उठत है। बहुत से तो उसे बदल ही डालना चाहते है। उनके लिए ऐसी विशेपताए सबसे अधिक महत्त्व रखती है जिनपर समवयस्को के बीच प्रतिष्ठा और लोकप्रियता निर्भर होती है। बहुत से तरुण लडको और लडकिया को अपना छोटा कद मोटाई, मुहासे, आदि आशकित कर देते हैं। अत्यधिक मानसिक कष्ट विलबित परिपक्वतावाले लडके भुगतते हैं गौण लैंगिक लक्षणो के प्रकट होने मे विलब से न कवल समवयस्का के बीच उनकी प्रतिष्ठा घटती है अपितु उनमे हीनता की भावना भी घर कर जाती है। किंतु इन भावो को वह सामान्यतया छिपाये रहता है। अपने शरीर की छवि वयस्को की सामान्य धारणा के विपरीत तरुण की आत्मचेतना का कही अधिक महत्त्वपूर्ण घटक है। सामान्य विकास के सभी सूक्ष्म और विविध भेदो की जानकारी न होना बहुतो के लिए अच्छी खासी ट्रेजेडी या मनोव्यथा म परिणत हो जाता है।

8634

निजी गुणो का बोध और आत्ममूल्याकन

छोटे बच्चो की आत्मचेतना और आत्ममूल्याकन सामान्यतया उनके बारे म माता पिता और अन्य मान्य वयस्को के मत का ही प्रतिबिब होते है। किंतु ज्यो-ज्यो बच्चा बडा होता है त्यो-त्यो उसका व्यवहार स्वय अपने मूल्याकन पर आधारित होने लगता है। किंतु अपने गुणो विशेपत साहस पौरुष अथवा सिद्धातपरकता जैसे जटिल नैतिक व मानसिक लक्षणो के बोध म सवेगात्मक मूल्याकन और सामाजिक तुलना भी शामिल होते है (अपनी बुद्धिमत्ता अथवा सौन्दर्य का अपनी किसी और से तुलना करके ही आका जा सकता है)।

किशोर की भाति तरुण भी यह जानने का अत्यत उत्सुक रहता है कि वह कौन है किस योग्य है और क्या बनत रखता है। आम

मूल्याकन की दो रीतिया है। एक तो यह कि अपने दावो के स्तर की उपलब्ध परिणामो से तुलना की जाये ("यदि मैं कठिन घडी मे पीछे नही हटा तो इसका मतलब है कि मैं कायर नही हू, यदि मैंने कठिन काम का बीडा उठाया है और उसे कर भी दिखाया है, तो इसका मतलब है कि मैं योग्य हू')। किंतु तरुण का जीवनानुभव का अभाव ऐसी जाच असभव बना देता है। वयस्को को खतरनाक शरारते, दुस्साहसिकता आदि जो बहुत सी हरकते अनुचित अतर्कसगत लगती है वे दूसरो की नजरो मे उभरने और वाहवाही पाने की इच्छा से उतना प्रेरित नही होती, जितना कि अपन दृढ निश्चय पराक्रम, आदि की स्वय परीक्षा करने की आवश्यकता से।

आत्ममूल्याकन की दूमरी रीति है सामाजिक तुलना, अपने बारे मे अपने आसपास के लोगो की रायो को एक दूसरी से मिलाकर देखना। किशोर भी जो अपने बारे मे दूसरो की राय के प्रति बडा सवेदन शील होता है जान जाता है कि अतर निजी मूल्याकनो मे ही नही होता, उनकी कसौटियो मे भी होता है। सहपाठी जिस हरकत को शौर्यपूर्ण मानते है अध्यापक उसे भूठा साथीपन कह सकता है। अत फिर चुनने, जाचने, स्वतत्र रूप से सोचन की जरूरत पैदा हो जाती हैं।

अपने 'अह के बिब जैसा कि ज्ञात है, जटिल और अनेकविध होते हैं, जैसे वास्तविक "अह (जैसा मैं अपने को दत्त क्षण मे देखता हू) गतिशील "अह (जैसा मैं बनना चाहता हू) आदर्श 'अह" (अपनी नैतिक मान्यताओ को देखत हुए जैसा मुझे बनना चाहिए), काल्पनिक "अह (यदि सब कुछ सभव होता तो मैं जैसा बनना चाहता), वगैरह। प्रौढ व्यक्ति की आत्मचेतना भी विरोधो से मुक्त नही होती और सभी आत्ममूल्याकन भी पर्याप्त यथार्थपरक नही होते। तरुणावस्था मे तो यह बात और भी ज्यादा पायी जाती है। आत्मप्रेक्षण और आत्मानुचितन का बढना अपने आप मे बहुत अधिक रुचि दिखाना आरभिक तरुणावस्था का ठेठ लक्षण है। इसकी अभिव्यक्ति अतरग डायरिया रखने (लडकिया ऐसी डायरिया लडको से पहले और अकसर रखने लग जाती है), अपने को साहित्यिक रचनाओ के पात्रो की भूमिकाओ मे देखने (यदि किशोर इन पात्रो के कार्यो से अपना तादात्म्य स्थापित करता है, तो तरुण उनके **अभिप्रेरको और भावनाओ**

के साथ) और अन्य लोगो के मनोजगत मे बढती रुचि मे पायी जाती है।

कतिपय मनोविज्ञानवेत्ता तरुणो के आत्मानुचितन को एक अवाछनीय प्रवृत्ति मानते है और कहते है कि इसमे आत्म-अलगाव, वास्तविकता से विरक्ति और स्वप्नो के काल्पनिक ससार से अनुरक्ति का खतरा निहित है। पद्रहवर्षीय तरुणो का मनोजगत अपनी सारी प्रकट निश्चितता के बावजूद काफी जटिल और नाज़ुक होता है। फिर तरुणो के मानसिक स्वास्थ्य के मानक भी वयस्को से भिन्न होते है। तरुण लडके लडकिया के मामले मे आशका का सामान्य स्तर छोटे बच्चो अथवा किशोरो के मुकाबले ज्यादा ऊचा होता है। यौवनारभ की अवस्था मे व्यक्तित्व अप्रतीति और मानसिक विसबधन के अनेक केस देखने मे आते है। बचपन से बिछुडकर बहुतो को लगता है कि मानो वे कुछ खो बैठे हैं कि उनका अह अयथार्थ है, कि वे एकाकी है, कि लोग उन्हे नही समझते वगैरह।

किंतु इन बातो को जरूरत से ज्यादा महत्त्व नही दिया जाना चाहिए। तरुणावस्था की कठिनाइया विकास की कठिनाइया है, जिन्हे सफलतापूर्वक लाघ लिया जाता है। इसके अलावा उन्हे न हर कोई महसूस करता है न हर किसी के लिए वे इतनी कष्टकर ही होती हैं। कुल मिलाकर यह जीवन का एक सुखद दौर है। स्थायी अहकद्रिकता और अपने आप मे सिमट जाने का खतरा ही वास्तविक खतरा है और वह केवल उन तरुणो के मामले म पैदा होता है जिनम मनस्तापीयता के लक्षण होते है अथवा जिनम पूर्ववर्ती विकास की विशेषताओ (आत्मसम्मान का निम्न स्तर असतोषजनक मानवीय सबध आदि) के कारण ये लक्षण उभर सकते है। अच्छे अध्यापक को ऐसे तरुणो की विशेष मदद करनी चाहिए उनके प्रकटत महसूस किये बिना उन्हे दूसरो के साथ मेलजोल बढाने के लिए प्रेरित करना चाहिए। किंतु इस सबध म किसी प्रकार के दबाव या नग्न हस्तक्षेप से काम नही किया जाना चाहिए अन्यथा उन्हे अतिरिक्त आघात ही पहुचेगा। वैसे नैतिक दृष्टि से स्वस्थ वातावरण मे पले पुसे अधिकाश तरुण लडके-लडकियो के मामले मे मानसिक अलगाव और आत्मानुचितन न केवल ससर्ग मे बाधक नही बनते बल्कि उसकी प्रगाढता और चयनात्मकता की वृद्धि म सहायक ही होते हैं।

आत्मविश्लेषण का अर्थ निरुद्देश्य आत्मानुचिंतन नही है। एक अनन्य पृथक व्यक्ति के रूप मे अपनी खोज उस सामाजिक जगत की खोज से अभिन्न रूप से जुडी हुई होती है जिसमे इस व्यक्ति को रहना है। तरुण का आत्मानुचितन, एक ओर, अपने निजी अह के बोध का सूचक है ('मैं कौन हू? कैसा हू? मुझमे क्या योग्यताए हैं? मैं किस बात के लिए अपना सम्मान कर सकता हू?") और दूसरी ओर विश्व मे अपनी स्थिति के बोध का सूचक है (मेरे आदर्श क्या है? मेरे मित्र अथवा शत्रु कौन है? मैं क्या बनना चाहता हू? मैं और मेरा परिवेश बेहतर बने इसके लिए मैं क्या करू?)। अपने को सबोधित पहली तरह के सवाल किशोर पूछता है, हालाकि इसका उसे सदा भान नही रहता। दूसरी तरह के सवाल, जो आम है और विश्व दृष्टिकोण से सबध रखते है, तरुण द्वारा पूछे जाते है जिसके लिए आत्मविश्लेषण सामाजिक-नैतिक आत्मज्ञान का अग बन जाता है। तरुण की जीवन विषयक योजनाए जैसे बहुत हद तक अवास्तविक होती है, वैसे ही यह आत्मविश्लेषण भी अवास्तविक होता है। किंतु स्वय आत्मविश्लेषण की आवश्यकता विकसित व्यक्ति का एक अनिवार्य लक्षण और सोद्देश्य आत्मविकास की एक पूर्वापेक्षा है। लेव तोलस्तोय (१८२८ १९१०) की कृति तारुण्य' की उनकी ही डायरियो से तुलना करते हुए अपने से निरतर असतुष्ट और अपने सामने रखे गये आत्यतिक हालाकि कभी-कभी बचकाने, लक्ष्यो को पाने मे असमर्थ इस लेखक के आतरिक द्वद्व से सहानुभूति महसूस की जा सकती है। किंतु यह देखे बिना भी नही रहा जा सकता कि इस आत्मविश्लेषण की गहराई व्यक्तित्व की जटिलता को प्रतिलक्षित करती है और अपने से ऊची अपेक्षाए भावी सफलताओ की एक शर्त है।

तरुणों के आत्मानुचितन की गहराई और तीव्रता कई सामाजिक (सामाजिक मूल व परिवेश शिक्षा का स्तर) व्यक्ति प्रारूपिक (अत र्मुखता अथवा बहिर्मुखता की मात्रा) और जीवनीसबधी (पारिवारिक परिस्थितिया, समवयस्को के साथ सबध, पढाई का स्वरूप) कारको पर निर्भर होती है, जिनके सहसबधो का अभी पर्याप्त अध्ययन नही हो सका है। यदि कुछ तरुण एकात की ओर खिचते है, तो दूसरे, इसके विपरीत, थोडे से समय के लिए भी एकाकी रह जाने से बहुत डरते है। परवर्ती

मामले में ऐसा संदेह तक पैदा हो जाता है कि इस प्रकार के तरुणों के लिए संसर्ग (बेशक अचेतन रूप से) अपनी उन समस्याओं से भागने का साधन होता है, जिन्हें अपर्याप्त चिंतनशीलता के कारण वे जानने समझने में असमर्थ हैं। अधिकांश तरुण बीच की श्रेणी में आते हैं। अध्यापक और प्रतिपालक को ये सब अंतर जानने और ध्यान में रखने चाहिए।

आत्मसम्मान और उसका प्रयोजन

व्यक्तित्व का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण लक्षण, जिसकी बुनियाद आरंभिक तरुणावस्था में रखी जाती है, आत्मसम्मान है, यानी सामान्यीकृत आत्ममूल्यांकन। उच्च आत्मसम्मान दंभ अथवा आत्मालोचना के अभाव का पर्याय नहीं है। उसका अर्थ है कि आदमी अपने को औरों से बदतर अथवा निकृष्ट नहीं मानता, कि उसका अपने बारे में अच्छा मत है। इसके विपरीत, निम्न आत्मसम्मान का अर्थ है निरंतर असंतोष, अपने से घृणा, अपनी शक्ति में अविश्वास।

किसी भी व्यक्ति में आत्मसम्मान का जो स्तर होता है, वह इक्के दुक्के आत्ममूल्यांकनों के विपरीत अपेक्षया स्थायी होता है, यद्यपि दीर्घकालीन सफलताएं अथवा असफलताएं उसे घटा-बढ़ा भी सकती हैं। आत्मसम्मान के निर्माण को बाल्यकाल से ही सक्रिय कई कारक – मां-बाप का रवैया, समवयस्कों के बीच स्थिति, आदि – प्रभावित करते हैं। तरुणावस्था में जब पहले के मूल्य खंडित होते हैं और अपने निजी गुणों को नये उजाले में देखा जाने लगता है, अपने व्यक्तित्व की धारणा में संशोधन किया जाता है। तरुणों में प्राय अतिरंजित, अवास्तविक दावे करने, अपनी योग्यता, समुदाय में स्थिति, आदि को बढ़ा-चढ़ाकर आंकने की प्रवृत्ति पायी जाती है। ऐसा निराधार आत्मविश्वास प्राय वयस्कों (और समवयस्कों) को अच्छा नहीं लगता और बहुसंख्य टकराव व निराशाएं पैदा करता है। केवल बार-बार के प्रयत्नों और त्रुटियों से ही तरुण आदमी अपनी वास्तविक क्षमताओं की सीमाओं को पहचान पाता है (सामान्यत यह देर में, स्कूली शिक्षा समाप्त करने के बाद ही होता है)।

किंतु तरुण का आत्मविश्वास कितना भी क्यो न अखरता हो आत्मसम्मान की कमी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कही अधिक खतरनाक होती है। वह मनुष्य की आत्मविषयक धारणा को विरोधपूर्ण और अस्थिर बना देती है। अल्प आत्मसम्मानवाले लडके लडकिया प्राय ससर्ग निर्वाह म कठिनाई अनुभव करते हैं और कोई झूठा मुखौटा लगाकर अपने को दूसरो मे असपृक्त कर लेते हैं। इस भूमिका को आगे भी निभात जाने की आवश्यकता आतरिक तनाव बढाती है। ऐसे लोग आलोचना, मजाक, आदि के बारे मे दूसरे लोग उनके बारे में जो सोचते है, उसके बारे म बहुत ही सवदनशील होते है। व्यक्ति मे आत्मसम्मान की मात्रा जितनी ही कम होगी उतनी ही अधिक इसकी सभावना है कि वह एकाकीपन के बोझ से ग्रस्त रहेगा। अल्प आत्मसम्मान के कारण व्यक्ति की सामाजिक अपेक्षाओ का स्तर भी काफी घट जाता है और वह ऐसी हर तरह की सक्रियता से कन्नी काटने लगता है जिसमे प्रतियोगिता की कोई बात हो। ऐसे लोग प्राय अपने सामने रखे हुए लक्ष्य त्याग देत है क्योकि उन्हे अपनी शक्ति म विश्वास नही होता। अपनी बारी म यह उनके अल्प आत्ममूल्याकन को और सुदृढ आधार प्रदान कर देता है।

अल्प आत्मसम्मान सकोच का पर्याय कतई नही है। यदि अध्यापक अपने किसी छात्र मे अल्प आत्मसम्मान के लक्षण देखता है तो उसे इस खतरनाक प्रवृत्ति को रोकने के लिए अवश्य ऐसी परिस्थितिया उत्पन्न करनी चाहिए जिनमे कि तरुण अपने सामाजिक और मानवीय महत्त्व के स्पष्ट प्रमाण पा सके। एक सबसे कारगर तरीका है ऐसे तरुण को सामाजिक कार्यकलाप मे शामिल करना, उसे अन्य साथियो के लिए अपनी ' आवश्यकता का अहसास कराना।

§३ ससर्ग और सवेगात्मक जीवन

आत्मज्ञान, आत्मनिर्णय की जटिल समस्याए तरुण अकेले नही बल्कि माता पिता समवयस्को और अध्यापको के ससर्ग मे, उनकी सहायता व समर्थन से हल करता है।

माता पिता के साथ सबधो मे स्वायत्तता की लालसा

किशोर भी ज्यो ही उसमे प्रौढता, वयस्कता की अनुभूति जाग जाती है माता पिता के सतत सरक्षण से मुक्ति पाने और उनके साथ समानता के आधार पर सबध बनाने के प्रयत्न करने लग जाता है। यह प्रवृत्ति तरुणावस्था म जारी रहती है। किंतु अभीप्सित स्वायत्तता का स्वरूप और सीमा क्या होनी चाहिए? एक विज्ञान के रूप म तरुण मनोविज्ञान को उन एकागी सिद्धातो ने बडी हानि पहुची है जिनका कहना है कि तरुणावस्था सदा और सर्वत्र "विद्रोही" होती है और 'पीढियो का टकराव' उत्पन्न करती है। वास्तव म माता पिता और सतान के परस्पर सबध सामाजिक परिवर्तनो की गति तथा स्वरूप, परिवार के ढाचे, अनुशासन के स्वरूप और तरीके, आदि अनेकानेक सामाजिक कारको की समष्टि पर निर्भर होते है। शिक्षा व पालन की निरकुशतावादी प्रणाली जो विकासमान व्यक्ति की अपनी आकाक्षाओ को छूट नही देती है वस्तुत टकराव उत्पन्न करती है जिनसे जनवादी शिक्षा व प्रणाली की बदौलत बचा जा सकता है। किंतु वे वैज्ञानिक भी सही नही है जो तरुणावस्था म माता पिता के साथ सबधो के गभीर पुनर्गठन की ओर से आखे मूद लेते है।

आधुनिक मनोविज्ञान बडे बच्चो की स्वायत्तता का प्रश्न ठोस रूप म उठाता है और **व्यवहारात्मक स्वायत्तता** (तरुण की केवल उससे सबध रखनेवाले प्रश्नो को स्वय हल करने की आवश्यकता और अधिकार) **सवेगात्मक स्वायत्तता** (माता पिता से स्वतत्र रूप से निर्धारित अपने लगाव रुझान रखने की आवश्यकता और अधिकार) और **नैतिक व मूल्यात्मक स्वायत्तता** (अपने दृष्टिकोण रखने की आवश्यकता और अधिकार और ऐसे दृष्टिकोण वास्तव मे रखना) के बीच स्पष्ट भेद करता है।

सबसे पहले किशोर अपने खाली समय के सबध मे–बेशक कुछ सीमाओं के भीतर–व्यवहारात्मक स्वायत्तता पाने की कोशिश करते है। मिसाल के लिए अधिकाश शहरी स्कूली छात्र अपना खाली समय स्कूल और घर के बाहर बिताना पसद करते हैं क्योकि शहर म थियेटर सिनेमा क्लब इत्यादि भी होते हैं। किंतु गाव म चूकि ये

मब प्राय नही होते इमलिए वहा स्कूल सास्कृतिक मनोरजन का केन्द्र भी बन जाता है। किशोर वयस्को के वजाय अपने समवयस्को के साथ ही खाली ममय विताना पसद करत है।

सवेगात्मक स्वायत्तता के मार्ग मे प्राय बडी कठिनाइया होती हैं। तरुणो को लगता है—और प्राय व सही भी होते हैं—कि माता पिता बच्चो मे आये परिवतनो का पूर्ण महत्त्व नही जानते और उनकी भावनाओ को गभीरतापूर्वक नही लेते। ऐमे म अगर जरा सी भी चूक हुई तो उच्च कक्षा क छात्र के मनोजगत के कपाट माता पिता के लिए हमेशा-हमेशा के लिए न भी सही, मगर बहुत समय के लिए अवश्य ही वद हो जायेगे। इम प्रश्न के उत्तर म कि 'तुम्ह वेहतर कौन समझता है" काफी अधिक तरुण लोग मित्रो और समवयस्को का उल्लेख करते है न कि माता पिता का। यदि किशोरावस्था अनुशासन की दृष्टि से सबसे कठिन आयु है तो आरभिक तरुणावस्था सबसे अधिक सवेगात्मक समस्याए और प्राय माता पिता व बच्चो के बीच मानसिक दूरी भी उत्पन्न करती है। इन वर्षो म पिता के साथ सबध विशेषत उलझ जाते है। माता इस आयु म भी पिता की अपेक्षा अधिक निकट व प्रिय रहती है। किंतु माता पिता के साथ मबधो क थोडा बहुत ठडा पडने और उनमे अपनी कुछ बाते छिपाना शुरू करन का यह अर्थ नही कि लगाव समाप्त हो गया है। यह माता पिता की कुशलता और सूझ-बूझ पर ही निर्भर है कि वे अब बच्चा न रही अपनी सतान के भावना जगत मे दखल दिय बिना दोनो पक्षो क लिए जरूरी सवेगात्मक घनिष्ठता और परस्पर समझ बनाये रख सकेंगे कि नही।

नैतिक मान्यताओ और मूल्यानुमरण के क्षेत्र मे तरुण स्वायत्तता के अपने अधिकार पर बडी दृढता से अडे रहत है। कभी कभी चरम दृष्टिकोण जान बूझकर केवल इसलिए व्यक्त किये जाते है कि मौलिकता के अपने इस दावे को पुष्ट किया जाये। किंतु व्यवहार म माता पिता का प्रभाव यहा फिर भी प्रमुख बना रहता है। पीढियो के बीच अतर केवल ऐमे अपेक्षया सतही प्रश्नो पर ही दिखायी देता है जैसे फैशन पसद और मनोरजन के तरीके। कुछ प्रतिपालको की हुक्म देकर पेट की मोहरी की चौडाई वालो की लबाई अथवा नाच के ढग को विनियमित करने की कोशिशे अनावश्यक टकराव ही पैदा करती है। किंतु जहा

तक अधिक गहन प्रश्नो का सबध है, जैसे राजनीतिक रुझान, विश्व दृष्टिकोण पेशे का चुनाव आदि, तो उनमे माता पिता का प्रभाव कही अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रबल होता है, बजाय साथियो और समवयस्कों के प्रभाव के। कम्युनिज्म के निर्माता सोवियत समाज मे बुनियादी जीवन लक्ष्यो की समानता पीढियो के परिवर्तन को क्रातिकारी परपराओ के हस्तातरण को आसान बना देती है।

सामूहिकतावाद और सामूहिक जीवन

आरभिक तरुणावस्था आत्मविश्लेषण की ही आयु नही है। यह वह आयु भी है जब सामूहिकता की भावना सबसे प्रबल होती है। किशोर के लिए सामूहिक जीवन मे भाग लेना, दूसरो के साथ रहना ही पर्याप्त है। किंतु तरुण के लिए सर्वाधिक महत्त्व समवयस्को द्वारा स्वीकार किये जाने, अपने को समूह के लिए आवश्यक महसूस करने और उसमे एक निश्चित प्रतिष्ठा तथा प्रभाव अर्जित करने का होता है। समूह मे उसे यदि समुचित स्थान नही मिलता, तो वह अत्यधिक चिंतित हो उठता है। इसी कारण पाया जाता है कि समवयस्को के बीच कम पसद किया जानेवाला तरुण औरो की अपेक्षा कही अधिक अपने व्यक्तित्व को बदलने के लिए उत्सुक रहता है।

समाजमितीय अध्ययनो से पता चलता है कि तरुणो की कक्षाओ मे शनै शनै एक निश्चित ध्रुवीकरण हो जाता है, जिसमे एक ओर सबसे लोकप्रिय छात्र होते है और दूसरी ओर वे, जिन्हे सबसे कम पसद किया जाता है। ऐसा दर्जा विशेषत पसद न किये जाने का दर्जा काफी स्थायी होता है और एक कक्षा से दूसरी कक्षा मे भी जारी रहता है। इससे तरुणो मे प्रतिस्पर्धा की भावना बढती है और कई मानसिक समस्याए उत्पन्न हो जाती है। समस्याए अपेक्षया बेहतर हालतवाले बच्चो के सामने भी पैदा होती हैं। कुछ किशोर अपनी प्रतिष्ठा ऐसी भूमिकाओ (उदाहरणार्थ सभा मे ममग्रर की भूमिका) पर आधारित करते है जिनमे आगे चलकर यानी उच्च कक्षाओ मे पहुच उन्हे भी अपदस्थ होने लग जाती है। किंतु भूमिका का मैंस अन्त जाय जब साथी उसी भूमिका की उम्मीद कर रहे हो? फिर क्या कोई

दूसरी भूमिका ऐसी अभीप्सित और आदत का अग बन चुकी लोक प्रियता दे सकेगी? फलस्वरूप तरुणावस्था म समूह मे अपनी स्थिति से प्राय असतोष पैदा हो जाता है और तरुण का आत्ममूल्याकन अपनी स्थिति के अनुकूल नही रह जाता है।

तरुण के ससर्ग के दायरे के बढते ओर मुख्य गतिविधियों के जटिल बनते जान का यह नतीजा निकलता है कि वह जिन समूहो अथवा समुदायो का अग होता है अथवा जिनमे वह अपने मूल्यो तथा आत्म मूल्याकनो का मिलान करता है अभिनिर्देशन पाता हे (सदर्भ समूह) उनकी सख्या काफी बढ जाती हैं। इनमे सगठित स्कूली समुदाय (कक्षा कोम्सोमोल सगठन) सगठित, किंतु स्कूलेतर समुदाय (खेलकूद सगठन, क्लब, विभिन्न कला तथा शिल्प मडलिया) और विभिन्न व्यक्तियो के निजी सपर्क की प्रक्रिया म बननेवाले अनौपचारिक स्वत स्फूर्त, असगठित समूह गिरोह, आदि आते ह। समूहो व समुदायो का यह बाहुल्य ही कुछ खास भूमिका सबधी द्वद्व पैदा कर देता है क्योकि तब व्यक्ति के सामने सवाल उठता हे कि किस तरह का अग होना उसके लिए अधिक महत्त्वपूर्ण हे (मिसाल के लिए यदि खेलकूद सगठन और स्कूल मे से किसी एक को चुनता है)। स्थिति इससे और भी जटिल बन जाती ह कि विभिन्न समूहो की अपेक्षाओ मे टकराव हो सकता ह।

शिक्षा और पालन के कार्य मे असगठित, गली मुहल्ले क समूहो और गिरोहो के प्रभाव को ध्यान म रखना बहुत जरूरी ह। कुछ अध्यापक उनकी ओर स आखे मूद लेते है अथवा उन्हे सायोगिक, अल्पकालिक परिघटना जैसे मानत हे। किंतु यह बहुत खतरनाक भ्रम है।

विकासशील पीढी का सारा समय स्कूल मे ही नही बीतता। अत विविध युवा सगठन – राजनीतिक, खेलकूद सास्कृतिक आदि – स्कूल के पूरक का काम करते है। किंतु ये सगठन भी तरुण लोगो की असगठित, अनौपचारिक समूहो, चाहे व स्कूल म ही बननेवाले साथियो के गिरोह हो अथवा गली मुहल्ले के गिरोह, क प्रति ललक को खत्म नही कर सकते। कक्षा समुदायो की भाति स्वत स्फूर्त असगठित समूह समवयस्को के ही और केवल स्कूली छात्रो के समूह नहीं होते (उनम गैर छात्र भी शामिल होते है)। उनका पचमेल स्वरूप और उनम

सुप्रसिद्ध सोवियत शिक्षाशास्त्री न०क० क्रूप्स्काया (१८६६ १९३९) तरुणो के सामने उत्तरोत्तर जटिल लक्ष्य रखने को, जिन्हे वे स्वतत्र प्रयासो से हासिल कर सकते हो और जो समाज के साझे लक्ष्य से जुडे हुए हो, उनमे सामूहिकतावाद की भावना, नैतिक आदर्शो और सिद्धातनिष्ठा क सवर्धन के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण मानती थी।

मैत्री सबध

सामूहिक जीवन का महत्त्व बढने के साथ साथ तरुणावस्था मे व्यक्तिगत, अतरग मैत्री की आवश्यकता भी बढती जाती है। अठारहवी सदी के महान फ्रासीसी विचारक रूसो न भी लिखा था कि सुसस्कृत युवा व्यक्ति मे पहली भावना जो जन्म लेती है वह प्रेम नही, मैत्री की भावना है। लेव तोलस्तोय अपनी आत्मकथात्मक रचना-त्रयी (बाल्यावस्था', कैशोय , तारुण्य') के नायक की दमीत्री नख्ल्यूदोव के साथ मैत्री को वह प्रतीकात्मक मजिल मानते थे, जिसके एक ओर कैशोर्य था और दूसरी ओर तारुण्य।

मित्र की अथक खोज किशोरावस्था मे ही आरभ हो जाती है। किंतु तरुणो की मैत्री किशोरो की मैत्री की अपेक्षा कही अधिक स्थायी और जो मुख्य बात है, गहन होती है। आरभिक किशोरावस्था मे मित्रो को मुख्यतया साझी रुचिया सयुक्त क्रियाकलाप (जिसमे और भाग नही ले सकते) ही जोडते हे। तरुणो की मैत्री मे प्रमुखता अतरगता, सवेगात्मक आत्मीयता और निश्छलता को प्राप्त होती है। तरुण की आत्मचेतना का विकास और उसके स्वभावगत अतर्विरोध किसी के सामन अपनी आत्मा उडेलकर रख देने अपने सवेगात्मक अनुभवो म भागीदार बनाने की उत्कट लालसा पैदा करते है। इसीलिए मित्र को अपना अपर स्वरूप (आल्टर ईगो) समझा जाता है। ऐसी उत्कट लालसा तरुणावस्था मे ही उत्पन्न होती है।

बेशक तरुण की मैत्री की धारणा और उसकी अतरगता की यथार्थ मात्रा सभी के मामले मे एकसमान नही होती। लडकिया चूकि यौवनारभ की अवस्था मे जल्दी पहुच जाती हे, इसलिए अतरग मैत्री की आवश्यकता उनमे लडको से पहले पैदा होती है। यदि लगभग एक ही आयु के

लडको और लडकियो के मैत्री के आदर्शो की तुलना की जाय, तो पता चलेगा कि मैत्री से लडकियो द्वारा की जानेवाली अपेक्षाए कही ऊची होती है। बाद मे यह अतर सभवत मिट जाता है। व्यक्तिगत भेद भी काफी बडे होते है। कुछ केवल युगल मैत्री पसद करते हैं और सोचते है कि असली मित्र एक ही हो सकता है। दूसरो के दो, तीन या इससे भी ज्यादा मित्र होते है। कुछ के मामले मे मैत्री का जन्म उसकी उत्कट आवश्यकता जो एकाकीपन की अनुभूति का और सवेगात्मक आत्मीयता की कमी का फल होती है, महसूस कर लेने के बाद होता है। कुछ के मामले म बचपन के साथी ही शनै शनै घनिष्ठ मित्रो म तब्दील हो जाते है।

पहला स्वतत्र रूप से चुना हुआ गहन व्यक्तिगत लगाव होने के कारण तरुणसुलभ मैत्री लगाव के कुछ अन्य रूपो, विशेषत प्रेम, की पूर्वापेक्षा बनती है और कुछ हद तक उनका पूर्वाभास देती है। रूसी क्रातिकारी जनवादी गेर्त्सेन (१८१२ १८७०) ने लिखा था, "मैं नही जानता कि प्रथम प्रेम की यादो को तरुणावस्था की मैत्री की यादो की तुलना म एसा अनन्य महत्त्व क्यो दिया जाता है। प्रथम प्रेम इसलिए इतनी मधुर सुरभि लिये होता है कि उसमे स्त्री पुरुष का भेद मिट जाता है, कि वह उद्दाम मैत्री का प्रतीक होता है। अपनी ओर से तरुणो की मैत्री मे भी प्रेम की सारी उत्कटता, बिल्कुल उसके जैसे लक्षण होते हैं– वही शब्दो द्वारा अपनी भावनाओ को स्पर्श करने का सकोचपूर्ण भय, वही अपने म अविश्वास, वही पूर्ण समर्पण वही विछोह का कष्टकर सताप और वही एकमात्र होने की ईर्ष्याभरी आकाक्षा।'

अनन्यता अपने व्यक्तित्व के अनुसार व्यवहार की कोशिश और आत्माभिव्यक्ति की लालसा – ये तरुण के ठेठ लक्षण है। किंतु आदमी जब तक व्यावहारिक कार्यकलाप के ज़रिये अपनी पहचान न बना ले अपने विषय म उसकी धारणा कुछ हद तक अस्पष्ट और अस्थायी ही रहेगी। इसकी अभिव्यक्ति अपने को परायी ' भूमिकाए खेलकर जाचने की इच्छा, दिखावे और जान-बूझकर अथवा बिना जान-बूझे आत्मनिषेध म मिलती है। तरुण आखिर तक ईमानदार बनना और दूसरो द्वारा समझा जाना चाहता है। उसे यह बात मन ही मन कचोटती रहती है कि वह अपने अतर्जगत को व्यक्त नही कर सकता। आत्मवि

स्वाम की कमी उसमें औरों के बीच खो जाने का भय प्रतीत होने का भय उत्पन्न करता है।

इसलिए तरुण के लिए अंतरंग मैत्री बहुत बड़ा महत्त्व रखती है जिसकी बदौलत वह भावनाओं, स्वप्नों और आदर्शों की तुलना कर सकता है और अपने बारे में बोलना-बताना सीख सकता है। आधुनिक तरुण कभी-कभी ऊंची बातों में और कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति से डरते हैं। इसीलिए वे अपने मैत्री संबंधों को जान-बूझकर ठेठ दुनियावी और रूखी शक्ल देते हैं। किंतु इससे भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। मानव संबंधों में संप्रेषण की सतही अंतर्वस्तु और संवेगात्मक अंतर्वस्तु के बीच प्रत्यक्ष संबंध हमेशा नहीं होता। दसवीं कक्षा के दो छात्रों को टेलीफोन पर फालतू की बातचीत करते और उसमें भी लगभग विस्मयादिबोधक ही इस्तेमाल करते देखकर वयस्क चिढ़ जाते हैं। किंतु वे नहीं देखते कि इस बातचीत की जीवन से संबद्ध रखनेवाली अंतर्वस्तु तार्किक नहीं अपितु संवेगात्मक है और यह भी शब्दों और वाक्यों द्वारा उतनी व्यक्त नहीं हुई है जितनी कि बोलने के ढंग, आवाज के उतार-चढ़ाव और सीधे-सीधे कुछ बताने में कतरा जाने द्वारा, जो दोनों मित्रों को एक दूसरे की मनःस्थिति की सूक्ष्मताओं से भी परिचित करा देते हैं और साथ ही – यह कभी-कभी जान-बूझकर भी किया जाता है – किसी और सुननेवाले को बेमतलब, ऊलजलूल भी लगते हैं।

१५-१६ वर्ष की आयु में लड़के भी और लड़कियां भी मैत्री को मानव संबंधों में सबसे महत्त्वपूर्ण मानते हैं। तरुणों की मैत्री की अति संवेगात्मकता उसे आदर्शीकृत, अवास्तविक बना देती है। तरुण कभी-कभी न केवल मैत्री में अपने को आदर्श रूप में देखता है, बल्कि अपनी नजर में मैत्री को भी आदर्श बना देता है। मित्र की उसकी धारणा प्राय: इस आदर्श "अहं" के करीब होती है बजाय वास्तविक "अहं" के। जिससे उसे अनुराग होता है, वह उसे अपने में मिलता-जुलता अधिक प्रतीत होता है, बजाय उसके कि जो वह वास्तव में है। उसकी मैत्री संबंधों से की जानेवाली अपेक्षाएं इतनी ऊंची होती हैं कि यथार्थ संबंध उसे पर्याप्त घनिष्ठ नहीं लगते। प्रगाढ़ संवेगात्मक लगाव का भूखा होने के कारण तरुण कभी-कभी इस लगाव का पैदा करनेवाले व्यक्ति के वास्तविक गुणों पर ध्यान नहीं देता। कभी-कभी दूसरे व्यक्ति-समवयस्क से

अपने म यडे व्यक्ति—व प्रति इकतरफा लगाव का भी वह मैत्री मान वैठता है।

हर तरुण अपन मित्र म जिम अपर स्वरूप को खोजता है, वह अपन अह की अबोध्य अपेक्षाओ को प्रतिबिंवित करता है। कुछ तरुण मित्र म मुख्यतया अपन "अह" की पुष्टि खोजते हैं उनके लिए मित्र दर्पण होता है जिसम वह अपना प्रतिबिंव देखता है। कुछ इमक विपरीत खुद ही मित्र म तादात्म्य स्थापित करत है, उसके भावना जगत को अपना लेते है चाहे इसम उनका अपना व्यक्तित्व ही क्यो न खत्म हो जाता हो। तीसरी तरह क तरुण ऐस होते हैं, जो मित्र मे एक तरह का पूरक, अनुकरण क लिए प्रतिमान, मानसिक सुरक्षा खोजते है। इन सब अबोध्य मानसिक आवश्यकताओ पर ही मित्रो का चुनाव और उनके साथ सबधो का स्वरूप निर्भर होत हैं।

अधिकाश मामलो मे उच्च कक्षाओ के छात्र अन्य आयु वर्गो के लोगो की भाति अपन ही लिंग के समवयस्क से मैत्री को प्राथमिकता देते है। आयु म अतर एक-दो वर्ष से अधिक विरले ही होता है। किंतु बहुतो विशेषत लडकियो को, अपने से बडो के साथ मैत्री की आवश्यकता भी महसूस होती है। अनक तरुण लडके-लडकिया अपने से कम उम्र के लडक-लडकियो के साथ सहर्ष समय बिताते हैं और इसमे उन्हे बडा सतोष मिलता है। किंतु अपने से छोटो के साथ सबध प्राय अनुपूरक से होते है और समवयस्को के साथ मैत्री की जगह नही ले सकते। यदि सामान्य विकास की हालत मे तरुण लडका अथवा लडकी अपने से छोटे किशोरो को घनिष्ठ मित्र बनाते है तो यह प्राय विवशतावश किया जाता है क्योकि समवयस्को के साथ ससर्ग मे कठिनाइया उत्पन्न हो गयी थी। ये कठिनाइया सकोचशीलता, बढी हुई अपेक्षाओ या किसी और चीज की उपज हो सकती है।

तरुण और तरुणियो की मैत्री म अतरो के प्रश्न का अभी पर्याप्त अध्ययन नही हुआ है। मनोवैज्ञानिक अनुसधान इस प्राचीन काल से चली आ रही धारणा का खडन करते हैं कि नारियो से मैत्री नही निभ सकती। बेशक सभव है कि लडकियो की अतिशय सवदनशीलता छोटी से छोटी बात को महत्त्व देने और "सबध स्पष्ट करने की उनकी प्रवृत्ति वगैरह उनके साथ स्थिर मैत्री सबध बनाये रखन को

अधिक सयत और "रूखे" लडको के मुकाबले, जो बुनियादी और मुख्य बातो मे परस्पर समझ से ही सतोष कर लेते हैं, ज्यादा कठिन बना देती है।

तरुणावस्था मे प्रेम और स्त्री-पुरुष सबध

लडके-लडकियो के आपसी सबध, जो किशोरावस्था मे सीमित और निरुद्ध होते है, तरुणावस्था मे काफी सक्रिय बन जाते है। साथीपन के सबधो का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है केवल लडको अथवा लडकियो के गिरोहो के साथ-साथ मिले जुले गिरोह भी बनने लग जाते है। मिली-जुली मैत्री की आवश्यकता, विशेषत लडकियो के मामले मे, बढ जाती है। भोले बालसुलभ प्रेम (एक दूसरे को तिरछी चितवन से देखना पर्चिया लिखना, प्यार व्यक्त करना कभी कभी चूम भी लेना जो पाचवी सातवी कक्षाओ मे काफी आम बात है) के साथ साथ १५ १६ वर्ष की आयु मे पहले गभीर रागात्मक सबध, प्रेम और गहन अनुभूति की उत्कट आवश्यकता पैदा हो जाती है। यह तथ्य कि उच्च कक्षाओ म प्रेम प्राय "महामारी" की तरह फैलता है – किसी कक्षा मे तो कोई भी प्रेम नही करता और दूसरे मे सभी, हर कोई – स्वय समस्या की गभीरता को खत्म नही कर देता। लिगो के परस्पर सबध शिक्षा और पालन की एक मुख्य समस्या बन जाते है। ये सबध प्रणय निवेदन अथवा इश्कबाजी का रूप लेगे या पारस्परिक रुचि अधिक व्यापक साथीपन के व निजी सपर्को के दायरे म बढेगी – यह काफी हद तक पूर्ववर्ती शिक्षा व पालन पर और समुदाय के नैतिक वातावरण पर निर्भर होता है।

स्त्री पुरुष की समानता पर आधारित सोवियत समाज का आत्मिक वातावरण सहशिक्षा श्रम और सामाजिक कार्य – ये सब सही सामाजिक-नैतिक मूल्यो का निर्माण आसान बना देते है। किंतु इन अनुकूल सामान्य परिस्थितियो मे भी आरभिक तरुणावस्था मे लडके लडकियो के बीच ससर्ग बढने मे कुछ मानसिक कठिनाइया उत्पन्न हो जाती हैं। सबसे पहले तो बचपन से चले आ रहे स्त्री-पुरुष भूमिकाओ के विभेदीकरण का प्रभाव पडता है। लडके भी और लडकिया भी कुछ खास तरह के खेलो को प्राथमिकता देते हैं और उनमे साथी अपने ही लिग के

चुनते है। लडके अपनी 'विशिष्टता' पर विशेष रूप से जोर देते हैं। यह धारणा उनके मन मे वयस्को द्वारा बिठायी जाती है ("तुम मर्द हो! मर्द क्या ऐसा करेगा?")। लडका जैसा व्यवहार करनेवाली लडकी को देखकर आज शायद ही किसी को हैरानी होती हो। किंतु जरूरत से ज्यादा नाजुक सकोची लडके को देखकर बडो की भी और समवयस्को की भी भौहे उठ जाती है। अपनी समवयस्को द्वारा ठुकरायी हुई लडकी लडको के बीच लोकप्रिय बनकर अपनी कमी की मानसिक पूर्ति कर लेती है। किंतु तरुण के लिए यह संभव नहीं उसके पुरुषत्व को मान्यता केवल पुरुष समवयस्का से मिल सकती है।

गहन संसर्ग और परस्पर समझ के बढने मे मानसिक अंतरो और सामान्य लैंगिक परिपाक की गति मे भी कठिनाइया उत्पन्न हो सकती हैं। किशोरावस्था मे लडकिया अपनी आयु के लडको से शारीरिक दृष्टि से ही नही बौद्धिक रूप से भी यही तेजी से विकास करती हैं। तरुणावस्था मे यह अंतर मिट जाता है, लेकिन दूसरी ओर, विशिष्ट योग्यताओ तथा रुचियो के मामले मे अधिक स्थायी लैंगिक भेद प्रकट हो जाते है। यदि लडको की रुचिया वस्तुजगत और तकनीकी विषयो से अधिक संबंध रखती है तो लडकियो को ज्यादातर मनोजगत और मानव संबंधो की समस्याए उद्वलित करती है। समवयस्को के साथ संबंध मे लडकियो के लिए संवेगात्मक पक्ष सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है। एक ही लिंग के व्यक्तियो के समूह का अंग होने की आवश्यकता लडके बडी तीव्रता से महसूस करते हैं जबकि लडकियो के मामले मे पंद्रह वर्ष की आयु के बाद यह आवश्यकता घटती जाती है।

यौवनारंभ सभी तरुण भावनाओ अनुभूतियो और रुचियो को अत्यधिक यौनपरकता प्रदान कर देता है, यद्यपि कभी कभी इसका बोध नही भी होता है। प्रश्न 'शारीरिक आवश्यकता' का नही है। प्रौढ़ यौन प्रेम ऐंद्रिक (यौन) आकर्षण और प्रिय व्यक्ति के साथ गहन वैयक्तिक संपर्क तथा विलयन की आकांक्षा की लयात्मक एकता का ही दूसरा नाम है। किंतु ये दोनो प्रवृत्तिया एक साथ परिपक्व नही होती। यद्यपि लडकियो के मामले मे यौवनारंभ पहले होता है, उनमे आरंभ मे स्नेह, दुलार, संवेगात्मक आत्मीयता की चाह ही अधिक प्रबल होती है, न कि शारीरिक सामीप्य की चाह। इसके विपरीत

लडको मे अधिकांशत कामावेग पहले प्रकट होता है। जहा तक आत्मिक अतरगता का प्रश्न है वह तरुणो म लडकियो के मुकाबले बाद मे पैदा होती है और पहले अपने ही लिंग के समवयस्क की ओर जिसके साथ वह भावनासाम्य महसूस करता है लक्षित होती है। इसी म तरुण लडके की चेतना म थोडी-बहुत द्वैधता प्रकट होती है। एक ओर, वह एक तरह की अस्पष्ट कामभावना से भरपूर होती है और यौन कल्पनाए कभी-कभी किसी कल्पित अथवा यथार्थ बिंब (प्राय सामूहिक सारे समूह के लडको के लिए साझे) के रूप म साकार बनती है जिस मात्र काम विषय के तौर पर अन्य सभी मानवीय विशेषताओ से रहित विषय के तौर पर ग्रहण किया जाता है। दूसरी ओर तरुण लडके का रवैया उस लडकी के प्रति अत्यत सकोचपूर्ण और पवित्र होता है जो उसम कोमल भावनाए जागृत करती है।

प्रायोगिक अध्ययन दिखाते हैं कि यद्यपि १५ १८ वर्ष की आयु के लडके और लडकिया एक दूसरे के ससर्ग म मानसिक कठिनाइया आशकाए और तनाव अनुभव करते है, यह तनाव लडको के मामले मे कही ज्यादा होता है। लडकिया अपने को अधिक आत्मविश्वासपूर्ण अनुभव करती है। इसका कारण आशिकत यह हो सकता है कि उनका यौवनारभ जल्दी होता है और आशिकत यह कि लडके जिन्हे हमारी सास्कृतिक मान्यताओ के अनुसार प्रणय निवेदन म पहल दिखानी और सक्रिय भूमिका अदा करनी चाहिए, यह न जानने की वजह स कि उन्हे कैसे पेश आना चाहिए कठिनाइया अनुभव करते है।

अधिक पहले यौवनारभ का स्वाभाविकतया मतलब है कि स्कूली रोमासो की सख्या और साथ-साथ गभीरता भी बढ जायेगी और इस तरह अध्यापक के शिक्षण कौशल तथा व्यवहार पटुता से बढी हुई अपेक्षाए की जाने लगगी। अत यौन विकास से सबधित चिकित्सा स्वच्छतावैज्ञानिक शिक्षा के अलावा सर्वांगीण नैतिक शिक्षा दिया जाना भी आवश्यक है। *किंतु नैतिक शिक्षा का अर्थ यह नहीं लगाया जाना* चाहिए कि यौन समस्याओ के बारे म पाखडपूर्ण चुप्पी बरत ली जाये।

अ०स० मकारेको ने लिखा था कि मनुष्य के "प्रेम के मूल मे मामूली जानवरो जैसा यौन आकर्षण नही हो सकता। रोमानिक प्रेम की शक्तियो का स्रोत मनुष्य के अयौन अनुराग के अनुभव मे ही

हो सकता है। जिस युवा व्यक्ति को कभी अपने मां-बाप, साथियों और मित्रों से प्रेम नहीं रहा है, वह अपनी प्रेयसी, पत्नी को भी कभी प्रेम नहीं करेगा। इस अयौन प्रेम का दायरा जितना व्यापक होगा, यौन प्रेम उतना ही उदात्त बनेगा।"

नवीनतम मनोवैज्ञानिक खोज इस विचार की पुष्टि करती हैं। बहुत पहले से ज्ञात है कि मनुष्य के अपने प्रति रवैये और मित्रों के प्रति रवैये के बीच एक निश्चित अन्योन्य संबंध है। जिस व्यक्ति की आत्मचेतना ज्यादा विकसित है और जिसमें प्रचुर आत्मसम्मान है, वह प्रगाढ़ और स्थायी मैत्री स्थापित करने में अधिक सफल होगा, बजाय उसके कि जो अपने आपको 'ठुकराता' है। यह अन्योन्याश्रितता यौन संबंधों के क्षेत्र में भी देखी जाती है जिस आदमी में आत्मसम्मान की भावना ज्यादा है उसके मुकाबले अल्प आत्मसम्मानवाला पुरुष नारी को मात्र संभोग वस्तु के रूप में कहीं अधिक देखता है। दूसरी ओर बहुमुखी मानव संपर्क कायम करने और एक दूसरे को समझने की योग्यता सफल प्रेम और संपन्न पारिवारिक जीवन की एक महत्त्वपूर्ण पूर्वशर्त है। उदात्त भावनाओं का पालन समाज के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण कार्यभार है जितना कि युवा व्यक्ति का श्रम जीवन के लिए तैयार करना।

§४ सामाजिक क्रियाशीलता और विश्व-दृष्टिकोण का निर्माण

रुचियां और आत्मिक आवश्यकताएं

आधुनिक सोवियत तरुण-तरुणियों की चौथे पांचवें दशकों के उनके समवयस्कों से तुलना करने पर जो एक तथ्य तुरंत ध्यान आकृष्ट करता है, वह है आज के युवाओं के सामान्य सांस्कृतिक स्तर और बौद्धिक रुचियों के दायरे तथा विविधता का बढ़ जाना। रेडियो टेलीविजन सिनेमा और सरल वैज्ञानिक प्रकाशनों की बदौलत उच्च कक्षाओं के छात्रों को विज्ञान और प्रविधि की नवीनतम उपलब्धियों से परिचित होने का अवसर मिलता है। मनोविज्ञानवेत्ताओं के अध्ययनों ने दिखाया

है कि पढाई म अच्छे उच्च कक्षा क छात्रो का नवीनतम वैज्ञानिक, तकनीकी, सास्कृतिक और क्रीडा उपलब्धियो के बारे मे ज्ञान अपने अध्यापको स किसी भी भाति कम नही होता और कुछ मामलो मे तो बल्कि ज्यादा ही होता है। यह स्वाभाविक भी है क्योकि वैज्ञानिक-तकनीकी क्राति के युग मे हर नयी पीढी को पूर्ववर्ती पीढी मे अधिक शिक्षित होना ही चाहिए। युवा लोगो का खाली समय बिताने का ढग भी उनसे बडी आयु के लोगो क मुकाबले ज्यादा बहुविध है। अधिकाश उच्च कक्षाओ के छात्र विज्ञान राजनीतिक घटनाओ अतर्राष्ट्रीय सबधो खेलकूद और कला मे गहन रुचि लेते है। उनके शौक है किताबे पढना, सिनेमा तथा टेलीविजन देखना खेलकूद मे हिस्सा लेना पर्यटन, वगैरह। गणित भौतिकी, रसायनविज्ञान आदि से सबधित प्रतियोगिताओ म अधिकाधिक बृहद पैमाने पर भाग लेना दिखाता है कि तरुण लोग विज्ञानो मे सक्रिय और सृजनात्मक रुचि लेते है। तरुण लडके लडकियो की दिलचस्पी समाजविज्ञान, दर्शन, आदि म भी बढती जा रही है जो वैज्ञानिक विश्व दृष्टिकोण के निर्माण के लिए बहुत बडा महत्त्व रखत है।

किंतु वर्तमान वस्तुस्थिति को आदर्श समझना भी ठीक न होगा। ऐसी बहुत सी समस्याए है जो बडी पीढी की गभीर चिता का कारण बनी हुई है। सबसे पहले तो यह कि शहरो और देहातो क लडके-लडकियो म विभिन्न सामाजिक परिवेश मे लडके-लडकियो क विकास क स्तर और रुचियो के दायरे मे अतर आज भी पाया जाता है। समाज इस असमानता को खत्म अथवा कम स कम करने क लिए भरसक प्रयत्न कर रहा है किंतु यह कार्यभार इतनी जल्दी तो पूरा हो नही सकता। चिता का कारण सास्कृतिक व नैतिक शिक्षा क केंद्र क रूप म स्कूल की भूमिका का, विशेषत नगरो म, घटते जाना भी है। स्वय अध्यापक की स्थिति भी पहले से जटिल बन गयी है। पहले जब वह गाव मे सबसे और कभी कभी तो एकमात्र शिक्षित व्यक्ति था तो स्वय अध्यापक का पद भी उसे निर्विवाद प्रतिष्ठा प्रदान कर देता था। आज अन्य पेशो क लोगो की भाति उस अपने वैयक्तिक गुणों से अपने लिए इतनी जरूरी प्रतिष्ठा अर्जित करनी और बनाये रखनी पडती है और यह कही अधिक कठिन कार्य है।



कभी-कभी आशका व्यक्त की जाती है कि आज की तरुण पीढ़ी की रुचियों का दायरा कहीं जरूरत से ज्यादा व्यापक तो नहीं है, कि कहीं उसमें सतहीपन तो नहीं आ जाता, तैयार ज्ञान को निष्क्रिय रूप से आत्मसात् करने की आदत अपने आप में खोजने की आदत तो नहीं पड़ जाती। किंतु यह मुख्यतया शिक्षण के स्वरूप और विधियों पर निर्भर करता है। उच्च कक्षाओं के तरुण सामान्यतया शिक्षण प्रशिक्षण के अधिक सक्रिय स्वतन्त्र रूप ही पसद करते है और स्कूल को उनकी इन आवश्यकताओं को अवश्य तुष्ट करना चाहिए।

तकनीकी विषयों के बारे में ही ज्यादातर सोचने और मानविकी विषयों साहित्य कला आदि के महत्त्व को कम करके आकने की प्रवृत्ति भी गभीर चिंता का कारण बनी हुई है। ऐसी प्रवृत्ति का विरोध किया जाना चाहिए। बड़ी कक्षाओं के तरुण कला की विविध विधाओं में बहुत ही असमान रुचि दिखाते है। ललित कलाओं में अपेक्षया कम रुचि ली जाती है। सगीत के क्षेत्र में हल्का फुल्का सगीत और जाज प्राय अन्य सगीत विधाओं में रुचि को दबा डालते है। बहुत से तरुणों की पुस्तकों और फिल्मों के मूल्याकन की कसौटिया भी काफी अधकचरी होती है।

किंतु ऐसी बात नहीं कि ये सब समस्याए केवल तरुण आयु वर्ग से ही सबध रखती हों। ये समस्याए आयुगत उतनी नहीं है, जितनी कि सामाजिक है। यहां आयुगत अतरों से कहीं ज्यादा महत्त्व शिक्षा स्तरों और पारिवारिक परिस्थितियों में अतर रखते हैं।

मूल्य अभिविन्यास और सामाजिक क्रियाशीलता

आरभिक तरुणावस्था में सामाजिक क्रियाशीलता में उल्लेखनीय वृद्धि होती है। सोवियत तरुण-तरुणिया राष्ट्रीय और अतर्राष्ट्रीय घटनाओं में रुचि ही नहीं लेते, वे उनका रुख कम्युनिज्म निर्माण की दिशा में मोड़ने में सक्रिय योग देने को उत्सुक भी रहते हैं। किंतु तरुण लोग वयस्कों के श्रम जीवन में वास्तविक भाग एक निश्चित सीमा तक ही ले सकते है। १६०६ में जन्मी पीढ़ी के लगभग एक तिहाई लोग सोलह वर्ष की आयु तक पहुचते-पहुचते श्रम जीवन शुरू कर चुके थे और

तीसरे दशक में तो इस आयु के लगभग सभी तरुण देश के श्रम जीवन म सहभागी बन गये थे। आज उनके अधिकाश समवयस्क अभी पढ ही रहे है। यह वर्तमान तरुणो की बेहतर स्थिति का सूचक भी है और समाज के लिए एक वस्तुपरक आवश्यकता भी जिसका शिक्षित लोगो के बिना काम नही चल सकता। साथ ही इसका मतलब है कि इन लोगो म सामाजिक वयस्कता अधिक देर से आयगी।

वयस्कता की आत्मपरक कसौटिया बहुविध है जैसे शिक्षा की समाप्ति स्वतन श्रम जीवन का आरभ आर्थिक और रहन सहन सबधी आत्मनिर्भरता कानूनी वयस्कता सेना म सेवा विवाह और प्रथम सतान का जन्म। स्पष्ट है कि ये सब घटनाए एक साथ नही होती और इसलिए आदमी अपने को वयस्क एकदम नही अपितु शनै-शनै ही महसूस करने लगता है। फिर भी उपरोक्त कसौटियो म से सबसे मुख्य श्रम जीवन का आरभ है।

पढाई क सारे बोझ के बावजूद उच्च कक्षाओ के छात्र समाजोप योगी श्रम की ओर आकृष्ट होते हैं। उसमे उन्हे व्यावहारिक लाभ ही नही, अपनी क्षमता योग्यता के प्रदर्शन का महत्त्वपूर्ण साधन भी दिखायी देता है। गरमियो मे फार्मों मे काम करना अभियान दलो और निर्माण परियोजनाओ मे भाग लेना, कबाडी धातु एकत्र करना सार्वजनिक व्यवस्था बनाये रखने म मदद देना अपाहिजो और छोटी कक्षाओ क बच्चो की मदद करना—ये श्रम जीवन में तरुण लडके लडकियो के भाग लेने के कुछ ही तरीके है।

उच्च कक्षाओ के छात्रो की सामाजिक क्रियाशीलता की अपनी मानसिक विशेषताए है। तरुणसुलभ रूमानियत तरुणो को बडे काम हाथ मे लेने को प्रेरित करती है तरुण लोग छोटे मे बडे के अकुर को और वह भी औरो की मदद के बिना नही देख पाते। किंतु बडे सामाजिक कार्यों का फल प्राय तुरत नही, काफी समय गुजर जाने के बाद ही दिखायी देता है जबकि तरुण अपने कार्य, अपने श्रम के फल तुरत और स्वय देखना चाहता है। यदि वे नही दिखायी देते तो उत्साह जितनी आसानी से पैदा हुआ था, उतनी ही आसानी म मद भी पड जाता है और तब उदासीनता विरक्ति उसका स्थान ले लेती है। इसलिए सस्कारको ने निकट के और दूर के उद्देश्यो के सामजस्य के

बारे मे जो कहा था, उसे अवश्य ध्यान मे रखा जाना चाहिए।

रूमानियत और आदर्श की ललक तरुण को शक्ति, पराक्रम और शौर्य की अपेक्षा करनेवाले किसी भी नये कार्य के प्रति विशेषतः उत्साहशील बना देते हैं। इससे उच्च नैतिक आदर्श, आत्मत्याग साहसिकता और बुराई विरोध सिखाने के लिए उत्कृष्ट परिस्थितिया पैदा होती हैं। किंतु असामान्य या अनोखे का आकर्षण कभी कभी सामाजिक दृष्टि से हानिकर दिशाओ (जैसे अपनी निर्भीकता और अनोखेपन के प्रदर्शन के साधन के रूप मे गुडागर्दी) मे भी ले जाता है। इसके अलावा, तरुणो मे पायी जानेवाली चरमपथिता और बढे-चढे आत्ममूल्याकन तथा महत्त्वाकाक्षाए यथार्थ की सही, सयत समझ मे प्राय बाधक बनती है। तरुण कभी कभी बहुत समय तक किशोरसुलभ एकागिता, असहिष्णुता और दोटूकता से छुटकारा नही पा सकता। कुछ तरुणो मे एक प्रकार की अत्यालोचना के लक्षण दिखायी देते हैं वे दुनिया को मानो तटस्थ के तौर पर देखते है और भूल जाते है कि वे खुद भी उसी दुनिया की उपज हैं। ऐसे तरुण सबसे पहले अपनी आलोचना का निशाना उसे बनाते है जो उन्हे पसद नही और जो उनके आदर्श मे मेल नही खाते। ऐसे मे अध्यापको और प्रतिपालको का लक्ष्य यह होना चाहिए कि तरुण लोग न केवल कमियो को देखना बल्कि उन्हे दूर करने के लिए लडना भी सीखे।

तरुण लडके-लडकियो मे वयस्कता के विकास को कृत्रिम ढग से रोकने से उनमे बचकानियत की जड मजबूत बनती हैं, उदासीनता और उत्तरदायित्वहीनता घर कर जाती है जो कि बहुत ही बडे अवगुण है। जो बच्चे सरक्षण के आदी बन जाते है, वे उत्तरदायित्व वहन करने मे तब भी अयोग्य सिद्ध होते है जब कि यह बहुत जरूरी होता है। कभी-कभी ऐसा सरक्षण अविवेकपूर्ण विरोध की प्रवृत्ति पैदा करता है जिसकी एक अभिव्यक्ति गुडागर्दी और अपराधोन्मुखता मे पायी जाती है।

विश्व-दृष्टिकोण का निर्माण

आरंभिक तरुणावस्था व्यक्ति के विश्व-दृष्टिकोण के निर्माण का निर्णायक दौर है। यद्यपि विश्व-दृष्टिकोण की बुनियाद बहुत पहले

बचपन मे ही पड जाती है। शुरुआत निश्चित नैतिक मूल्य, आदते, राग-द्वेष आदि के व्यवहार मे प्रदर्शन से होती है, जो बाद मे चेतना का अग बनकर व्यवहार के निश्चित मानको और सिद्धातो मे ढल जाते है। किंतु विकास के अपेक्षया ऊंचे स्तर पर पहुचकर ही व्यक्ति को इन सिद्धातो को एक ऐसी मूल्य प्रणाली मे स्थापित करने की आवश्यकता अनुभव होती है, जो परिवेशी जगत को समझने ही नही, उसका मूल्यांकन करने और उसके प्रति अपना रुख निर्धारित करने की भी सभावना देती है। इस सारी प्रक्रिया के साथ मूल्यो म संशोधन परिवर्तन चलता रहता है, चाहे उनका सबध परिवेशी जगत के किन्ही पहलुओ मे हो या अपने ही व्यवहार से।

विश्व दृष्टिकोण के निर्माण का पहला सूचक ब्रह्माड के सर्वाधिक *सामान्य उसूलो और प्रकृति तथा मानव अस्तित्व के सार्विक नियमो* को जानने की रुचि का बढना है। यद्यपि कभी-कभी यह *उत्सुकता* बचकाना रूप ले लेता है फिर भी उसके मूल में इस *सारी विविध* जानकारी और तथ्यो का, जो अब तक संग्रह किया *जा चुका होता है*, सामान्यीकरण करने की बुनियादी *आवश्यकता ही निहित होती है*। समाजविज्ञान के पाठ, विशेष विषयो की *कक्षाएं और* दर्शनशास्त्र सबधी व्याख्यान व परिचर्चाए ज्ञान को *सुव्यवस्थित* बनाने म काफी सहायक हो सकते है।

विश्व-दृष्टिकोण सबधी खोजे यथार्थ के धरातल पर उतरकर जीवन विषयक योजनाओ का रूप ग्रहण कर लेती है। किशोरो के मामले म ये योजनाए अभी अस्पष्ट होती है और उन्ह स्वप्नो से अलग नही किया जा सकता। किशोर अपनी विभिन्न भूमिकाओ मे कल्पना करता है, उनके आकर्षण को तौलता है किंतु अतिम रूप से किसी एक का चुनने की हिम्मत नही कर पाता और जो सोचा है उसे साकार बनाने के लिए भी कुछ नही करता। तरुण जितना ही बडा होगा, चयन की आवश्यकता वह उतनी ही प्रबलता स अनुभव करेगा। अनेकानेक कल्पित अजीबोगरीब अथवा अमूर्त सभावनाओ मे से शनै शनै कुछ सर्वाधिक वास्तविक और स्वीकार्य विकल्प उभरने जात है, जिनके बीच से उसे किसी एक को चुनना होता है।

जीवन योजना एक व्यापक अवधारणा है। उसमे व्यक्तिगत आत्मनिर्धारण का सारा क्षेत्र – नैतिक चरित्र जीवन शैली, आकाक्षाओ का स्तर व्यवसाय का रूप आदि सब आ जाते है। स्पष्ट है कि बहुत सी बात अत्यत स्थूल रूप मे ही उभर पाती है। उच्च कक्षाओ के छात्र के लिए सब से महत्त्वपूर्ण तात्कालिक और कठिन पेशे का चयन होता है। मानसिक रूप से भविष्य की ओर उन्मुख और कल्पना म अधूरे चरणो को भी लाघ जाने को तैयार तरुण (विशेषत दसवी कक्षा के छात्र) के लिए स्कूल भीतर से बोझ सा बन चुका होता है स्कूली जीवन उस अस्थायी अवास्तविक और एक दूसरे अधिक सपन्न आकर्षित भी और थोडा सा भयभीत भी करनवाले वास्तविक जीवन की दहरी सा लगता है। वह भली भाति समझता है कि इस भावी जीवन की अतर्वस्तु सबसे पहले इसपर निर्भर होगी कि वह पशे का चयन सही कर पायेगा या नही। तरुण कितना भी लापरवाह और बेफिक्र क्यो न लगे पेशे क चयन की चिता उसे अवश्य हाती है।

सोवियत स्कूली छात्र, जो जानता भी नही कि प्रतिस्पर्द्धा और बरोजगारी क्या होती है पेशे को जीवन निर्वाह का साधन उतना नही मानता जितना कि अपने जीवन का उद्देश्य अथवा कार्य-क्षेत्र जिसम वह अपनी याग्यताओ का अधिकतम उपयोग कर सकता है।

किंतु कठिनाई यह है कि तरुण अभी अपने लिए आकर्षक पेशों की यथार्थ विशेषताओं को बहुत कम जानते हैं और इन पेशों में कामगर से जो अपेक्षाएं होती हैं, उन्हें तथा अपनी अतर्निहित क्षमताओं को भी ठीक तरह नहीं जानते। यही कई तरह के सामाजिक व मानसिक अतर्विरोधों को जन्म देता है। विभिन्न पेशों की आकर्षकता के कारणों के विषय में समाजशास्त्रियों द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर में तरुण लड़के और लड़कियां सर्वप्रथम स्थान श्रम के सृजनात्मक स्वरूप को देते हैं, दूसरा स्थान पेशे के सामाजिक महत्त्व को और तीसरा स्थान वेतन को। किंतु जो उन्हें पेशे का "सृजनात्मक स्वरूप" लगता है, वह वास्तव में लोगों के बीच उस पेशे की परंपरागत प्रतिष्ठा का प्रतिबिंब मात्र होता है। इसी प्रकार बहुत से लड़के-लड़कियां सेवा उद्योग में संबंधित पेशों के बारे में जो उपेक्षाभरा और नकारात्मक रवैया व्यक्त करते हैं, वह भी कुछ वयस्कों के रवैये का ही प्रतिबिंब है।

जीवित, सृजनक्षम, अपने जीवन का सक्रिय ढंग से निर्माण करनेवाले लोग हैं। जैसे जैसे वे वयस्क जीवन में, उसके सुख दुखों में शामिल होते जाते हैं वैसे वैसे उनमें वयस्कता आती जाती है। पीढ़ियों के सातत्य का अर्थ यही है कि पुरानी पीढ़ी नयी पीढ़ी को समाज की यथार्थ समस्याओं से परिचित कराये, उनका सरलीकरण न करे और छिपाये भी नहीं। तरुणों को अपने से बड़ों की सहायता और मार्गदर्शन, उनसे ज्ञान और अनुभव सीखने की जरूरत होती है और सदा रहेगी। पालन उतना ही ज्यादा कारगर होगा जितना ज्यादा उसमें तरुणावस्था की विशेषताओं को ध्यान में रखा जायेगा और जितना ज्यादा वह तरुणों की आकांक्षाओं तथा क्रियाशीलता पर अवलंबित होगा।

अध्याय ७

अधिगम का सारतत्त्व और शिक्षण के मनोवैज्ञानिक आधार

§१ अधिगम का सारतत्त्व और रूप

अधिगम की सामान्य सकल्पना

आयुगत विकास की प्रक्रिया म बच्चे के व्यवहार तथा सक्रियता म सभी आधारभूत परिवर्तन अधिगम स सबध रखते है।

अधिगम यानी सीखने की प्रक्रियाओ का सारतत्त्व क्या है और वे किस पर आधारित होती है? कुछ सामान्य उदाहरण द। छात्र नही जानता कि सागर म ज्वार क्यो उठते है। उस समझाया जाता है। इसके बाद वह सामग्री को पुस्तक मे पढकर दोहराता है और जान जाता है कि ज्वार क्यो उठत हैं। तब कहते हैं कि छात्र न सामग्री को हृदयगम कर लिया है। आदमी स्केटिंग नही जानता, किंतु अभ्यास करन लगता है और जान जाता है। उसन स्केटिंग सीख ली है। उच्च शिक्षा सस्था का विद्यार्थी पहले वर्ष मे अवकल समीकरण के सवाल हल करना नही जानता, किंतु तीसरे वर्ष म जान जाता है, यानी उसन अवकल समीकरण क सवाल हल करन की रीतिया सीख ली है। अधिगम के लिए बाह्य (शारीरिक) और आभ्यतरिक (मानसिक) सक्रियता अथवा व्यवहार मे ऐसे परिवर्तन आवश्यक है जिनकी बदौलत कोई निश्चित लक्ष्य पाया जा सकता है। दूसरे शब्दो म, अधिगम का अर्थ है **बाह्य और आभ्यतरिक सक्रियता (अथवा व्यवहार) मे लक्ष्यानुरूप परिवर्तन।**

किंतु सक्रियता अथवा व्यवहार का हर कोई परिवर्तन चाहे वह कितना ही लक्ष्यानुरूप क्यो न हो, अधिगम नही होता। उदाहरण के लिए, आदमी जब किसी अधेरे कमरे मे घुसता है, तो कुछ नही देख पाता। शनै शनै अधेरा मानो छट जाता है और आदमी वस्तुओ की

आकृतिया पहचानने लगता है। यह आखो की सवेदनशीलता म स्वत वृद्धि के परिणामस्वरूप होता है और दृष्टि क अधेरे का आदी बनने (दृष्टि अनुकूलन) स सबध रखता है। आख की सक्रियता के एसे परिवर्तन को अधिगम नही कहा जा सकता। मनुष्य दृष्टि अनुकूलन सीखता नही -- वह उसके दृष्टि तत्र का एक जन्मजात शरीरक्रियात्मक गुण है।

इसका अर्थ हुआ कि सक्रियता अथवा व्यवहार का कोई लक्ष्यानुरूप परिवर्तन अधिगम कहलाये इसके लिए इस परिवर्तन को शरीर क किन्ही जन्मजात गुणो का नही अपितु एक निश्चित पूर्वगामी क्रिया कलाप का परिणाम होना चाहिए। अधिगम मे थकान, चोट, बाह्य यात्रिक प्रभाव भूख प्यास पीडा, प्रगाढ अनुभूति, रासायनिक पदार्थो का प्रभाव और इसी तरह शारीरिक विकास से प्रत्यक्षत सबधित व्यवहार परिवर्तन नही शामिल किये जाते। सक्रियता अथवा व्यवहार म अल्पकालिक परिवर्तन भी अधिगम की कोटि मे नही आते।

इस प्रकार **अधिगम सक्रियता का वह स्थायी, लक्ष्यानुरूप परिवर्तन है, जो पूर्वगामी सक्रियता के कारण आता है और सीधे जन्मजात शरीरक्रियात्मक प्रतिक्रियाओ का फल नहीं होता।**

अधिगम से सबधित अनेक आधुनिक बुर्जुआ सिद्धातो (व्यवहारवादी सिद्धातो) क अनुसार मनुष्य के अधिगम का स्वरूप, नियम परिस्थितिया और तरीके उच्चतर प्राणियो के अधिगम से सादृश्य रखते है। मानस की भूमिका स इनकार करते हुए ये यात्रिक सिद्धात मानसिक प्रक्रियाओ को शरीरक्रियात्मक प्रक्रियाओ का और मनुष्य की सचेतन सक्रियता को परावर्ती व्यवहार का समतुल्य बताते हैं। उनक मत म मनुष्य का अधिगम, जैसा कि जानवरो के मामले म होता है किन्ही निश्चित स्थितियो म सबल, दड और पुरस्कार की बदौलत अर्थात आवश्यकताओ की तुष्टि अथवा अतुष्टि की बदौलत कुछ निश्चित उद्दीपना का ग्रहण करन और कुछ निश्चित प्रतिक्रियाए दिखाने का शरीरक्रियात्मक प्रक्रिया है।

एस उपागम के जरिये जानवरो क साथ किये गये प्रयोगो क परिणाम सीधे शिक्षा मनोविज्ञान क क्षेत्र म लागू किये जाते हैं। इस प्रकार क सिद्धाता क प्रतिपादक मनुष्य और जानवरो म अतर कुछ अव्याप्ती

विशेषताओ मे ही देखत हैं। उदाहरण के लिए इसमे कि मनुष्य मे शुद्ध गतिप्रेरकीय प्रतिक्रियाओ के अलावा शाब्दिक प्रतिक्रियाए भी होती हैं और उसे गौण – शाब्दिक और प्रतीकात्मक – प्रेरक भी प्रभावित कर सकते हैं अथवा मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताओ के अलावा गौण आवश्यकताए – महत्त्वाकाक्षा स्वार्थ आदि – भी हो सकती है।

बुर्जुआ मनोविज्ञानवेत्ताओ का एक अन्य वर्ग इस बात पर जोर देत हुए कि मनुष्य की मानसिक प्रक्रियाए शरीरक्रियात्मक प्रक्रियाए नही हैं बिल्कुल दूसर ही चरम पर चला जाता है। ये वैज्ञानिक मनुष्य के अधिगम के जैविक शरीरक्रियात्मक आधार को ठुकराकर उसे मात्र सीखनेवाले के मन म घट रही प्रक्रियाओ तक सीमित कर देते है। फलस्वरूप यह समझने की सभावना लुप्त हो जाती है कि सीखनेवाले के मानस सक्रियता और व्यवहार मे कोई निश्चित परिवर्तन क्यो आते है। तब केवल यही कहा जा सकता है कि सीखनेवाले न कोई बात समझी है अथवा नही सीख ली है अथवा नही और इसका स्पष्टीकरण देन के लिए भी इलहाम बुद्धि विवेक आदि का ही सहारा लिया जा सकता है। इस प्रकार के सिद्धात प्रत्ययवादी सिद्धात है जो अधिगम की परिघटनाओ के वैज्ञानिक विवेचन के लिए सर्वथा अनुपयुक्त ठहरते हैं।

मानव अधिगम की प्रक्रिया की विशेषताए

वास्तव मे मनुष्य और जानवरो की उच्चतर तत्रिका सक्रियता की शरीरक्रियात्मक प्रक्रियाओ और अधिगम तत्रो की साम्यता इस तथ्य के विरुद्ध नही जाती कि मनुष्य और जानवरो की मानसिक सक्रियताओ और अधिगम के स्वरूपो मे गुणात्मक अतर है। कठिनाई इसलिए पैदा होती है कि कुछ बुर्जुआ मनोविज्ञानवेत्ता अधिगम के शरीरक्रियात्मक आधारो की परिभाषा गलत ढग स करत है और उसमे उच्चतर तत्रिका सक्रियता और मस्तिष्क की प्रतिबिबनात्मक (परावर्ती) और नियामक भूमिकाओ को ध्यान म नही रखते।

सबसे पहले तो यही ठीक नही है कि शरीर शुद्ध उद्दीपना और

र गरीर पर बाह्य प्रभाव (वाग, ध्वनिक अथवा विद्युत चुवकाय
न) भी स्वय आत्मसात् नही हो मकत। डड का अस्तित्व कुत्त क
तथ्य (उद्दीपन) वन इसके लिए उसका उस देखना अथवा उसक
को महसूस करना जरूरी है। कुत्त क दौडन की वजह प्रत्यक्ष रूप
त्वय डडा नही हाता। दूसरे गब्दो म, डड क गुणधर्मो और कुत्ते
उसक प्रभावो का गारीर (किन्ही इद्रियो अथवा मस्तिष्क) का
ी तत्रिका त्रियाओ म प्रतिबिबित होना चाहिए। इसका मतलब
हुआ कि आत्मसात्करण स्वय उद्दीपक का नही, अपितु उसक
सिफ प्रतिबिब का होता है।

अपनी बारी म कुत्त की पेगिया और भीतरी अग सीधे ही डड
शक्ल पर प्रतिक्रिया नही कर सकत। सकुचित होन, कार्य प्रणाली
न आदि के लिए उन्ह गतियो का कार्यक्रम सप्रेषित करनवाल
रूप आदश मिलन चाहिए। डडे की शक्ल सीध पेगियो का
य नही बनाती अपितु कुत्ते क मस्तिष्क मे वही बननेवाले पेगिया
सकुचन क एक निश्चित कार्यक्रम को जन्म देती है।

इस प्रकार अधिगम के शरीरक्रियात्मक सारतत्त्व की सही परिभाषा
निरूपित की जा सकती है अधिगम केंद्रीय तत्रिका सक्रियता द्वारा
उद्दीपको के प्रतिबिबो का और उद्दीपन की स्थितियो एव
सबधित कुछ निश्चित प्रतिक्रियाओ के कार्यक्रम का नि
है।

इस परिभाषा के दृष्टिगत जानवरो और मनुष्यो के तो क्या,
भिन्न जानवरो के भी अधिगम की प्रक्रियाओ मे न केवल साम्य,
तु गुणात्मक अतर भी होते है। वास्तव मे बाह्य जगत की वस्तुए-
नक – एक ही हो सकती है किंतु मनुष्य के मामले म और, मिसाल
लिए कुत्ते के मामले मे वे भिन्न-भिन्न प्रकार स प्रतिबिबित होगी।
य के मामले म इस प्रक्रिया म सामान्यीकरण अमूर्तन और कारण
लक्ष्यमूलक मूल्यपरक और अन्य सबधो की पहचान भाग लते
यानी चितन भाग लेता है। कुत्ते के मामले म ऐसा नही होता।
लिए नही कि कुत्ते मे सोचने की गक्ति नही है बल्कि सबसे पहले

आसानी से देखा जा सकता है कि इस प्रकार से परिभाषित किये जाने पर अधिगम अपने स्वरूप, अतर्वस्तु और परिणाम की दृष्टि से जानवरो के अधिगम से बहुत भिन्न है। मनुष्य के अधिगम और जानवरो के अधिगम के बीच विद्यमान इस अतर को व्यक्त करने के लिए विभिन्न सकल्पनाए प्रयोग की जाती हैं। यदि अधिगम निश्चित उद्दीपको तथा प्रतिक्रियाओ के आत्मसात्करण मे प्रकट होता है, तो उसे अधिगम का परावर्ती स्तर कहते है। यदि वह निश्चित जानकारियो और क्रियाओ (तथा आचरण) के आत्मसात्करण मे प्रकट होता है, तो तब उसे सज्ञानात्मक स्तर कहा जाता है।

सज्ञानात्मक स्तर पर अधिगम की परिस्थितियो मे गुणात्मक परिवर्तन आ जाता है।

इन बुनियादी अतरो मे से पहले का उल्लेख रूसी शरीरक्रियाविज्ञानी उच्चतर तत्रिका सक्रियता विषयक सिद्धात के प्रणेता इ० प० पाव्लोव (१८४८ १९३६) ने ही कर दिया था। मनुष्य की उच्चतर तत्रिका सक्रियता पर यथार्थ सकेतो—स्वय वस्तुओ के प्रभावो—के अलावा एक अन्य प्रकार के सकेत भी प्रभाव डालते हैं। ये है शब्द। उदाहरण के लिए यदि मनुष्य मे बिजली के झटके से युक्त प्रकाश का अनुकूलित प्रतिवर्त (उगली हटाना) विकसित हो जाये तो स्वय 'प्रकाश' शब्द मनुष्य मे वही प्रतिवर्त पैदा कर देगा यानी उगली अनजाने ही हट जायेगी। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य के मामले मे सकेतो का जो कि सबध बना सकते हैं, प्रभाव-क्षेत्र कही व्यापक है। वस्तुओ और गुणधर्मों के बदले उनके द्योतक शब्द सोपाधिक सकेतो के तौर पर काम कर सकते हैं। अधिगम के दौरान न केवल 'वस्तु—वस्तु' सबध बल्कि 'शब्द—वस्तु', 'वस्तु—शब्द' और 'शब्द—शब्द' सबध भी पैदा होते है यानी शब्द बाह्य जगत के यथार्थ प्रभावो के समान ही मनुष्य के अधिगम और क्रियाओ का सचालन करने लग जाता है।

सकेत की भूमिका भी काफी बदल जाती है। जानवरो के मामले मे उसका सकेतात्मक स्वरूप होता है यानी वह निश्चित शारीरिक आवश्यकताओ की तुष्टि करता है। किंतु मनुष्य के मामले मे अनगिनत

समाजजन्य आवश्यकताएं पैदा हो जाती है टेलीविजन और अच्छी पाशाक की आवश्यकता म लेकर मामाजिक मान्यता की आवश्यकता अथवा अपने जीवन भलाई सौदय सत्य आदि के बारे म सोचने की आवश्यकता तक। हर सबन (शब्द वस्तु घटना) जो भिन्न आवश्यकताओ की तुष्टि करनेवाली क्रियाओ अथवा आचरण मे सवधित है सबल बन सकता है।

मनुष्य के मामले म क्रियाशीलता के जिसकी मदद से क्रियाओ के नये कार्यक्रम खोज जाते है और बनते है स्वरूप म भी बुनियादी परिवर्तन आ जाता है। पहले तो मनुष्य की क्रियाशीलता का **उद्देश्य अभीप्सित भविष्य के बौद्धिक बिंब के रूप** मे विद्यमान रहता है। दूसरे, क्रियाओ के कायक्रम का निमाण महज पूर्वाभासकारी प्रतिक्रियाओ और प्रयत्न त्रुटि पद्धति के जरिये उनके सशोधन के रूप म नही अपितु क्रियाओं के सचेतन आयोजन और उनके परिणामो की पूर्वकल्पना के रूप मे प्रकट होता है। तीसरे अधिगम म सहायक पुरस्कार का काम केवल किन्ही आवश्यकताओ (चाहे वे गौण ही क्यो न हो) की तुष्टि नही, बल्कि स्वय इस बात की चेतना भी कर सकती है कि उद्देश्य पा लिया गया है।

अधिगम का बौद्धिक स्तर

अतत मनुष्य के मामले मे यथाथ जगत के **सबधो का दायरा**, जिसे अधिगम के परिणामस्वरूप आत्मसात किया जाता है इन सबधो के **प्रतिबिंबन के रूप**, अधिगम के **उद्देश्य**, **आत्मसात्कृत क्रियाओ के प्रकार** और उनकी सहायता से निष्पादित **कृत्यको का स्वरूप** भी आमूल बदल जाता है।

जैसा कि बहुसख्य प्रयोग दिखाते है जानवर दिक और काल म *वस्तुओ के कुछेक भौतिक सबधो को और ऐंद्रिक सबधो, यानी वस्तुओ* द्वारा उत्पन्न अनुभूतियो की साम्यता और भेद को ही जान और आत्मसात कर पाते है। किंतु मनुष्य **तार्किक** सबधो (विशिष्ट और सामान्य के मूत और अमूर्त के रूप और जाति के आधारिका और निष्कर्ष के सबधो) को और **कार्यात्मक सबधो** (उद्देश्य – साधन कारण –

परिणाम, परिमाण – गुण, क्रिया – फल) को भी जान और आत्मसात् कर लेता है।

सज्ञानात्मक अधिगम के ऐसे स्तर को, जिसमे वस्तु और क्रियाओ के कतिपय एद्रिक मूर्त सवध नही, अपितु सामान्य वस्तुपरक सबध, सरचनाए और यथार्थ अथवा सन्नियता के सबध प्रतिबिबित होते हैं, **बौद्धिक अधिगम** कहा जाता है। इस प्रकार के सवध ऐद्रिक नही होते। वे अनुभूतियो म सीधे प्रतिबिबित नही होते। उनके प्रतिबिबन के लिए मनुष्य ने वास्तविकता के प्रतिबिबन का एक नया, विशेष रूप खोजा है जिसे जानवर नही जानते। यह है सकल्पनाए। जैसा कि ल० स० विगोत्स्की ने दिखाया था, सकल्पनाए वस्तुओं के इद्रियगोचर लक्षणो का उनके बाह्य सामीप्य अथवा साम्य के आधार पर सामान्यीकरण नही है। ऐसे सामान्यीकरणो को अधकचरी सकल्पनाए ही कहा जा सकता है जिनसे बच्चो का चितन आरभ होता है और जिन तक रोजमर्रे का प्रकट तथा मूर्त चितन सीमित रहता है। असली वैज्ञानिक सकल्पनाए वस्तुओ और परिघटनाओ के महत्त्वपूर्ण वस्तुपरक सबधो सरचनाओ को प्रतिबिबित करती हैं। व मानो वस्तुआ के स्थूल दिक तथा काल सबधी और ऐद्रिक सबधो से भी गहरे पैठकर इन स्थूल बाह्य सवधो क सार को व्यक्त करती हैं।

इस प्रकार रोजमर्रे की अधकचरी सकल्पना 'प्रकाश' किसी दीप्तिमान अधकार की विलोम चीज की, उस सामान्य की, जो प्रकाश से सबधित प्रत्यक्षो को सयुक्त बनाता है, सामान्यीकृत धारणा होती है। किंतु ४०० से ८०० मिलिमाइक्रोन दैर्घ्यवाली विद्युत चुबकीय तरगा जैसे प्रकाश की असली वैज्ञानिक सकल्पना मे कुछ भी स्थूल तत्त्व नही होता। वह उन यथार्थ प्रक्रियाओ की सरचनाओ को प्रतिबिबित करती है जो इस कल्पना मे सयुक्त हैं।

मनुष्य ने इन परिघटनाओ एव वस्तुओ के ऐसे यथार्थ सबधो, सरचनाओं और गुणधर्मो को द्योतित करने के लिए एक विशेष सकेत प्रणाली बनायी है। यह भाषा है यानी शब्द और वाक्यो म उन्हे परस्पर सबद्ध करने की रीतिया। इस प्रकार शब्दो भाषा के रूप मे लोगो को एक ऐसा साधन उपकरण मिला है जो सज्ञान और अधिगम को एद्रिक अनुभव और मूर्त रूप स प्रत्यभित अलग-अलग वस्तुओ म

चिपके रहने से छुटकारा मिलता है और मानस को वस्तुओ के अपने आपमे सामान्य सबधो तथा सरचनाओ को प्रतिबिंबित व अकित करने की सभावना प्रदान करता है। किंतु शब्द किसी एक व्यक्ति द्वारा नही, अपितु सारे समाज द्वारा (बेशक कुछ लोगो की रचनाओ मे) बनाये जाते है। वे सारे समाज द्वारा सचित ज्ञान और अनुभव को प्रतिबिंबित करते हैं। इसलिए मनुष्य द्वारा शब्दो से द्योतित सकल्पनाओ का आत्मसात्करण साथ ही मानवता द्वारा अपनी सक्रियता के दौरान सचित ज्ञान का आत्मसात्करण भी है। शब्दो मे समाज का वस्तुजगत के प्रति रवैया भी व्यक्त होता है।

इस प्रकार ज्ञान अपने उच्चतर स्तर पर शब्दो और शब्दसमूहो मे अकित **सकल्पनाओ और सकल्पना सबधो** का रूप लेता है। ज्ञान का अधिगम इस स्तर पर **वैज्ञानिक सकल्पनाओ के अधिगम** के रूप मे सामने आता है।

मनुष्य को उन वस्तुपरक सबधो का ज्ञान कैसे होता है जिन्हे प्रत्यक्षत अनुभव नही किया जा सकता? इसका उत्तर सज्ञान का द्वद्वात्मक भौतिकवादी लेनिनीय सिद्धात देता है मनुष्य को इन सबधो का ज्ञान **व्यवहार से, अपनी सक्रियता के जरिये** होता है। वस्तुओ पर काम करते हुए वह उन्हे अपने प्रच्छन्न महत्त्वपूर्ण सबध उदघाटित करने के लिए बाध्य करता है। खास बात यह है कि मनुष्य निश्चित क्रियाए वस्तुओ पर ही नही कर सकता, अपितु अपने मानस की अत र्वस्तु – धारणाओ और सकल्पनाओ – पर भी कर सकता है। ऐसी प्रात्ययिक क्रियाए, जो स्वय वस्तुओ पर व्यावहारिक क्रियाओ से भिन्न है **बौद्धिक अथवा मानसिक क्रियाए** कहलाती हैं। क्रियाओ को प्रत्यय के धरातल पर लाने और उसमे धारणाओ तथा सकल्पनाओ से काम लेने की प्रक्रिया **चितन** के जरिए सपादित की जाती है। चितन सदा किसी निश्चित प्रश्न के समाधान की ओर लक्षित होता है।

इस प्रकार छात्र सकल्पनाए बना सके और उनसे सफलतापूर्वक काम ले सके, इसके लिए अधिगम का एक और रूप आवश्यक है – **वैज्ञानिक चितन।**

मनुष्य की समस्त बौद्धिक सक्रियता का अतिम लक्ष्य उत्पादक श्रम तथा सामाजिक व्यवहार द्वारा उसके सामने पेश की गयी विभिन्न

जटिल समस्याओं को सफलतापूर्वक हल करना होता है। प्रकृति और समाज में मनुष्य की लक्ष्यानुरूप सक्रियता तथा व्यवहार को केवल ऐसी हालत में ही नियमित किया जा सकता है। इस लक्ष्य को पाने के लिए ज्ञान और संकल्पनाओं के उपयोग के जरिये प्राप्त प्रात्ययिक समाधानों को ठोस वस्तुओं, स्थितियों और कार्यभागों के अनुरूप व्यावहारिक क्रियाओं में साकार बनाना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में जो कार्य किया जा रहा है, उसमें ज्ञान को लागू करना, ठोस कृत्यकों के निष्पादन के लिए ज्ञान से लाभ उठाना, यानी योग्यता-अर्जन भी आवश्यक है।

इस प्रकार बौद्धिक अधिगम अपने सर्वोच्च रूप में पूर्ण तभी कहा जा सकता है, जब उसमें योग्यता-अर्जन भी शामिल हो।

अधिगम का बहुस्तरीय स्वरूप

उल्लेखनीय है कि मनुष्य में अधिगम के उच्चतर प्ररूपों (संज्ञानात्मक प्ररूपों) के साथ-साथ परावर्ती प्ररूप के तंत्र भी सक्रिय रहते हैं। परावर्ती अधिगम एक स्वतः और अजाने संपन्न होनेवाली प्रक्रिया है। उसके तंत्र बाल्यकाल में विशेषतः बड़ा महत्त्व रखते हैं, जब बुनियादी संवेदी विभेदन (रंगों, आकृतियों, ध्वनियों, आदि को पहचानने की क्षमता), गतिप्रेरक क्रियाएं (चलना, बोलना, लिखना) और संवेदी-गतिप्रेरक समन्वय (वस्तुओं तक पहुंचना और अन्यत्र रखना, चलते हुए बाधाएं लांघना, बोलकर पढ़ना, आदि) विकसित होते हैं। किंतु वे मनुष्य के शेष जीवन में भी कार्य करते रहते हैं। उदाहरण के लिए, हमें इसका सचेत बोध विरले ही होता है कि वस्तुओं को हम किन लक्षणों से पहचानते हैं अथवा किसी कार्य को करते हुए हम किन पेशियों से और कैसे काम लेते हैं। इससे स्पष्ट है कि संवेदी और प्रेरक विभेदन, सामान्यीकरण और वर्गीकरण की परावर्ती प्रक्रियाएं प्रत्यक्षों, धारणाओं और विभिन्न प्रेरक कार्यक्रमों के निर्माण में भाग लेते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य का अधिगम एक जटिल बहुस्तरीय प्रक्रिया है, जो परावर्ती स्तर पर ही संपन्न होती है और संज्ञानात्मक स्तर पर भी।

परावर्ती स्तर पर यह प्रक्रिया काफी हद तक अजाने, स्वतः

चलनेवाली प्रक्रिया है। उसके दौरान खोजे की जाती है, प्रयत्न होते है, त्रुटिया होती है। सबल और पुरस्कार के जरिये गतियों तथा क्रियाओ के ऐंद्रिक सकेतो का सामान्यीकरण, विभेदीकरण और वर्गीकरण उसके आधार का काम करते है। आवश्यकताए और सवेग इन सकेतो का नियत्रण करते ह। परावर्ती स्तर मे दो प्रकार के अधिगम शामिल है **सवेदी** अधिगम, जिसके दौरान विभिन्न ऐंद्रिक सकेतो और प्रत्यक्षो के बीच विभेद बनता है और प्रेक्षण, मालूम करने और पहचानने की प्रक्रियाए विकसित होती हैं, **गतिप्रेरक** अधिगम, जिसके दौरान गति निष्पादन की रीतियो का चयन तथा सघटन, लक्ष्यानुरूप गतिप्रेरक कार्यक्रमो का आत्मसात्करण, उनका विभेदीकरण, सामान्यीकरण और वर्गीकरण किया जाता है। इन दोनो का मश्लिप्ट रूप **सवेदी गतिप्रेरक अधिगम** है, जिसके दौरान प्रत्यक्षो और धारणाओ के नियत्रण मे लक्ष्यानुरूप क्रियाओ के निष्पादन की स्वत क्रिय रीतिया सीखी जाती है। अधिगम के इन तीनो तरीको के परिणाम **सवेदी, गतिप्रेरक और सवेदीगतिप्रेरक** दक्षताओ के रूप मे प्रकट होते है।

अधिगम के सज्ञानात्मक स्तर की विशेषता है वास्तविकता के महत्त्वपूण गुणधर्मो तथा सबधो तथा लक्ष्यानुरूप क्रिया रीतियो की सचेतन रूप से खोज, विश्लेपण, चयन, सामान्यीकरण तथा स्थिरीकरण और इन गुणधर्मो तथा सबधो का इस्तेमाल।

प्रयोग और प्रेक्षण, अवबोध और मनन, अभ्यास और आत्मनियत्रण—ये अधिगम की क्रमिक सीढिया है। इनका नियमन सचेतन ढग से अपने सामने रखे गये उद्देश्य और कार्यभार करते हैं। सज्ञानात्मक स्तर मे अधिगम के दो उपस्तर भी पाये जाते है। उनम पहला है ऐंद्रिक अनुभव के आधार पर **व्यावहारिक अधिगम**। उसमे उन वास्तविक जानकारियो का अर्जन और व्यावहारिक सक्रियाओ एव क्रियाओ का सीखना शामिल है जो कुछ वर्गो के कृत्यको के निष्पादन के लिए आवश्यक होती है। इस उपस्तर पर धारणाओ और व्यावहारिक योग्यताओं का निर्माण होता है। सज्ञानात्मक अधिगम का दूसरा अधिक ऊचा उपस्तर है **बौद्धिक अधिगम**, यानी जब मनुष्य वस्तुजगत के यथार्थ गुणधर्मो से सबधित सामान्यीकृत सैद्धातिक ज्ञान को और उन प्रात्ययिक सक्रियाओ (एव क्रियाओ) को हृदयगम करता है जो कुछ ग्राम

प्रकार के कृत्यों का निष्पादन करते हुए वस्तुजगत के इन गुणधर्मों की पहचानने एवं उपयोग में लाने के लिए आवश्यक हैं। इसके अनुरूप इस उपस्तर में संकल्पनाओं का अधिगम, चिंतन का अधिगम और सैद्धांतिक योग्यताओं का अधिगम शामिल किये जाते हैं।

कहना न होगा कि अधिगम के उपरोक्त स्तरों और रूपों का विभाजन कुछ हद तक कृत्रिम है। व्यावहारिक अधिगम के दौरान वे सभी घनिष्ठ रूप से अंतर्गुंफित और परस्पर संबद्ध रहते हैं। फिर भी उनमें से प्रत्येक की कुछ पृथक विशेषताएं होती हैं। इसके अलावा वे स्तर अधिगम की विकासात्मक सीढ़ियों के रूप में भी काम करते हैं। बच्चा जितना ही अल्प आयु का होगा, अधिगम के निम्नतर स्तर और रूप उतनी ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायेंगे। इसी तरह बच्चा जितना ही बड़ा होगा अधिगम के उच्चतर स्तर और रूप उतना ही ज्यादा महत्त्व ग्रहण करते जायेंगे।

किंतु पूर्ववर्ती स्तर लुप्त नहीं हो जाते, अपना महत्त्व नहीं खो देते। वे केवल अधिक ऊंचे प्रकार के अधिगम के मातहत हो जाते हैं और उसकी संरचना में शामिल होना शुरू कर देते हैं। उदाहरणार्थ, संज्ञानात्मक अधिगम के सर्वोच्च स्तरों में (जैसे उच्च गणित पढ़ते हुए) उसमें वास्तविक तथ्यों का आत्मसात्करण भी शामिल होता है और कुछ खास नयी व्यावहारिक क्रियाओं को हृदयगम करना भी। यहां तक कि उसमें नये प्रत्यक्षों (आकृतियों, रेखा चित्रों, चिह्नों) और गतिप्रेरक विभेदनों (फार्मूले लिखना, वक्र खींचना) का विकास भी सम्मिलित रहता है।

§२ शिक्षा सक्रियता का मनोविज्ञान

अधिगम स्वतःस्फूर्त हो सकता है, अन्य लोगों और परिवेशी विश्व के साथ मनुष्य के संसर्ग और अन्योन्यक्रिया का परिणाम हो सकता है। आदमी संयोगवशात्—पुस्तकों, पत्रिकाओं, रेडियो व टेलीविजन कार्यक्रमों, अन्य लोगों की बातों, स्वयं अपने प्रेक्षणों, आदि से—निश्चित सूचनाएं और जानकारियां प्राप्त कर सकता है। विभिन्न प्रकार के क्रियाकलाप में भाग लेकर और विभिन्न वस्तुओं, उपकरणों, यंत्रों के

साथ क्रियाएं करने का अनुभव संचित करके मनुष्य अनियोजित रूप से कोई दक्षताएं और योग्यताएं अर्जित कर सकता है। उदाहरण के लिए प्रयत्न, अनुकरण, परामर्श, निर्देश व पठन आदि के आधार पर मनुष्य फोटोग्राफी, टेप-रिकार्डिंग, ड्राइविंग, फर्नीचर तथा बिजली उपकरणों की मरम्मत सीख सकता है, उनमें दक्ष बन सकता है। ठीक इसी तरह काफी हद तक स्वतन्त्र रूप से बच्चा भी अपने अंगों की गतियों को समन्वित करना सीखता है और व्यवहार संबंधी दक्षताएं हासिल करता है।

इस प्रकार की अन्योन्यक्रिया के फलस्वरूप होनेवाले अधिगम को सायोगिक अधिगम कहा जा सकता है। किंतु अधिगम की स्थितियां विशेष रूप से भी बनायी व संगठित की जा सकती हैं। इस हालत में अधिगम लक्ष्यानुरूप, संगठित और दिशापरक होगा। अधिगम के इस प्रकार लक्ष्योन्मुख संगठन को शिक्षण कहते हैं। ऐसे संगठन की एक आम मिसाल स्कूल है। किंतु शिक्षण स्कूल में ही नहीं दिया जाता। वह किंडरगार्टन में भी दिया जाता है, जब बच्चा को सिखाने के लिए, कपड़ा को ठीक से रखना, तसवीर बनाना, वगैरह सिखाते हैं अथवा परिवार में, जब बच्चे को दांत साफ करना सिखाते हैं अथवा समूह में, जब बच्चे मिल जुलकर खेलने के नियम सीखते हैं।

शिक्षण की संकल्पना

शिक्षण क्या है? आम तौर पर इसका उत्तर कुछ यों दिया जाता है, शिक्षण छात्र को कुछ निश्चित जानकारियां देने, योग्यताएं और दक्षताएं सिखाने को कहते हैं। पहली नजर में यह परिभाषा सही ही है। वास्तव में शिक्षण से पहले मनुष्य में किसी क्षेत्र अथवा विषय में संबंधित ज्ञान, योग्यताओं और दक्षताओं का अभाव होता है। शिक्षण के बाद वे प्रकट हो जाते हैं। वे कहां से आते हैं? अध्यापक से जो ये जानकारियां, योग्यताएं और दक्षताएं जानता है और उन्हें छात्र को अंतरित करता है। अंतरण की यह प्रक्रिया ही शिक्षण है। किंतु प्रत्यक्षों, धारणाओं, संकल्पनाओं और विचारों की भांति ज्ञान, योग्यताएं और दक्षताएं भी कोई भौतिक वस्तु तो हैं नहीं कि उन्हें

प्रकार के कृत्यको का निष्पादन करते हुए वस्तुजगत के इन गुणधर्मो को पहचानने एव उपयोग मे लाने के लिए आवश्यक है। इसके अनुरूप इस उपस्तर मे सकल्पनाओ का अधिगम, चितन का अधिगम और सैद्धांतिक योग्यताओ का अधिगम शामिल किये जाते है।

कहना न होगा कि अधिगम के उपरोक्त स्तरो और रूपो का विभाजन कुछ हद तक कृत्रिम है। व्यावहारिकत अधिगम के दौरान वे सभी घनिष्ठ रूप से अतर्गुंफित और परस्पर सबद्ध रहते हैं। फिर भी उनमे से प्रत्येक की कुछ पृथक् विशेषताए होती है। इसके अलावा ये स्तर अधिगम की विकासात्मक सीढियो के रूप मे भी काम करते हैं। बच्चा जितना ही अल्प आयु का होगा, अधिगम के निम्नतर स्तर और रूप उतनी ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायेगे। इसी तरह बच्चा जितना ही बडा होगा अधिगम के उच्चतर स्तर और रूप उतना ही ज्यादा महत्त्व ग्रहण करते जायेगे।

किंतु पूर्ववर्ती स्तर लुप्त नही हो जाते, अपना महत्त्व नही खो देते। वे केवल अधिक ऊचे प्रकार के अधिगम के मातहत हो जाते हैं और उसकी सरचना मे शामिल होना शुरू कर देते है। उदाहरणार्थ, सज्ञानात्मक अधिगम के सर्वोच्च स्तरो म (जैसे उच्च गणित पढते हुए) उसमे वास्तविक तथ्यो का आत्मसात्करण भी शामिल होता है और कुछ खास नयी व्यावहारिक क्रियाओ को हृदयगम करना भी। यहा तक कि उसमे नये प्रत्यक्षो (आकृतियो, रेखा चित्रो, चिह्नो) और गतिप्रेरक विभेदनो (फार्मूले लिखना वक्र खीचना) का विकास भी सम्मिलित रहता है।

§२ शिक्षा सक्रियता का मनोविज्ञान

अधिगम स्वत स्फूर्त हो सकता है अन्य लोगो और परिवेशी विश्व के साथ मनुष्य के ससर्ग और अन्योन्यक्रिया का परिणाम हो सकता है। आदमी सयोगवशात्—पुस्तको पत्रिकाओ रेडियो व टेलीविजन कार्यक्रमो अन्य लोगो की बातो स्वय अपने प्रेक्षणो, आदि से—निश्चित सूचनाए और जानकारिया प्राप्त कर सकता है। विभिन्न प्रकार के क्रियाकलाप म भाग लेकर और विभिन्न वस्तुओ, उपकरणो, यत्रो के

साथ क्रियाएं करने का अनुभव मिलने पर मनुष्य अनियोजित ढंग से कोई दक्षताएं और योग्यताएं अर्जित कर सकता है। उदाहरण के लिए प्रयत्न, अनुकरण, परामर्श, निर्देशों के पठन आदि के आधार पर मनुष्य फोटोग्राफी, टेप रिकार्डिंग, स्कीइंग, फर्नीचर तथा बिजली उपकरणों की मरम्मत सीख सकता है, उनमें दक्ष बन सकता है। ठीक इसी तरह काफी हद तक स्वतःस्फूर्त ढंग से बच्चा भी अपने अंगों की गतियों का समन्वित करना सीखता है और व्यवहार संबंधी दक्षताएं हासिल करता है।

इस प्रकार की अन्योन्यक्रिया के फलस्वरूप होनेवाले अधिगम को सायोगिक अधिगम कहा जा सकता है। किंतु अधिगम की स्थितियां विशेष रूप से भी बनायी व संगठित की जा सकती हैं। इस हालत में अधिगम लक्ष्यानुरूप, संगठित और दिशापरक होगा। अधिगम के इस प्रकार लक्ष्योन्मुख संगठन को शिक्षण कहते हैं। ऐसे संगठन की एक आम मिसाल स्कूल है। किंतु शिक्षण स्कूल में ही नहीं दिया जाता। वह किंडरगार्टन में भी दिया जाता है, जब बच्चों को, मिसाल के लिए, कपड़ों को ठीक से रखना, तसवीर बनाना, वगैरह सिखाते हैं, अथवा परिवार में, जब बच्चे को दांत साफ करना सिखाते हैं, अथवा समूह में, जब बच्चे मिल-जुलकर खेलने के नियम सीखते हैं।

शिक्षण की संकल्पना

शिक्षण क्या है? आम तौर पर इसका उत्तर कुछ यों दिया जाता है: शिक्षण छात्र को कुछ निश्चित जानकारियां देने, योग्यताएं और दक्षताएं सिखाने को कहते हैं। पहली नजर में यह परिभाषा सही ही है। वास्तव में, शिक्षण से पहले मनुष्य में किसी क्षेत्र अथवा विषय से संबंधित ज्ञान, योग्यताओं और दक्षताओं का अभाव होता है। शिक्षण के बाद वे प्रकट हो जाते हैं। वे कहां से आते हैं? अध्यापक से, जो ये जानकारियां, योग्यताएं और दक्षताएं जानता है और उन्हें छात्र को अंतरित करता है। अंतरण की यह प्रक्रिया ही शिक्षण है। किंतु प्रत्यक्षों, धारणाओं, संकल्पनाओं और चिंतन की भांति ज्ञान, योग्यताएं और दक्षताएं भी कोई भौतिक वस्तु तो हैं नहीं कि उन्हें

प्रकार के कृत्यको का निष्पादन करते हुए वस्तुजगत के इन गुणधर्मो को पहचानने एव उपयोग मे लाने के लिए आवश्यक हैं। इसके अनुरूप इस उपस्तर मे सकल्पनाओ का अधिगम, चितन का अधिगम और सैद्धातिक योग्यताओ का अधिगम शामिल किये जाते है।

कहना न होगा कि अधिगम के उपरोक्त स्तरो और रूपो का विभाजन कुछ हद तक कृत्रिम है। व्यावहारिकत अधिगम के दौरान व सभी घनिष्ठ रूप से अतर्गुफित और परस्पर सबद्ध रहते हैं। फिर भी उनमे से प्रत्येक की कुछ पृथक् विशेषताए होती है। इसके अलावा ये स्तर अधिगम की विकासात्मक सीढियो के रूप मे भी काम करते हैं। बच्चा जितना ही अल्प आयु का होगा, अधिगम के निम्नतर स्तर और रूप उतनी ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायेगे। इसी तरह बच्चा जितना ही बडा होगा अधिगम के उच्चतर स्तर और रूप उतना ही ज्यादा महत्त्व ग्रहण करते जायेगे।

किंतु पूर्ववर्ती स्तर लुप्त नही हो जाते, अपना महत्त्व नही खो देते। वे केवल अधिक ऊचे प्रकार के अधिगम के मातहत हो जाते हैं और उसकी सरचना मे शामिल होना शुरू कर देते हैं। उदाहरणार्थ, सज्ञानात्मक अधिगम के सर्वोच्च स्तरो मे (जैसे उच्च गणित पढते हुए) उसमे वास्तविक तथ्यो का आत्मसात्करण भी शामिल होता है और कुछ खास नयी व्यावहारिक क्रियाओ को हृदयगम करना भी। यहा तक कि उसमे नय प्रत्यक्षो (आकृतियो, रेखा चित्रा, चिह्नो) और गतिप्रेरक विभेदनो (फार्मूले लिखना, वक्र खीचना) का विकास भी सम्मिलित रहता है।

§२ शिक्षा सक्रियता का मनोविज्ञान

अधिगम स्वत स्फूर्त हो सकता है अन्य लोगो और परिवेशी विश्व के साथ मनुष्य के ससर्ग और अन्योन्यक्रिया का परिणाम हो सकता है। आदमी सयोगवशात्—पुस्तको पत्रिकाओ, रेडियो व टेलीविजन कार्यक्रमो अन्य लोगो की बातो, स्वय अपने प्रेक्षणो, आदि स—निश्चित सूचनाए और जानकारिया प्राप्त कर सकता है। विभिन्न प्रकार के क्रियाकलाप म भाग लेकर और विभिन्न वस्तुआ उपकरणो, यत्रा व

साथ त्रियाए करने का अनुभव सचित करके मनुष्य अनियोजित ढग से कोई दक्षताए और योग्यताए अर्जित कर सकता है। उदाहरण के लिए, प्रयत्न, अनुकरण, परामर्श, निर्देशो के पठन, आदि के आधार पर मनुष्य फोटोग्राफी, टेप रिकार्डिग, स्कीइग फर्नीचर तथा बिजली उपकरणो की मरम्मत सीख सकता है उनमे दक्ष बन सकता है। ठीक इसी तरह काफी हद तक स्वतस्फूर्त ढग से बच्चा भी अपने अगो की गतियो को समन्वित करना सीखता है और व्यवहार सबधी दक्षताए हासिल करता है।

इस प्रकार की अन्योन्यत्रिया व फलस्वरूप होनेवाले अधिगम को **सायोगिक अधिगम** कहा जा सकता है। किंतु अधिगम की स्थितिया विशेष रूप से भी बनायी व सगठित की जा सकती है। इस हालत म अधिगम लक्ष्यानुरूप, सगठित और दिशापरक होगा। अधिगम के इस प्रकार लक्ष्योमुख सगठन को शिक्षण कहते है। ऐसे सगठन की एक आम मिसाल स्कूल है। किंतु शिक्षण स्कूल म ही नही दिया जाता। वह किंडरगार्टन मे भी दिया जाता है जब बच्चो को मिसाल के लिए, कपडो को ठीक से रखना, तसवीरे बनाना वगैरह सिखाते हैं, अथवा परिवार मे, जब बच्चे को दात साफ करना सिखाते है अथवा समूह मे, जब बच्चे मिल जुलकर खेलन के नियम सीखते है।

शिक्षण की सकल्पना

शिक्षण क्या है? आम तौर पर इसका उत्तर कुछ यो दिया जाता है शिक्षण छात्र को कुछ निश्चित जानकारिया देने योग्यताए और दक्षताए सिखाने को कहते है। पहली नजर म यह परिभाषा सही ही है। वास्तव मे शिक्षण से पहले मनुष्य मे किसी क्षेत्र अथवा विषय से सबधित ज्ञान, योग्यताओ और दक्षताओ का अभाव होता है। शिक्षण के बाद वे प्रकट हो जाते है। वे कहा से आते है? अध्यापक से जो ये जानकारिया योग्यताए और दक्षताए जानता है और उन्ह छात्र को अतरित करता है। अतरण की यह प्रत्रिया ही शिक्षण है। किंतु प्रत्यक्षो धारणाओ, सकल्पनाओ और चिंतन की भाति ज्ञान योग्यताए और दक्षताए भी कोई भौतिक वस्तु तो है नही कि उन्ह

एक आदमी से दूसरे आदमी को अंतरित अथवा एक मस्तिष्क से दूसरे मस्तिष्क में 'उडेला" जा सके। ज्ञान, योग्यताएं और दक्षताएं मनुष्य के मानस में प्रतिबिंबनात्मक (परावर्ती) और नियामक प्रक्रियाओं के रूप और परिणाम होते हैं। इसका अर्थ है कि वे मनुष्य के मस्तिष्क में केवल उसकी अपनी सक्रियता के फलस्वरूप पैदा हो सकते हैं। उन्हें पाया नहीं जा सकता। उन्हें स्वयं छात्र की मानसिक सक्रियता की उपज और इस सक्रियता के निश्चित रूप होना चाहिए। यदि छात्र में ऐसी सक्रियता नहीं है, तो उसमें कोई भी ज्ञान, योग्यताएं और दक्षताएं प्रकट नहीं होंगी। इस तथ्य को हर अध्यापक अपने निजी अनुभव से भली भांति जानता है, यद्यपि उसे इसका हमेशा सही अहसास नहीं होता, खास तौर से जब वह "मानसिक सक्रियता के अभाव" के स्थान पर असावधानी, आलस्य", "अक्षमता" जैसे मूल्यांकनपरक शब्द इस्तेमाल करने लगता है।

फलस्वरूप शिक्षण में 'अध्यापक – छात्र" संबंध प्रेषित्र – अभिग्राही संबंध नहीं हो सकता। उसमें दोनों ही पक्षों की सक्रियता आवश्यक है। इस प्रकार के संबंध को अन्योन्यक्रिया कहते हैं। तो शिक्षण की अधिक सटीक परिभाषा यों होगी: शिक्षण सिखानेवाले और सीखनेवाले की अन्योन्यक्रिया की प्रक्रिया है, जिसके फलस्वरूप सीखनेवाले में निश्चित ज्ञान, योग्यताओं और दक्षताओं का विकास होता है। यह विकास तभी संभव होगा, जब अध्यापक की क्रियाएं (प्रभाव) छात्र में एक निश्चित शारीरिक और मानसिक सक्रियता उत्पन्न करेंगी।

जिन बाह्य प्रभावों के कारण शरीर की एक निश्चित जवाबी सक्रियता उत्पन्न होती है, उन्हें उद्दीपन कहते हैं। जिन बाह्य प्रभावों के परिणामस्वरूप कोई निश्चित, पूर्वनिर्धारित उद्देश्य पाया जाता है, उन्हें संचालन कहते हैं। अतः शिक्षण को यों परिभाषित किया जा सकता है: वह छात्र की बाह्य व आभ्यंतरिक क्रियाशीलता के उद्दीपन व संचालन की प्रक्रिया है, जिसके फलस्वरूप उसमें निश्चित ज्ञान, योग्यताओं और दक्षताओं का विकास होता है।

शिक्षण ऐसी क्रियाशीलता के लिए आवश्यक परिस्थितियां बना सकता है, जैसे छात्र की सक्रियता को संगठित करना, उसका निर्देशन व नियंत्रण करना, उसके लिए आवश्यक साधन व सूचनाएं मुहैया

करना। किंतु मनुष्य के ज्ञान योग्यताओं, दक्षताओं संकल्पनाओं चिंतन, क्रियाओं और व्यवहार का जन्म व विकास उसकी अपनी सक्रियता के परिणामस्वरूप ही हो सकता है।

ज्ञान, योग्यताओं और दक्षताओं के विकास के लिए छात्र में कौन सी क्रियाशीलता पैदा करनी चाहिए और उसे कैसे निदेशित करना चाहिए? इन विकासशील साधनों का प्रयोग किन सिद्धांतों पर आधारित होना चाहिए? अधिकतम प्रभावी बनाने के लिए शिक्षण को कैसे संगठित किया जाना चाहिए और शिक्षण का सार क्या होना चाहिए? इन सब प्रश्नों का उत्तर इस पर निर्भर है कि पहले इस मुख्य समस्या को कैसे हल किया जायेगा छात्र की कौन सी बाह्य और आभ्यंतरिक सक्रियता उसके ज्ञान, योग्यताओं और दक्षताओं में प्रतिबिंबित होती है और उन्हें जन्म देती है?

आनुषंगिक अधिगम और सप्रयोजन प्रशिक्षण

तो छात्र की कौन सी सक्रियता अधिगम का स्रोत है? अध्ययन दिखाते हैं कि सामान्यतः यह भूमिका कोई भी सक्रियता अदा कर सकती है। शिशु की अभिविन्यासात्मक और अन्वेषणात्मक सक्रियता वस्तुओं को पकड़ना व उलटना-पलटना रगना और चलना उसे अंगों की गतियों को समन्वित करना, परिवेशी जगत में अभिविन्यस्त होना सिखाते हैं, वस्तुओं के गुणधर्मों से अवगत कराते हैं और प्रत्यक्षों का निर्माण करते हैं। क्रियात्मक और संप्रेषणात्मक व्यवहार वस्तुओं के प्रयोग और बोली में बच्चा वस्तुओं के प्रयोजन कार्य और उपयोग रीतियों का ज्ञान पाता है। वे वस्तुओं और क्रियाओं के सामाजिक प्रयोजन के बारे में उसकी धारणाएं बनाते हैं और उसे उनका वर्गीकरण करना तथा शब्दों द्वारा इंगित करना सिखाते हैं। दूसरे शब्दों में वे उसे सोचना सिखाते हैं। खेल बच्चे को ये प्रयोजन अपनी क्रियाओं में साकार बनाना और अपना व्यवहार उनके मातहत बनाना यानी विचारों तथा इच्छा शक्ति का नियमन करना सिखाते हैं। अंत में श्रम और परिवेश से संसर्ग पढ़ना और जन-सूचना माध्यम (रेडियो, टेलीविजन, आदि) निरंतर, जीवनभर आदमी को नयी नयी जानकारियों

योग्यताओ, दक्षताओ, आदतो, सोचने के तरीका, व्यवहार के रूपो, व्यावहारिक और वाक् मबधी क्रियाओ की प्रणालियो से समृद्ध बनाते है।

सक्रियताओ और व्यवहार के इन सभी रूपो की विशेषता यह है कि इनमे अत परिणाम – सामाजिक अनुभव का आत्मसात्करण – सक्रियता और व्यवहार के ही प्रत्यक्ष उद्देश्य से मेल नही खाता। बच्चा वस्तुओ को उलटता पलटता अथवा उनसे खेलता इसलिए नही कि कुछ सीखा जाये। जब वह पहले डग भरता है अथवा पहले शब्द बोलता है, उसका उद्देश्य चलना या बोलना सीखना नही होता। उसकी क्रियाए टोह लेने सक्रिय बनने वस्तुए हासिल करने, परिवेश को प्रभावित करने की अपनी कुछ निश्चित आवश्यकताओ की तुष्टि की ओर लक्षित होती है। दूसरे शब्दो मे वे लक्ष्य या उद्देश्य न होकर आवश्यकताओ की तुष्टि का साधन होती है। इसी प्रकार किसी मशीन का चलाने वाले मजदूर का उद्देश्य एक निश्चित क्वालिटी के एक निश्चित उत्पाद को बनाना होता है। किंतु इसके दौरान होनेवाले दक्षताओ तथा नियामक प्रक्रियाओ के परिष्कार को उद्देश्य नही समानातर परिणाम कहा जायेगा।

इतर उद्देश्यवाली सक्रियता के दौरान होनेवाला अधिगम सायोगिक अथवा आनुषगिक अधिगम कहलाता है। उसके अस्तित्व की पुष्टि जीवन से भी होती है और मनोविज्ञानवेत्ताओ के प्रयोगो से भी। एक प्रयोग मे स्कूली बच्चो को वस्तुओ के चित्रोवाले कार्डों का अलग अलग समूहो म विभाजित करना था। हर कार्ड पर एक सख्या भी लिखी थी। प्रयोग के एक विकल्प मे कार्डो को बनी वस्तुओ के साम्य के अनुसार रखना था और दूसरे विकल्प मे ऐसे कि उनपर बनी सख्याए बढते क्रम मे हो। कोई चीज याद करने को नही कहा गया था। किंतु कृत्यक की समाप्ति के अत म बच्चो से एकाएक कहा गया कि अपनी स्मृति के आधार पर उन सभी वस्तुओ के नाम और सभी सख्याए बताय जो कार्डो पर अकित थी। परिणाम ये रहे पहले मामले म वस्तुए तो ठीक म याद रही, लेकिन सख्याए लगभग नही जबकि दूसरे मामले म सख्याए याद रही और वस्तुए नही। सोवियत मनोविज्ञानवेत्ता एस प्रयोगो से इन निष्कर्षो पर पहुचे है १) शिक्षण (दत

प्रयोग मे याद रखना) तब भी होता है जब सीखना (याद रखना) विशेष उद्देश्य नही होता , २) **वह चीज** बेहतर सीखी जाती (याद रहती) है, **जो मनुष्य की प्रत्यक्ष सक्रियता से सबद्ध है**, इस सक्रियता क लिए आवश्यक है इस सक्रियता का लक्ष्य है और जिसकी सहायता से यह सक्रियता साकार बनती है।

इससे शिक्षण के सिद्धात और व्यवहार क लिए महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते है। उदाहरणार्थ, बच्चो को वनस्पतियो के लक्षणो को याद रखने के लिए बाध्य करके और फिर अलग अलग जातियो की वनस्पतियो मे इन लक्षणो को दिखाकर वनस्पति वर्गीकरण सिखाया जा सकता है। यह कठिन रास्ता है। दूसरा विकल्प यह है कि उन्हे आवश्यक तथ्य बता दिये जाये और वनस्पतिया दे दी जाये और कहा जाये कि तथ्यो का सहारा लेकर मालूम करे कि कौन वनस्पति किस जाति अथवा वर्ग की है। इस मामले मे बच्चे विशेषत सीखे अथवा कठस्थ किये बिना अपनी सक्रियता की प्रक्रिया मे ही आवश्यक ज्ञान हासिल कर लेगे।

इन निष्कर्षो तथा प्रेक्षणो के आधार पर कतिपय मनोविज्ञानवेत्ताओ और शिक्षाविज्ञानियो ने यह मत प्रतिपादित किया कि आनुषगिक **असकल्पित** अधिगम शिक्षण का सर्वोत्तम रूप है। व इसकी "सहजता पर भी जोर देते है। उनके अनुसार इस अधिगम विधि म मनुष्य का साबिका कृत्रिम रूप से तैयार और नियत मात्राओ मे दी जानेवाली सूचनाओ से नही, अपितु यथार्थ जीवन यथार्थ समस्याओ और वस्तुओ से पडता है। अधिगम का अभिप्रेरणा और प्रोत्साहन अदर से मिलते है, न कि बाहर से। छात्र का मानस बिना किसी विशेष प्रयास के और अध्यापक द्वारा बाध्य किये बिना आवश्यक तथ्यो और क्रियाओ को स्वय ही चुन और आत्मसात कर लेता है। इसीलिए छात्र ऐसे अधिगम क प्रति खास उत्साह दिखाते है उनकी शैक्षिक क्रियाशीलता का स्तर काफी ऊचा होता है और परिणाम भी लगातार उत्कृष्ट निकलते है।

बहुत कुछ इसी प्रकार का दृष्टिकोण 'स्वतत्र शिक्षा व पालन मे सबधित सिद्धातो क अनुयायियो न भी व्यक्त किया था। किंतु इन विविध शिक्षा प्रणालियो की एक साझी विशेषता यह है कि व प्रशिक्षण

को एक स्वतत्र विशिष्ट सक्रियता का दर्जा न देकर उसके स्थान पर अन्य सक्रियताओ के आनुषगिक उत्पाद के रूप मे अधिगम को बिठा देते है। ऐसे उपागम की चरम अभिव्यक्ति सयुक्त राज्य अमरीका मे व्यापक रूप से प्रचलित "समायोजन सिद्धात" मे पायी जाती है जो अपेक्षा करता है कि छात्र सीखने के लिए सामग्री और शैक्षिक सक्रियता का रूप स्वय ही चुने, किंतु क्या इस रीति से सब कुछ सीखा जा सकता है और वह भी उतने समय मे, जितना कि समाज आदमी को जीवन और श्रम के लिए तैयार होने के वास्ते देता है? इस प्रश्न के उत्तर की खोज मे मनोविज्ञानवेत्ताओ ने बहुसख्य प्रयोग तथा अध्ययन किये और निम्न निष्कर्षो पर पहुचे

१ सायोगिक और आनुषगिक, असकल्पित अधिगम अधिकाश मामलो म सकल्पित और सुनियोजित अधिगम से कम प्रभावी सिद्ध होता है।

२ जब असकल्पित अधिगम केवल छात्र की स्वतत्र सक्रियता की परिस्थितियो म होता है उसमे काफी समय लगता है।

३ इस प्रकार के अधिगम म छात्र मुख्यतया वही चुनता और आत्मसात् करता है जो उसकी आवश्यकताओ, रुचियो और सामयिक लक्ष्यो से सबध रखता है। शेष सब उपेक्षित रह जाता है।

अतिम निष्कर्ष सबसे महत्त्वपूर्ण है। छात्र स्वाभाविकत जो सीखता है वह उसके व्यक्तित्व रुचियो और आवश्यकताओ द्वारा निर्धारित होता है। इसलिए एसे अधिगम के परिणाम सायोगिक और क्रमहीन ही हो सकते हैं। व परस्पर असबद्ध तथ्यो, योग्यताओ और दक्षताओ का अव्यवस्थित ढेर होते है जिसे अनुभव का नाम दिया जाता है। इसस स्पष्ट है कि वैज्ञानिक सकल्पनाओ की प्रणाली और मानसिक सक्रियता की तदनुरूप सरचनाओ का आत्मसात्करण और छात्र का सर्वांगीण तथा सम विकास भी केवल आनुषगिक शिक्षण के जरिये जो सहज जीवन सक्रियता पर आधारित होता है, असभव है। इसके लिए एक एसी विशेष सक्रियता की आवश्यकता होती है जिसका मुख्य उद्देश्य अधिगम ही हो। मनुष्य की एसी विशिष्ट सक्रियता जिसका प्रत्यक्ष उद्देश्य अधिगम ही है प्रशिक्षण कहलाती है।

इस प्रकार प्रशिक्षण वहा होता है, जहा मनुष्य की क्रियाए निश्चित ज्ञान, योग्यताओ, दक्षताओ, व्यवहार रूपो और सक्रियता भेदो को आत्मसात् करने के सचेतन उद्देश्य द्वारा निर्देशित व सचालित होती है। प्रशिक्षण एक विशिष्ट मानव सक्रियता है और केवल उस चरण म सभव है, जब मनुष्य मे उद्देश्य के बोध द्वारा अपनी क्रियाओ को नियमित करने की क्षमता आ जाती है। सभवत यह क्षमता ४-५ वर्ष की आयु म जाकर ही पर्याप्त विकसित हो पाती है और व्यवहार तथा सक्रियता के पूर्ववर्ती रूपो – खेल, बोली क्रियात्मक व्यवहार – के आधार पर बनती है।

प्रशिक्षण सक्रियता क्या है? पहला सभावित उत्तर बडा सरल है। कोई भी सक्रियता किन्ही खास शारीरिक क्रियाओ – क्रियात्मक अथवा वाणीमूलक – की समष्टि होती है। अत प्रशिक्षण भी मनुष्य द्वारा विभिन्न क्रियाए – गतिया लिखाई बोलना आदि – किये जाने के जरिये सभव होता है। उदाहरण के लिए मनुष्य तैरना पानी मे तैरते हुए सीखता है, सोचना तर्क वितर्क और सवाल हल करते हुए सीखता है लिखना लिखने का अभ्यास करत हुए सीखता है। ऐसा "करन के जरिये सीखना सिद्धात की मान्यता है जिसका आज के सारे बुर्जुआ शिक्षाविज्ञान पर बहुत प्रभाव पडा है। इस सिद्धात के अनुसार प्रशिक्षण पुरस्कार और प्रोत्साहन की मदद म उद्दीपक और प्रतिक्रिया के सबध का स्थिरीकरण है। किंतु पुरस्कार उसी क लिए दिया जा सकता है जो किया जा चुका है। इसलिए जोर करने पर नही, निष्पादन पर दिया जाता है। इसमे मुख्य विधि है ध्यान द्वारा प्रयत्न त्रुटि अनुकरण अभ्यास और सामान्य नियमो अथवा विवेक के प्रयोग के जरिये विभिन्न कृत्यको अथवा समस्याओ की सक्रिय पूर्ति। किंतु शिक्षा का सारा अनुभव बताता है कि लोग व्यावहारिक सक्रियता के बिना भी सीख सकते है और कभी कभी तो बहुत अच्छी तरह। इसकी पुष्टि विशेष अध्ययनो से भी होती है। उदाहरण के लिए एक प्रयोग मे एक ही तरह की सामग्री की तीन विभिन्न विधियो – व्याख्यान अध्यापक के साथ सयुक्त विमर्श और स्वतत्र अध्ययन – स

पढाई के परिणामो की तुलना की गयी। पाया गया कि जब पढाई एक ही पाठ्य पुस्तक के अनुमार और जाच एक ही तरह की कसौटियों के आधार पर की जाती है, तो तीनो मे स कोई भी विधि अन्या के मुकाबले खास आकर्षक नही सिद्ध होती।

इस प्रकार बाह्य सक्रियता, अथवा शारीरिक क्रियाशीलता अधिगम की अनिवाय शर्त नही है। कुछ मामलो मे, मिसाल के लिए, गतिप्रेरक दक्षताओ (लिखना बोली, तैरना, चित्रकारी, डाइविंग) के आत्मसात्करण मे वह महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है और कुछ मामलो मे उसका कोई खास महत्त्व नही भी हो सकता जैसे शब्दो या पाठ को याद करने मे, गणित के सवाल हल करने मे, निबंध लिखने म वस्तुओ को पहचानने और भेद करने म।

यदि प्रशिक्षण एक सक्रियता है, तो प्रकट रूपो क बिना वह कैसे सपन्न हो सकती है? सोवियत मनोविज्ञानवेताओ के अध्ययनो ने दिखाया है कि व्यावहारिक सक्रियता के अलावा मनुष्य की एक अन्य विशिष्ट, प्रज्ञानमूलक सक्रियता भी होती है, जिसका उद्देश्य है सज्ञान, अर्थात वस्तुजगत के गुणधर्मों से सबधित तथ्यो का सचय, विश्लेषण और सश्लेषण।

व्यावहारिक सक्रियता की भाति प्रज्ञानमूलक सक्रियता भी बाह्य सक्रियता हो सकती है। उसमे वस्तुमूलक सक्रियता के विभिन्न रूप शामिल है, जैस वस्तुओ का प्रहस्तन उनका यात्रिक विधायन, जोडना-तोडना, तौलना मापना स्थान परिवर्तन आदि। प्रज्ञानमूलक सक्रियता प्रत्यक्षमूलक सक्रियता का रूप ले सकती है जैस जाच करना, सुनना प्रेक्षण करना वगैरह। प्रज्ञानमूलक सक्रियता प्रतीकमूलक सक्रियता भी हो सकती है जैस चित्राकन, नाम देना शाब्दिक वर्णन, कथन शब्दो तथा कथनो की पुनरावृत्ति आदि।

व्यावहारिक सक्रियता के विपरीत प्रज्ञानमूलक सक्रियता आभ्यतरिक, अथवा कम स कम अप्रेक्षणीय सक्रियता भी हो सकती है। उदाहरणार्थ सोवियत वैज्ञानिको क अनुसधानो न दिखाया है कि प्रत्यक्षण, विशेषत प्रेक्षण विशेष प्रत्यक्षमूलक क्रियाओ (वस्तु पर दृष्टि घुमाना अभिविन्यासक का चयन बिंब निर्माण) की मदद स किया जाता है। अन्य अध्ययनो म यह बात प्रकाश म आयी है कि स्मरण

...कुछ विशिष्ट स्मृतिक क्रियाओ का परिणाम होता है, जैसे सामग्री ो क्रमबद्ध व सुव्यवस्थित बनाना, उसमे अर्थ सबधी सकेतो तथा बधो को मालूम करना, नये और पुराने अनुभव अथवा ज्ञान के बीच बध कायम करना, रूपरेखा बनाना व दोहराना, आदि। सोवियत मनोविज्ञानवेत्ता स०ल० रुबिनस्तेइन (१८८९-१९६०), अ०न० लेओं-त्येव (जन्म १९०३), स्विस मनोविज्ञानवेत्ता पियाजे, आदि ने गाया है कि चिंतन मानसिक क्रियाओं अथवा बौद्धिक सक्रियाओ का रूप लेता है, जैसे विश्लेषण और सश्लेषण, सादृश्यीकरण और विभे दीकरण, अमूर्तीकरण और सामान्यीकरण, अभिविन्यास और चयन, वर्गीकरण और क्रमबधन, सूत्रीकरण और व्याख्या।

प्रशिक्षण की प्रक्रिया मे सक्रियता के ये सभी भेद आपस मे घनिष्ठ रूप म जुडे होते हैं। उदाहरणार्थ, वनस्पतियो के वर्गीकरण का अध्ययन करते हुए छात्र उन्हे गौर से देखता है (प्रत्यक्षमूलक सक्रियता), विभिन्न हिस्सो को अलग करता है (वस्तुमूलक सक्रियता), जो देखता है उसका वर्णन करता है (बोली सक्रियता), उनका चित्राकन करता है (वस्तुमूलक और प्रत्यक्षमूलक सक्रियता), उनका नाम बताता है (बोली सक्रियता), आदि। विभिन्न सदर्भो के इन सक्रियताओ का अनुपात भिन्न होता है। उदाहरण के लिए श्रम सबधी सकल्पनाए वस्तुमूलक और प्रत्यक्षमूलक सक्रियताओ के दौरान आत्मसात् की जाती है, जबकि इतिहास मे सबधित सकल्पनाए मुख्यतया बोली और प्रत्यक्षमूलक सक्रियताओ क दौरान बनती हैं। किंतु सभी मामलो मे **प्रशिक्षण प्रज्ञानमूलक सक्रियता मे व्यक्त और उसपर आधारित होता है।** प्राय यह सक्रियता आभ्यतरिक हो सकती है।

प्राथमिक और गौण प्रशिक्षण

स्वाभाविकत प्रश्न उठता है कि आभ्यतरिक सक्रियता क्या होती है, कैसे उत्पन्न होती है और उसका सारतत्त्व क्या है। विगोत्स्की लेओन्त्येव और पियाजे के अध्ययनो क आधार पर कहा जा सकता है कि यह आभ्यतरिक सक्रियता बाह्य सक्रियता के आभ्यतरीकरण का परिणाम है। वस्तुमूलक क्रियाए मानसिक प्रक्रियाओ मे परिवर्तित

पढाई के परिणामो की तुलना की गयी। पाया गया कि जब पढाई एक ही पाठ्य पुस्तक के अनुसार और जाच एक ही तरह की कसौटियो के आधार पर की जाती है, तो तीनो म से कोई भी विधि अन्या क मुकाबले खास आकर्षक नही सिद्ध होती।

इस प्रकार वाह्य सक्रियता, अथवा शारीरिक क्रियाशीलता अधिगम की अनिवार्य शर्त नही है। कुछ मामलो मे, मिसाल के लिए, गतिप्रेरक दक्षताओ (लिखना बोली तैरना, चित्रकारी, ड्राइविग) के आत्मसात्करण मे वह महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है और कुछ मामलो म उसका कोई खास महत्त्व नही भी हो सकता, जैसे शब्दो या पाठ को याद करने मे, गणित के सवाल हल करने म, निबध लिखने मे वस्तुओ को पहचानने और भेद करने मे।

यदि प्रशिक्षण एक सक्रियता है, तो प्रकट रूपो के बिना वह कैसे सपन्न हो सकती है? सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओ के अध्ययनो न दिखाया है कि व्यावहारिक सक्रियता के अलावा मनुष्य की एक अन्य विशिष्ट, **प्रज्ञानमूलक** सक्रियता भी होती है, जिसका उद्देश्य है सज्ञान, अर्थात वस्तुजगत के गुणधर्मो से सबधित तथ्यो का सचय, विश्लेपण और सश्लेपण।

व्यावहारिक सक्रियता की भाति प्रज्ञानमूलक सक्रियता भी बाह्य सक्रियता हो सकती है। उसम **वस्तुमूलक सक्रियता** के विभिन्न रूप शामिल है, जैसे वस्तुओ का प्रहस्तन उनका यान्त्रिक विधायन, जोडना-तोडना, तौलना मापना स्थान-परिवर्तन आदि। प्रज्ञानमूलक सक्रियता **प्रत्यक्षमूलक सक्रियता** का रूप ले सकती है जैसे जाच करना, सुनना प्रेक्षण करना वगैरह। प्रज्ञानमूलक सक्रियता **प्रतीकमूलक** सक्रियता भी हो सकती है जैसे चित्राकन, नाम देना शाब्दिक वर्णन, कथन शब्दो तथा कथनो की पुनरावृत्ति आदि।

व्यावहारिक सक्रियता के विपरीत प्रज्ञानमूलक सक्रियता आभ्यतरिक, अथवा कम से कम **अप्रेक्षणीय** सक्रियता भी हो सकती है। उदाहरणार्थ सोवियत वैज्ञानिको के अनुसधानो ने दिखाया है कि प्रत्यक्षण, विशेषत प्रेक्षण विशेष **प्रत्यक्षमूलक क्रियाओ** (वस्तु पर दृष्टि घुमाना अभिविन्यासको का चयन बिब निर्माण) की मदद स किया जाता है। अन्य अध्ययनो मे यह बात प्रकाश म आयी है कि स्मरण

कुछ विशिष्ट स्मृतिक क्रियाओ का परिणाम होता है, जैसे सामग्री को क्रमबद्ध व सुव्यवस्थित बनाना, उसमे अर्थ सबधी सकेतो तथा सबधो को मालूम करना, नये और पुराने अनुभव अथवा ज्ञान के बीच सबध कायम करना, रूपरखा बनाना व दोहराना, आदि। सोवियत मनोविज्ञानवेत्ता स०ल० रुबिनश्तेइन (१८८६-१९६०), अ०न० लेओन्त्येव (जन्म १९०३), स्विस मनोविज्ञानवेत्ता पियाजे, आदि ने पाया है कि चिंतन मानसिक क्रियाओ अथवा बौद्धिक सक्रियाओ का रूप लेता है, जैसे विश्लेषण और सश्लेषण, सादृश्यीकरण और विभेदीकरण अमूर्तीकरण और सामान्यीकरण, अभिविन्यास और चयन, वर्गीकरण और क्रमबधन, सूत्रीकरण और व्याख्या।

प्रशिक्षण की प्रक्रिया में सक्रियता के ये सभी भेद आपस मे घनिष्ठ रूप से जुडे होते है। उदाहरणार्थ, वनस्पतियो के वर्गीकरण का अध्ययन करते हुए छात्र उन्हे गौर से देखता है (प्रत्यक्षमूलक सक्रियता), विभिन्न हिस्सो को अलग करता है (वस्तुमूलक सक्रियता), जो देखता है, उसका वर्णन करता है (बोली सक्रियता), उनका चित्राकन करता है (वस्तुमूलक और प्रत्यक्षमूलक सक्रियता), उनका नाम बताता है (बोली सक्रियता), आदि। विभिन्न सदर्भो के इन सक्रियताओ का अनुपात भिन्न होता है। उदाहरण के लिए, श्रम सबधी सकल्पनाए वस्तुमूलक और प्रत्यक्षमूलक सक्रियताओ के दौरान आत्मसात् की जाती हैं जबकि इतिहास से सबधित सकल्पनाए मुख्यतया बोली और प्रत्यक्षमूलक सक्रियताओ के दौरान बनती है। किंतु सभी मामलो मे प्रशिक्षण प्रज्ञानमूलक सक्रियता मे व्यक्त और उसपर आधारित होता है। प्राय यह सक्रियता आभ्यतरिक हो सकती है।

प्राथमिक और गौण प्रशिक्षण

स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि आभ्यतरिक सक्रियता क्या होती है कैसे उत्पन्न होती है और उसका सारतत्त्व क्या है। विगोत्स्की लेओन्त्येव और पियाजे के अध्ययनो के आधार पर कहा जा सकता है कि यह आभ्यतरिक सक्रियता बाह्य सक्रियता के आभ्यतरीकरण का परिणाम है। वस्तुमूलक क्रियाए मानसिक प्रक्रियाओ मे प्रतिबिंबित

होती है। इसके बाद ये प्रक्रियाएं वस्तुओं से अपना प्रत्यक्ष संबंध खत्म कर देती हैं और मानसिक सक्रियाओं का रूप धारण कर लेती हैं। उदाहरण के लिए ज्यों-ज्यों अनुभव बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों वस्तुओं के विभाजन, वियोजन और पृथक्करण की वस्तुमूलक क्रिया का स्थान उसका मानसिक बिंब ले लेता है, यानी यह क्रिया चिंतन के स्तर पर वस्तु के बिंब अथवा संकल्पना के साथ की जाने लगती है। वस्तुमूलक क्रिया विश्लेषण की मानसिक सक्रियता बन जाती है। प्रात्ययिक स्तर पर होनेवाली ऐसी सक्रियाएं ही आभ्यंतरिक, मानसिक सक्रियता हैं। आभ्यंतरीकरण का मुख्य साधन शब्द होता है। वह बिंब और सक्रिया को वस्तु और क्रिया से विसंबंधित करके, उनके स्थान पर व्यक्ति की अपनी वाक् गतियां प्रयोग करने की संभावना देता है।

उपरोक्त के आधार पर हम प्रशिक्षण में बाह्य (वस्तुमूलक) और आभ्यंतरिक (मानसिक) सक्रियता की भूमिका के बारे में एक महत्त्वपूर्ण प्राक्कल्पना प्रस्तुत कर सकते हैं। बाह्य प्रज्ञानमूलक सक्रियता संभवतः तब प्रशिक्षण के लिए अनिवार्य है, जब मानस में तदनुरूप बिंब, संकल्पनाएं और सक्रियाएं अभी विकसित नहीं हुई होती हैं। यदि छात्र नये ज्ञान अथवा योग्यताओं के अर्जन के लिए आवश्यक बिंबों और सक्रियाओं से परिचित है, तो अधिगम के लिए एक तदनुरूप आभ्यंतरिक प्रज्ञानमूलक सक्रियता ही पर्याप्त होगी। कतिपय मनोविज्ञानवेत्ता इस भेद को दर्शाने के लिए पहले प्रसंग में आदि अथवा प्राथमिक प्रशिक्षण शब्द प्रयोग करते हैं और दूसरे प्रसंग में उत्तर अथवा द्वितीयक प्रशिक्षण शब्द। प्राथमिक प्रशिक्षण का अनुकूलित परावर्ती गतिप्रेरक स्वरूप होता है। वह वस्तुमूलक (बाह्य) सक्रियता की मदद से संपन्न होता है। अन्य शब्दों में कहें तो यह करने के जरिये प्रयत्न और त्रुटि के जरिये प्रशिक्षण है। द्वितीयक प्रशिक्षण का स्वरूप शुद्ध बौद्धिक और मननात्मक है। वह अकेली मानसिक (आभ्यंतरिक) सक्रियता की सहायता से संपन्न होता है। यह प्रेक्षण और अवबोधन के जरिये होने वाला प्रशिक्षण है।

शिक्षा सक्रियता के स्वरूप के प्रश्न को हल करते हुए सबसे पहले इसका विश्लेषण आवश्यक है कि नयी सामग्री के आत्मसात्करण के लिए कैसे ज्ञान और योग्यता की आवश्यकता है। यदि छात्र अभी कुछ

इस प्रकार की सरचनावाली शैक्षिक स्थितियो को साहय्य बाध्यता-युक्त स्थितियां कहा जा सकता है। ऐसी स्थितियो मे स्वय उत्प-अधिगम–उपगमीय अथवा विगमिकामी हो सकता है। वह सक्रिय या केवल निधारक होता है, न कि प्रेरक। इसलिए स्वय सक्रियता-प्रशिक्षण–कुछ हद तक बाध्यतामूलक होती है और एक ऐसी बाधा सी बनती है जिसे बुनियादी उद्देश्य पाने के लिए लाघना जरूरी है। सहज ही देखा जा सकता है कि ऐसी स्थिति मे परस्पर विरोधी शक्तिया सक्रिय रहती है। चूकि वह द्वद्वपूर्ण होती है, इसलिए कभी-कभी काफी अधिक मानसिक तनाव पैदा करती है और व्यक्ति से आतरिक प्रयास की और कई बार तो अपने से जूझने की भी अपेक्षा करती है। द्वद्व बहुत अधिक बढ़ जाने पर 'स्थिति से निकलने' की प्रवृत्ति (त्यागने अथवा कठिनाइयो से कतराने की प्रवृत्ति अथवा मनस्ताप) पैदा हो सकती है। तब छात्र पढ़ाई छोड देता है अथवा नकल पर भरोसा करने लगता है अथवा टूट जाता है–नियमो का उल्लघन करने लगता है और कभी-कभी पूर्ण विरक्ति का शिकार बन जाता है। शैक्षिक स्थिति की ऐसी सरचना स्कूली व्यवहार मे प्राय देखने को मिलती है।

आभ्यतरिक अभिप्रेरक वे होते है जो उद्देश्य की ओर बढ़ने को प्रोत्साहित करते है जैसे ज्ञानपिपासा जिज्ञासा सास्कृतिक स्तर ऊचा उठाने की आकाक्षा योग्यता-वृद्धि की चाह, शैक्षिक कृत्यको की पूर्ति की प्रक्रिया मे रुचि आदि। इन सभी अभिप्रेरको का मूल स्वय प्रशिक्षण मे उसके भीतर होता है।

ऐसी सरचनावाली शैक्षिक स्थिति को सोद्देश्य आकर्षणयुक्त स्थिति कहा जा सकता है। उसमे आतरिक द्वद्व नही होता। कठिनाइया उसमे भी सामने आती है जिन्हे लाघा जाना जरूरी है, इसलिए वह भी दृढ सकल्प के प्रदर्शन की अपेक्षा करती है। किंतु यह सकल्प बाह्य बाधाओ को लाघने की ओर लक्षित होता है, अपने से जूझने की ओर नही। इसलिए ऐसी स्थिति मे आतरिक, मानसिक तनाव और मनस्तापीय सघर्ष उत्पन्न नही होते। अत वह शैक्षिक दृष्टि से सर्वोत्तम स्थिति है। ऐसी स्थिति बनाना अध्यापक का एक महत्त्वपूर्ण कार्यभार है, जिसकी पूर्ति के लिए छात्र के व्यवहार का मात्र नियमन ही नही करना चाहिए बल्कि उसे अपने उद्देश्य रुचिया और आदर्श निर्धारित करने मे मदद भी करनी चाहिए।

कोई भी वस्तु, घटना स्थिति अथवा क्रिया जब मनुष्य की किसी क्रियाशीलता के स्रोतो से जुड़ती है तो वह सक्रियता की अभिप्रेरक बन जाती है। प्रेक्षणो और अध्ययनो से पता चला है कि सक्रियता के सभी ज्ञात स्रोत तीन मुख्य कोटियो म बाटे जा सकते हैं

१ आतरिक स्रोत – ये मनुष्य की आवश्यकताओ के ढाचे पर निर्भर होते हैं और बहुविध हो सकते हैं – जन्मजात स्रोतो से लेकर जो शरीर की जैव आवश्यकताओ को व्यक्त करते है और आनुवंशिक क्रमविकास की उपज होते हैं अर्जित स्रोतो तक, जो सामाजिक आवश्यकताओ को व्यक्त करते हैं और समाज की उपज होते हैं।

जन्मजात आवश्यकताओ मे से क्रियाशीलता की आवश्यकता और सूचना की आवश्यकता का शिक्षा सक्रियता के उत्प्रेरण के लिए विशेष महत्त्व होता है।

इनके जैव आवश्यकताए होने का प्रमाण अधिकाश उच्चविकसित प्राणियो मे तत्सबधित झुकावो की विद्यमानता से मिलता है। पशु जब भूखा प्यासा नही भी होता और हिलना डुलना तक नही चाहता तब भी यदि उसकी क्रियाशीलता पर कोई रोक लगा दी जाये तो वह एकाएक विरोध कर बैठेगा। इसी तरह बच्चा भी जन्म के क्षण से ही और जब वह सोया नही होता, निरतर क्रियाशील अवस्था मे रहता है – मुस्कराता है, हलचल करता है, हाथ पैर चलाता है दौड़ता है खेलता है बातचीत करता है, सवाल पर सवाल पूछता रहता है। यह सारी सक्रियता सभवत उसे सतोष और आनद प्रदान करती है।

मनुष्य की सूचना की आवश्यकता (कभी कभी इसे संज्ञान की आवश्यकता भी कहते है) तथाकथित संवेदी वंचन के प्रयोगो मे स्पष्ट प्रकट होती है, जब प्रयोगाधीन को कुछ समय के लिए बाह्य जगत के प्रभावो से पूर्णत पृथक् कर दिया जाता है (किसी अंधेरे ध्वनिरुद्ध कक्ष मे, कभी कभी गुनगुने पानी से भरे टब मे भी रख दिया जाता है)। परिणामस्वरूप गभीर कायिक, मनोगत्यात्मक और मानसिक दोष पैदा हो जाते है, जैसे असतुलन, विषण्णता, भ्रम, विभ्रम, सामान्य क्रियाओ को करने की क्षमता का विनाश, सही सही व्यवस्थित चितन

इस प्रकार की सरचनावाली शैक्षिक स्थितियों को सोद्देश्य बाध्यता-युक्त स्थितियां कहा जा सकता है। ऐसी स्थितियों में स्वय उद्देश्य अधिगम-उपभोगीय अथवा विरक्तिकारी हो सकता है। वह सक्रिया का प्रकार निर्धारित होता है, न कि प्रेरक। इसलिए स्वय सक्रियता-प्रशिक्षण-कुछ हद तक बाध्यतामूलक होती है और एक ऐसी बाधा भी बनती है जिसे बुनियादी उद्देश्य पाने के लिए लाघना जरूरी है। सहज ही देखा जा सकता है कि ऐसी स्थिति में परस्पर विरोधी शक्तियां सक्रिय रहती हैं। चूंकि वह द्वद्वपूर्ण होती है, इसलिए कभी-कभी काफ़ी अधिक मानसिक तनाव पैदा करती है और व्यक्ति से आतरिक प्रयास की और कई बार तो अपने से जूझने की भी अपेक्षा करती है। द्वद्व बहुत अधिक बढ़ जाने पर 'स्थिति से निकलने' की प्रवृत्ति (त्यागने अथवा कठिनाइयों से कतराने की प्रवृत्ति अथवा मनस्ताप) पैदा हो सकती है। तब छात्र पढ़ाई छोड़ देता है अथवा नकल पर भरोसा करने लगता है अथवा टूट जाता है-नियमों का उल्लंघन करने लगता है और कभी-कभी पूर्ण विरक्ति का शिकार बन जाता है। शैक्षिक स्थिति की ऐसी सरचना स्कूली व्यवहार में प्रायः देखने को मिलती है।

आभ्यंतरिक अभिप्रेरक वे होते है जो उद्देश्य की ओर बढ़ने को प्रोत्साहित करते है जैसे ज्ञानपिपासा, जिज्ञासा, सास्कृतिक स्तर ऊंचा उठाने की आकाक्षा, योग्यता-वृद्धि की चाह, शैक्षिक कृत्यकों की पूर्ति की प्रक्रिया में रुचि आदि। इन सभी अभिप्रेरकों का मूल स्वय प्रशिक्षण में, उसके भीतर होता है।

ऐसी सरचनावाली शैक्षिक स्थिति को सोद्देश्य आकर्षणयुक्त स्थिति कहा जा सकता है। उसमें आतरिक द्वद्व नही होता। कठिनाइया उसमे भी सामने आती है जिन्हे लाघा जाना जरूरी है, इसलिए वह भी दृढ सकल्प के प्रदर्शन की अपेक्षा करती है। किंतु यह सकल्प बाह्य बाधाओ को लाघने की ओर लक्षित होता है, अपने से जूझने की ओर नही। इसलिए ऐसी स्थिति मे आतरिक मानसिक तनाव और मनस्तापीय सघर्ष उत्पन्न नही होते। अत वह शैक्षिक दृष्टि से सर्वोत्तम स्थिति है। ऐसी स्थिति बनाना अध्यापक का एक महत्त्वपूर्ण कार्यभार है जिसकी पूर्ति के लिए छात्र के व्यवहार का मात्र नियमन ही नही करना चाहिए बल्कि उसे अपने उद्देश्य रुचियां और आदर्श निर्धारित करने मे मदद भी करनी चाहिए।

कोई भी वस्तु, घटना, स्थिति अथवा क्रिया जब मनुष्य की किसी क्रियाशीलता के स्रोतो से जुडती है, तो वह सक्रियता की अभिप्रेरक बन जाती है। प्रेक्षणो और अध्ययनो से पता चला है कि सक्रियता के सभी ज्ञात स्रोत तीन मुख्य कोटियो मे बाटे जा सकते है

१ **आतरिक स्रोत** – ये मनुष्य की आवश्यकताओं के ढाचे पर निर्भर होते हैं और बहुविध हो सकते हैं – जन्मजात स्रोतो से लेकर, जो शरीर की जैव आवश्यकताओ को व्यक्त करते है और आनुवशिक कार्यक्रम की उपज होते है, अर्जित स्रोतो तक, जो सामाजिक आवश्यकताओ को व्यक्त करते है और समाज की उपज होते है।

जन्मजात आवश्यकताओ मे से क्रियाशीलता की आवश्यकता और सूचना की आवश्यकता का शिक्षा सक्रियता के उत्प्रेरण के लिए विशेष महत्त्व होता है।

इनके जैव आवश्यकताए होने का प्रमाण अधिकाश उच्चविकसित प्राणियो म तत्सबधित झुकावो की विद्यमानता से मिलता है। पशु जब भूखा प्यासा नही भी होता और हिलना-डुलना तक नही चाहता तब भी यदि उसकी क्रियाशीलता पर कोई रोक लगा दी जाये, तो वह एकाएक विरोध कर बैठेगा। इसी तरह बच्चा भी जन्म के क्षण से ही और जब वह सोया नही होता, निरतर क्रियाशील अवस्था मे रहता है – मुस्कराता है हलचल करता है, हाथ पैर चलाता है दौडता है, खेलता है, बातचीत करता है, सवाल पर सवाल पूछता रहता है। यह सारी सक्रियता सभवत उसे सतोष और आनद प्रदान करती है।

मनुष्य की सूचना की आवश्यकता (कभी कभी इसे उद्दीपन की आवश्यकता भी कहते है) तथाकथित वचन के प्रयोगो मे स्पष्टत प्रकट होती है, जब प्रयोगाधीन को कुछ समय के लिए बाह्य विश्व के प्रभावो म पूर्णत पृथक् कर दिया जाता है (किसी अधेरे, ध्वनिरुद्ध कक्ष मे, कभी कभी गुनगुने पानी से भरे टब मे भी रख दिया जाता है)। परिणामस्वरूप गभीर बौद्धिक, सवेगात्मक और ऐच्छिक दोष पैदा हो जाते हैं, जैसे असतुलन, विषण्णता, क्रोध विरक्तता, ऐच्छिक क्रियाओ को करने की क्षमता का विनाश, कभी कभी व्यवस्थित चितन

का ह्रास और विभ्रम भी। सामान्य परिस्थितियो म क्रियाशीलता तथा सूचना का अभाव (कभी कभी अतिरेक भी) मनुष्य म नकारात्मक भावनाए पैदा करता है जिन्हे थकान और ऊब कहते हैं। दूसरी ओर, क्रियाशीलता और सूचना की आवश्यकता को स्फूर्ति और जिज्ञासा कहा जाता है।

समाजजनित आवश्यकताओ मे शिक्षा सक्रियता के उद्दीपन के लिए **प्रज्ञानमूलक आवश्यकताओ और सकारात्मक सामाजिक आवश्यकताओ** का विशेष महत्त्व है। इनम ज्ञानपिपासा, समाज का हित करने की *आकाक्षा समाज जिन सफलताओ व उपलब्धियो का मूल्य करता है,* उन्हे पाने की ललक आदि शामिल है।

२ **बाह्य स्रोत** — ये मनुष्य की जीवन सक्रियता की सामाजिक परिस्थितियो की सरचना पर निर्भर होत है। क्रियाशीलता के इन स्रोतो को विवशताए कहा जाता है। मागे, प्रत्याशाए और अवसर सक्रियता की ऐसी विवशताओ की कोटि मे आते है।

मागे — ये वे सामाजिक प्रभाव है जो व्यक्ति को किन्ही खास प्रकार की सक्रियताए और व्यवहार रूप अपनान को विवश करते हैं। उदाहरण के लिए मा-बाप का आग्रह होता है कि बच्चा चम्मच से खाये मज पर बैठे, धन्यवाद" कहे वगैरह। स्कूल का आग्रह होता है कि छात्र समय पर स्कूल पहुचे कक्षा मे अध्यापक को ध्यान से सुने उसके दिये हुए काम पूरा करे। समाज की माग होती है कि व्यक्ति अपने व्यवहार म किन्ही खास नैतिक मानको व नियमो का पालन और अपने दायित्व की पूर्ति करे।

प्रत्याशाए — य व्यक्ति से समाज के वे सबध है, जो इसस ताल्लुक रखते है कि समाज उस व्यक्ति के लिए किस प्रकार के व्यवहार और सक्रियताए आवश्यक और सामान्य समझता है। उदाहरणार्थ, यह सामान्य माना जाता है कि एक वर्ष का बच्चा चलन लगेगा। उससे इसकी आशा की जाती है और तदनुरूप व्यवहार भी किया जाता है। माग के विपरीत प्रत्याशा एक सामान्य वातावरण बनाती है, व्यक्ति के व्यवहार पर सामान्य दबाव डालती है और यह प्राय आदेश से अधिक कारगर प्रेरक सिद्ध होता है।

अवसर — ये किसी सक्रियता की वे वस्तुपरक परिस्थितिया है,

जो व्यक्ति क परिवेश मे मौजूद है। उदाहरण के लिए अच्छा घरेलू पुस्तकालय व्यक्ति को पढने क लिए प्रेरित करता है क्योकि इसक लिए अवसर (पुस्तको की उपलभ्यता) मौजूद है। समस्यामूलक शिक्षण मे बच्चा अधिक सोचता है, क्योकि उसे इसके लिए अधिक अवसर मिलते है।

मनोवैज्ञानिक विश्लेपण दिखाता है कि आदमी का व्यवहार यथार्थ अवसरो पर काफी कुछ निर्भर होता है (खास तौर स अगर अभी उसका व्यक्तित्व और मूल्य जीवन उद्देश्य नही बन पाये है)। उदाहरण के लिए बच्चे को सयोगवश मिली ज्यामिति की पुस्तक उसको ज्यामिति मे ऐसी रुचि पैदा कर दे कि वह आगे चलकर गणितज्ञ ही बन जाये। कसबे मे आयी हुई नाटक-मडली किसी नन्ही बालिका पर ऐसी अमिट छाप डाल सकती है कि आगे चलकर वह महान अभिनेत्री बन जाये।

३ **वैयक्तिक स्रोत**—इनका निर्धारण आदमी के व्यक्तित्व की सरचना—उसकी रुचियो, आकाक्षाओ, मान्यताओ, विश्वासो, विश्व दृष्टिकोण, आत्मविषयक धारणाओ समाज के प्रति रुख आदि—स होता है। क्रियाशीलता के वैयक्तिक स्रोतो को मूल्य कहा जाता है और इनमे सफलता अथवा आत्मसुधार स्वाग्रह अथवा आत्माभिव्यक्ति निष्क्रियता अथवा गतिशीलता किन्ही निश्चित आवश्यकताओ की तुष्टि अथवा उनका दमन आदर्श और प्रतिमान भलाई सत्य सौदर्य, उपयोगिता, शक्तिमत्ता अथवा मौजमस्ती आदि शामिल किये जाते हैं।

शिक्षा सक्रियता के उद्दीपन के लिए **यथार्थ के अवगाहन** की प्रगाढ आकाक्ष का और वस्तुओ तथा घटनाओ का महत्त्व मानव ज्ञान सक्रिय ता अथवा मूल्यो की दृष्टि से दिखाने के प्रयासो का बहुत बडा महत्त्व है।

सक्रियता के उपरोक्त स्रोत विभिन्न सम्मिश्रणो और रूपो म हर मनुष्य मे पाये जाते हैं। किंतु उनसे उत्पन्न सक्रियता सभी के मामले मे प्रशिक्षण का रूप धारण नही करती। इसके लिए जरूरी है कि व्यक्ति की आवश्यकताए और आकाक्षाए, मागे प्रत्याशाए और अवसर उसके वैयक्तिक मूल्य और मान्यताए, यानी उसक व्यवहार क आभ्यतरिक बाह्य और वैयक्तिक उद्दीपक प्रशिक्षण के किसी एक पहलू (परिणाम

उद्देश्य, प्रक्रिया) अथवा सभी पहलुओ से जुडे। तभी य पहलू अभिप्रेरक बनगे और आवश्यक सक्रियता की ओर प्रवृत्त करग। इस प्रक्रिया को **अभिप्रेरण** कहते है। वह कैसे हासिल होगा, यह इस पर निर्भर करता है कि प्रशिक्षण के किस पहलू को अभिप्रेरक बनाया जाता और सक्रियता के किस स्रोत के साथ जोडा जाता है। उदाहरणार्थ, यदि प्रशिक्षण के परिणामो को अभिप्रेरक बनाया जाता है और प्रोत्साहन के लिए सक्रियता के आतरिक स्रोतो का सहारा लिया जाता है, तो अभिप्रेरण शैक्षिक सफलताओ को पुरस्कार, सामाजिक प्रशसा, भावी काम के लिए उपयोगिता आदि के साथ सबधित करके हासिल किया जा सकता है।

बाह्य उद्दीपको का प्रयोग बाध्यता (माग) तथा विश्वास (प्रत्याशाए) मे और समुचित परिस्थितिया व सूचना साधन (अवसर) उपलब्ध करवाने मे व्यक्त होता है। शिक्षण क परिणामो के वैयक्तिक अभिप्रेरण का एक उदाहरण इन परिणामो का व्यक्ति के आत्ममूल्याकन से जुडना (प्रशसा) हो सकता है।

अभिप्रेरण की युक्तिया और सम्मिश्र उतने ही बहुविध, बहुरूपी और व्यापक होते है जितना कि स्वय जीवन अथवा उसमे पाये जाने वाले वे उद्दीपक जो मनुष्य को सक्रियता के लिए उकसाते है और उसका रूप निर्धारित करते है।

शिक्षा सक्रियता की सरचनाए

व्यक्ति की वह विशिष्ट सक्रियता, जिसे प्रशिक्षण कहते है, कुछ खास सक्रियाओ से बनती है। सक्रियाए शैक्षिक शक्तिया तथा प्रभावो के क्षेत्र म छात्र की हैसियत पर निर्भर होती है यानी इसपर कि शैक्षिक स्थिति म उसका प्रकार्य क्या है १) बाहर से प्राप्त सूचना का निष्क्रिय ग्रहण तथा आत्मसात्करण २) सूचना की सक्रिय स्वतःखोज तथा उपयोग, अथवा ३) सूचना की बाहर स नियोजित व प्रेरित खोज तथा उपयोग।

पहले प्रसग म छात्र अध्यापक के विकासकारी प्रभावो की लक्ष्य वस्तु होता है। यहा अधिगम क मूल म छात्र को तैयार सूचना का सप्रेषण

करना और कुछ निश्चित शैक्षिक क्रियाए करने के लिए बाध्य बनाना निहित होते ह। दूसरे प्रसग मे छात्र को स्वय कर्त्ता के रूप मे लिया जाता है, जो अपने ही वर्द्धमान रुझानो और उद्देश्यो के प्रभाव से विकास करता है। यहा अधिगम के मूल म छात्र का आत्मप्रेरण और अपनी आवश्यकताओ तथा मूल्यो के अनुरूप सूचनाओ तथा क्रियाओ का चयन व खोज निहित होते है। तीसरे प्रसग मे छात्र शैक्षिक प्रभावो की लक्ष्य वस्तु के रूप मे भी और सज्ञानमूलक सक्रियता के कर्त्ता क रूप मे भी काम करता है। अध्यापक व्यवहार के बाह्य स्रोतो (मागे, प्रत्याशाए और अवसर) को यो सगठित करता है कि वे छात्र मे आवश्यक रुझान और मूल्य पैदा कर देते हैं जिनपर छात्र द्वारा आवश्यक सूचना का चयन और उपयोग निर्भर होते ह। इस प्रसग मे अधिगम व्यक्ति की सक्रियता के स्रोतो को अभीप्सित सूचना तथा क्रियाओ के चयन ससाधन व उपयोग की दिशा मे मोडने पर आधारित होता है।

शैक्षिक और शिक्षणकारी क्रियाओ के भेद

उपरोक्त तीन प्रकार्यो के अनुरूप बुनियादी शैक्षिक क्रियाए भी तीन प्रकार की होती है। शिक्षण के पहले रूप–सप्रेषण म चूकि प्रमुखता तैयार सूचना के अतरण को प्राप्त होती है इसलिए प्रशिक्षण ऐसी क्रियाओ पर आधारित होता है, जैस अनुकरण, शब्दश अथवा अर्थानु सार ग्रहण व पुनरावृत्ति और तैयार प्रतिमानो व नियमो के अनुसार अभ्यास। शिक्षण के दूसरे रूप–आत्मप्ररण म प्रमुखता सहज स्वय शिक्षण को प्राप्त होती है। इसम प्रशिक्षण का आधार ऐसी क्रियाए बनती हैं, जैसे प्रश्नो और कृत्यका का चयन, सूचना और सामान्य सिद्धातो की खोज, स्वनिर्णय व अर्थावबोधन और सृजनात्मक सक्रियता। अत म, शिक्षण क तीसरे रूप–निदेशन मे चूकि निदेशित सज्ञानमूलक सक्रियता जरूरी होती है, इसलिए उसम प्रशिक्षण एसी क्रियाओ पर आधारित किया जाता है, जैस कृत्यको कार्यभारो की पूर्ति तथा परिणा मो का मूल्याकन, प्रयत्न और त्रुटिया, प्रयोग करना सामान्य सिद्धाता व सकल्पनाओ का चयन व उपयोग आदि।

ऊपर जितनी भी शिक्षणकारी क्रियाओ का उल्लेख किया गया है

उनमे से प्रत्यक म छात्र की सक्रियता क नियत्रण की अपनी रीतिया, अपनी सकल्पनाए और अपनी शिक्षण विधिया होती है। उदाहरण के लिए, तैयार सूचना का अतरण शिक्षण की उस सकल्पना मे व्यक्त होता है जिसे अध्ययन कहते है। इसकी विशिष्ट विधिया है बताना, समझाना, निदर्शन और कृत्यक देना। सहज स्वयशिक्षण उद्दीपन की सकल्पना को जन्म देता है। इसमे रुचि जागृत करना, आश्चर्यचकित करना जिज्ञासा जगाना जैसी विधिया इस्तेमाल की जाती है। अत मे शिक्षणकारी क्रियाओ का वह रूप आता है, जिसे निदेशित सज्ञान मूलक सक्रियता कहत है और जो शिक्षण की सकल्पना को निदेशन के रूप मे व्यक्त करता है। इसकी विशिष्ट विधिया है समस्याए और कृत्यक पेश करना, सयुक्त विचार विमर्श व बहस, सयुक्त रूप से योजना बनाना, परामर्श आदि।

§३ शिक्षण की प्रक्रिया पर प्रभाव डालनेवाले कारक

शैक्षिक स्थितिया शिक्षण की सकल्पनाए, शैक्षिक व शिक्षण कारी क्रियाए और शिक्षा सक्रियता के अभिप्रेरक व स्रोत कितने भी बहुविध क्या न हो उनमे कुछ समान तत्त्व भी है। उन सबका अतिम उद्देश्य है छात्र की मेहनत को शिक्षणोन्मुख बनाना। शैक्षिक लक्ष्य की ओर निर्दिष्ट मेहनत के अभाव म प्रशिक्षण असभव है। किसी भी सोद्देश्य प्रशिक्षण के इस सार्विक घटक को हृदयगमन कहते है।

हृदयगमन के आभ्यतरिक कारक। ध्यान और सदर्भ बिंदु

हृदयगमन की पहली शर्त यह है कि जिसे जाना और आत्मसात् किया जाना है वह मानस मे प्रतिबिंबित हुआ होना चाहिए और उसे बाह्य जगत तथा मनोजगत क अन्य सभी प्रत्यक्षीकृत पक्षो से पृथक किया जाना चाहिए। जिस सूचना का अस्तित्व नही है उसका आत्म सात्करण और विश्लेषण सश्लेषण नही किया जा सकता। हृदयगमन तभी सभव है जब हृदयगम करन क लिए कुछ हो।

अध्यापक के कक्षा मे बोलना दिखाना, निर्देश और अपेक्षाए – ये उन सकेतो का एक ही हिस्सा है, जो छात्र तक पहुचते है। इसके साथ "बाहर से तरह-तरह के "शोर-शराबे" की जबर्दस्त बाढ आती रहती है, जैसे अन्य छात्रो का व्यवहार, अध्यापक का बाह्य रूप खिडकी के बाहर टहनी पर बैठी चिडिया, गलियारे मे आहटे और अनगिनत अन्य छोटी मोटी घटनाए, जो कक्षा के कमरे के सूक्ष्म विश्व मे निरतर घटती रहती है। दूसरी ओर "अदर से" भी यादे प्रत्याशाए आशकाए और सोच विचार आडे आते रहते है। इसके अलावा अध्यापक जो दिखा या बता रहा होता है, उसमे भी कभी कभी बहुत सी गौण, दत्त क्षण के लिए अनावश्यक सूचनाए होती है। कितु मनोवैज्ञानिक प्रयोग दिखाते है कि आदमी एक समय मे काफी कम वस्तुए (५ से ६ तक) ही ग्रहण कर पाता है। शेष सब या तो धुधली पृष्ठभूमि बनकर रह जाती है या मनुष्य को उनका बिल्कुल भी भान नही हो पाता।

कुछ वस्तुए घटनाए अथवा गुणधर्म मानस को सक्रिय बना सकते है, जो ध्यान के रूप मे प्रकट होता है। इसका कारण यह है कि ये वस्तुए घटनाए और गुणधर्म मानस की सक्रियता के आभ्यतरिक स्रोतो – सूचना की भूख, व्यक्ति की अन्य आवश्यकताओ उसके सामाजिक रुझानो और उद्देश्यो – से सबधित होते है। मनोविज्ञानवेत्ता सूचना के चयन समाधन और उपयोग मे मनुष्य के व्यक्तित्व की अभिव्यक्तियो को अभिविन्यासक नाम देते है। अनेकानेक प्रयोग और प्रेक्षण दिखाते है कि शिक्षा सक्रियता मे व्यक्ति के सदर्भ बिदुओ का बहुत बडा और कभी कभी तो निर्णायक महत्त्व होता है। उदाहरण के लिए एक प्रयोग मे छात्रो के दो समूहो को कोई सामग्री याद करने के लिए दी गयी – याद करने का तरीका और जितनी बार सामग्री को दोहराया जा सकता था, वह दोनो ही समूहो के लिए समान था। एक समूह को बता दिया गया कि जाच से ऐन पहले उन्हे सामग्री फिर दोहराने का अवसर नही दिया जायेगा। दूसरे समूह मे कहा गया कि उसे ऐसा अवसर मिल सकेगा। इसके बाद एकाएक दोनो समूहो की जाच की गयी। पता चला कि जिन छात्रो को जाच से पहले दोहराने का एक और अवसर पाने की उम्मीद थी उन्होने काफी खराब परिणाम दिखाया क्योकि उन्होने जाच पूर्व अवसर पर भरोसा किया हुआ था यानी उस अभिविन्या

सब बनाया हुआ था। अध्ययन बताते है कि अभिविन्यासक याद करने की अवधि दृढता और स्वरूप को निर्धारित करता है। जब छात्र "केवल परीक्षा के लिए पढता है, तो उसका ज्ञान परीक्षा-कक्ष से बाहर आने तक ही बना रहता है। जब पढाई का अभिविन्यासक मोटे तौर पर हृदयगम करना हो तो ज्ञान भी स्थूल ही होगा। इतना ही नही, जब कोई अभिविन्यासक नही होता, तो प्राय पाया गया है कि सामग्री का हृदयगमन भी कतई नही हो पाता।

इस प्रकार पढाई मे ध्यान और अभिविन्यासक की समस्या अभिप्रेरण की समस्या है। ध्यान और अभिविन्यासक, दोनो ही छात्र की मानसिक और व्यावहारिक सक्रियता की निश्चित अभिमुखता – परिणाम, उद्देश्य और प्रशिक्षण प्रक्रिया की ओर अभिमुखता – की बाह्य अभिव्यक्ति है। ऐसी अभिमुखता प्रशिक्षण के इन मुख्य पहलुओ को व्यक्ति की सक्रियता के आभ्यतरिक, बाह्य और वैयक्तिक निर्धारको से जोडकर हासिल की जाती है।

हृदयगमन के बाह्य कारक। शिक्षा सामग्री की अतर्वस्तु और रूप

किसी भी अन्य सक्रियता की भाति प्रशिक्षण मे भी परिणाम केवल आत्मपरक कारको (विषय के प्रति छात्र का रुख) पर नही, अपितु वस्तुपरक कारको (हृदयगम की जा रही सामग्री के गुणधर्म) पर भी निर्भर होते है। मनोविज्ञानवेत्ताओ और शिक्षाशास्त्रियो ने प्रशिक्षण के इस पहलू के सबध मे अनेकानेक अध्ययन करके बहुत सारी तथ्यात्मक और प्रयोगात्मक सामग्री एकत्र की है। इस सामग्री का विश्लेषण शिक्षा सामग्री के उन लक्षणो के निरूपण मे सहायक होता है जो उसके हृदयगमन को प्रभावित करती है।

शिक्षा सामग्री का ऐसा पहला लक्षण है उसकी अतर्वस्तु। हृदयगम किये जाने का विषय यथार्थ तथ्य भी हो सकते हैं और सामान्यीकृत ज्ञान सकल्पनाए सिद्धात नियाए सक्रियाए, योग्यताए और दक्षताए भी। सामग्री का इनमे से कौन सा रूप हृदयगम किये जाने का विषय बनता है इसी पर अधिगम की सरचना, प्रशिक्षण की विधिया और शिक्षण की रीतिया लगभग पूरी तरह निर्भर होती है। जैसा कि बहुत से

सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओ के अनुसधानो न दिखाया है प्रशिक्षण की सरचना और स्वरूप इसपर भी निर्भर होते हैं कि सबधित तथ्यो सकल्पनाओ दक्षताओं और योग्यताओ का सबध ज्ञान और सक्रियता के किस क्षेत्र से है। अकगणित के नियमो का हृदयगमन व्याकरण के हृदयगमन से भिन्न प्रेक्षण और बौद्धिक व व्यावहारिक सक्रियता के तरीको से सबध रखता है। इसी तरह साहित्य भौतिकी और अन्य शिक्षा विषयो के (यहा तक कि एक ही विषय के अलग अलग भागो के भी) हृदयगमन के तरीको म भी भेद है।

शिक्षा सामग्री का **दूसरा लक्षण** है उसका रूप। वह **यथार्थपरक** भी हो सकता है, यानी जब शिक्षण यथार्थ वस्तुओं अथवा सक्रियताओं के आधार पर सपन्न होता है और **प्रबोधात्मक** भी यानी जब शिक्षण विशेषत तैयार किये गय और व्यवस्थित शिक्षा वस्तुओं और कृत्यको के आधार पर सपन्न होता है। शिक्षा सामग्री का रूप **वस्तुमूलक, वाक् मूलक, बिबात्मक और प्रतीकात्मक** भी हा सकता है। शिक्षा सामग्री को प्रस्तुत करने का इनमे प्रत्येक रूप एक प्रकार की **भाषा** होता है, जो सूचना – सकतमूलक, अथमूलक मूल्यसबधी अथवा आदशपरक – के सप्रेषण के साधन का काम करती है। सोवियत व विदेशी मनो विज्ञानवेत्ताओ के अध्ययनो न दिखाया है कि जो भाषा चुनी गयी है उसकी प्रभाविता दो कारको पर निर्भर है एक तो इसपर कि वह भाषा हृदयगम की जा रही सामग्री के स्वरूप के अनुरूप है या नही और दूसरे इसपर कि छात्र सूचना के सूत्रीकरण की दत्त विधि म कितना पारगत है और यह भाषा छात्र के चितन के ढाच के कितनी अनुरूप है।

मिसाल के लिए, प्रयोग दिखाते है कि उच्च शिक्षा सस्थाओ के छात्र किशोर और यहा तक कि ७ ८ वर्ष के बच्च भी समुच्चय सिद्धात की मूलभूत सकल्पनाओ को आत्मसात करन मे समथ होत हैं। किंतु इसके लिए बच्चो के सामने उक्त सकल्पनाए वस्तु क्रियामूलक रूप म (वस्तुओं और क्रियाओं की भाषा म) और किशोरो क सामने गणि तीय वस्तुओ के साथ ठोस सक्रियाओ के रूप मे (बिंबो और सक्रियाओ की भाषा म) प्रस्तुत की जानी चाहिए जबकि उच्च शिक्षा सस्थाओ क छात्रो के लिए सबधित सूचना सप्रेषण क वाक्मूलक और प्रतीका त्मक रूप ही काफी होग। (बेशक इसका यह अर्थ नही कि समुच्चय

सिद्धात की सकल्पनाओ के सूत्रीकरण का प्रतीकात्मक रूप बच्चो की पहुच के कतई बाहर है। किंतु जब तक वे इस भाषा मे पारगत नही होते तब तक उन्हे उपरोक्त सकल्पनाओ का परिचय वस्तुओ और क्रियाओ की भाषा मे ही देना पडता है।)

शिक्षा सामग्री का **तीसरा लक्षण** है उसकी **कठिनाई**, जो हृदयगमन की कारगरता गति और सटीकता को प्रभावित करती है। सामग्री के कठिन या सरल होने से सामान्यत तात्पर्य यह होता है कि एक सामग्री छात्रो द्वारा अपेक्षया जल्दी और कम रिक्तियो और त्रुटियो के साथ सीख ली जाती है और दूसरी धीरे धीरे और कही ज्यादा रिक्तियो तथा त्रुटियो के साथ। अध्ययनो ने दिखाया है कि शब्दो और वाक्यो को अच्छी तरह सीख व याद करने की कठिनाई का सवाल स्वय शब्दो और वाक्यो के अर्थ से उतना नही जुडा होता है जितना कि उनके सदर्भ से। उदाहरण के लिए उसने खिडकी के पास जाकर बाहर सडक की ओर झाका। वहा लोगो और मोटरगाडियो का ताता लगा हुआ था। शाम हो गयी थी —इसे याद रखना कही आसान है बजाय इसके कि उसने खान के पास पहुचकर अपने को देखा। बाहर लोग आ जा रहे थे और मशीने रग रही थी। वातावरण गुजायमान था । इसका कारण यह है कि पहले प्रसग मे परवर्ती शब्दो और वाक्यो का काफी हद तक पहले से अनुमान लगाया जा सकता है जबकि दूसरे प्रसग मे यह काफी अधिक कठिन है। इसी कारण अर्थहीन पाठ को याद करना भी कठिन होता है चाहे उसमे सभी शब्द जाने पहचाने ही क्यो न हो जैसे पास लोगो शाम, खिडकी ताता, जाकर वगैरह। *तब तो कुछ समझना, याद रखना बिल्कुल ही असभव होता है,* जब शब्दो को अर्थहीन हिज्जो मे तोड दिया जाता है, जैसे 'पा, गो, शा खि ता र वगैरह। हर परवर्ती घटक की अननुमेयता और ऐसे अननुमेय सिलसिलो की सख्या बढते जाने के साथ हृदयगम करने की कठिनाई भी स्पष्टत बढती जाती है। अथवा, उदाहरण के लिए इस सख्या श्रेणी को ले १३, १६, २५ ३१ ३७, ४३, ४६, ५५, ६१ ६७। इसे रट लेने के लिए कुछ ही बार दोहराना काफी होगा। लेकिन अगर पता है कि हर परवर्ती और पूर्ववर्ती घटक के बीच छह का फर्क है और श्रेणी १३ से शुरू होकर दस घटको के बाद खत्म हो

जाती है तो इतनी सूचना इसके लिए पर्याप्त होगी कि हर अगली सख्या का सही अनुमान लगाया जा सके।

परवर्ती घटक की आंशिक अथवा पूर्ण अनुमेयता इसपर निर्भर होती है कि सीखी-याद की जा रही सामग्री मे कोई न्यूनाधिक स्पष्ट नियमानुवर्तिताए हैं कि नहीं। ये नियमानुवर्तिताए अनुभव म (कारण क्रम), तथ्यो मे (ज्ञात क्रम) सकल्पनाओ, सिद्धातो (नियम) आदि मे प्रतिलक्षित हो सकती है। वे सभावित विकल्पो के आकारिक प्रतिबधो से भी सवधित हो सकती हैं जैसे लय, पक्ति की लबाई, तुक आदि के साथ। सभवत यही कारण है कि कविताए इतनी आसानी से याद हो जाती है।

सूचना सिद्धात की एक महत्त्वपूर्ण प्रस्थापना है **सामग्री मे क्रमबद्धता यानी नियमानुवर्तिता जितनी ही ज्यादा होगी, उसका हर घटक अपने मे, औसतन, उतनी ही कम सूचना लिये हुए होगा।** इससे निष्कर्ष निकलता है कि शिक्षा सामग्री का कोई हर घटक अपने म जितनी ही ज्यादा सूचना लिये होगा उसे याद करना उतना ही कठिन होगा। किसी सामग्री मे कितनी सूचना निहित है इस विषय म अलग-अलग लोगो के अलग अलग मापदड हो सकते है। उदाहरण के लिए वोल्गा कैस्पियन सागर म गिरती है'—इसमे वयस्को के लिए कोई नयी बात नयी सूचना नही है। किंतु जिस बच्चे ने यह तथ्य पहली बार पढा है उसके लिए उसम नयी सूचना है। अत कोई शिक्षा सामग्री अपने मे जो सूचना लिये होती है, उसका कम या ज्यादा होना बहुत हद तक छात्र के पूर्व ज्ञान अनुभव और योग्यताओ पर निर्भर करता है। इसलिए स्पष्ट है कि **किसी शिक्षा सामग्री का कठिन होना, अन्य परिस्थितिया समान होने पर, उसके साथ छात्र के पूर्व अनुभव, ज्ञान और योग्यताओ के सबध से निर्धारित होता है।** सामग्री छात्र के लिए जितनी ही ज्यादा परिचित होगी उसे हृदयगम करना उतना ही आसान होगा अथवा विपरीत क्रम मे।

चौथा लक्षण, जो शिक्षा सामग्री के हृदयगमन को प्रभावित करता है वह है सामग्री का **महत्त्व**। महत्त्व का तात्पर्य है दत्त सामग्री म निहित सूचना की छात्र के लिए आवश्यकता। कुछ तथ्य अथवा क्रियाए अपन आप मे अथवा अगली सामग्री के आत्मसात्करण की दृष्टि स आवश्यक

हो सकते है। वे किसी ऐसे कृत्यक की पूर्ति के लिए आवश्यक हो सकते हैं जिससे छात्र को आगे चलकर सीखना पड़ेगा। वे छात्र के व्यवहार अथवा व्यक्तित्व के निश्चित गुणों के विकास की दृष्टि से भी आवश्यक हो सकते हैं। इस प्रकार 'महत्त्व' की संकल्पना में ज्ञान के प्रवर्ग का भी समावेश होता है, उपयोगिता के प्रवर्ग का भी और मूल्य के प्रवर्ग का भी। महत्त्व ज्ञानमूलक, व्यावहारिक, नैतिक, सौंदर्यपरक, सामाजिक और शिक्षापरक कुछ भी हो सकता है।

उल्लेखनीय है कि शिक्षा सामग्री के सामान्यतः महत्त्वपूर्ण होने के साथ-साथ उसका स्वयं छात्र के लिए भी महत्त्व रखना जरूरी है, अर्थात् उसमें छात्र की आवश्यकताएं प्रतिबिंबित होनी चाहिए। तभी वह उसे सफलतापूर्वक हृदयंगम कर सकेगा। सामग्री को छात्र के लिए महत्त्वपूर्ण बनाने के वास्ते क्या विधियां इस्तेमाल की जाती हैं, यह अधिगम के सारतत्त्व के बारे में दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। कुछ मनोविज्ञानवेत्ता सबल को मुख्य साधन मानते हैं, दूसरे पुरस्कार को, तीसरे रुचि को, चौथे व्यावहारिक अथवा संज्ञानमूलक सक्रियता को, पांचवें आत्माभिव्यक्ति को, आदि। किंतु इन सभी संस्तुतियों का सार एक ही है–ऐसा रास्ता खोजना, जिससे कि बतायी जा रही सूचना छात्र के लिए अर्थवान, महत्त्वपूर्ण बन सके।

इसी से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ पांचवां लक्षण है–बोधगम्यता। प्रेक्षण और प्रयोग बताते हैं कि बोधगम्य सामग्री बेहतर (आसानी से, जल्दी और बहुत कम त्रुटियों के साथ) हृदयंगम की जाती है। ऐसी सामग्री दिमाग में ज्यादा देर तक और पूर्णतर रूप में भी याद रहती है। बोधगम्य का क्या तात्पर्य है? क्या छात्र, मिसाल के लिए, गणित की पुस्तक में दी गयी इस परिभाषा को समझता है: "यदि किसी वृत्त का अर्धवृत्त अ उसका दायां आदर्श भी होता है और बायां आदर्श भी, तो इस अर्धवृत्त को वृत्त का **द्विपक्षी आदर्श** कहते हैं"? संभवतः यह छात्र के ज्ञान पर निर्भर करेगा। यदि वह समूह सिद्धांत जानता है अथवा कम से कम समझता है कि 'वृत्त', 'अर्धवृत्त', 'दायां और बायां आदर्श' क्या होते हैं, तो उपरोक्त परिभाषा उसके लिए बोधगम्य होगी। अन्यथा वह उसके लिए काला अक्षर भैंस बराबर रहेगी।

इस प्रकार शिक्षा सामग्री की बोधगम्यता उसका आत्मसात्करण के कर्त्ता से निरपेक्ष, असपृक्त लक्षण नही है। बोधगम्यता इसपर निर्भर करती है कि छात्र उन सकल्पनाओ, तथ्यो और क्रियाओ से परिचित है कि नही जो सामग्री के विभिन्न घटको को समझने और उनके बीच सबध निरूपित करने के लिए आवश्यक है। इसके अलावा बोध गम्यता की विभिन्न मात्राए भी हो सकती हैं कोई ऐसी चीज ऐसी कहलाती है" जैसी अस्पष्ट समझ से लेकर सपूर्ण उपलब्ध सूचना को स्पष्ट ढग से पुनर्व्यवस्थित करने की क्षमता तक। स्वय बोधगम्यता और उसकी मात्रा एक ओर नयी सामग्री और दूसरी ओर छात्र के अनुभव, ज्ञान, योग्यताओ तथा उसे ज्ञात क्रियाओ व सक्रियाओ के बीच मौजूद सबधो पर निर्भर होती हैं।

शिक्षा सामग्री का अगला छठा लक्षण है उसकी सरचना। यह कारक पूर्ववर्ती कारक से घनिष्ठ रूप से जुडा हुआ है। बोधगम्यता नय अज्ञात के ज्ञात से सबधो पर निर्भर होती है। सामग्री की सरचना जिस ढग से उसमे ये सबध कायम किये जाते हैं, उसे कहते है। उदाहरण के लिए, गुणन की क्रिया की समझ योग की क्रिया की समझ और उसे करने की योग्यता पर अवलबित होती है। गुणन की क्रिया को यो समझा जाता है कि जैसे वह समान सख्याओ का कई बार योग करना है (३×४= ३+३+३+३)। नयी क्रिया (गुणन) का ज्ञात क्रिया (योग) से सबध कई प्रकार से दर्शाया जा सकता है। कई बार जोडने की मिसालो से शुरू करके गुणन की सकल्पना तक पहुचा जा सकता है। अथवा गुणन की परिभाषा से शुरू करके दर्शाया जा सकता है कि कैसे वह कई बार जोडने की क्रिया के ही बराबर है। पहला तरीका सामग्री की आगमनात्मक सरचना देगा और दूसरा निगमनात्मक सरचना। यह सामग्री की आकारपरक, अर्थात तार्किक सरचना है।

सबध सकल्पनाओ के बीच ही नहीं वस्तुओ बिबो परिघटनाओ के बीच भी स्थापित किये जा सकते है जैसे उदाहरण के लिए समानता और अतर निकटता और दूरी पहले और बाद कारण और परिणाम। ये भौतिक, मानसिक अथवा अन्य प्रकार क सबध होग। यह सामग्री की अतर्वस्तुमूलक अथवा अर्थमूलक सरचना है।

अतत , सबध किसी भाषा के नियमो उसक निश्चित नात

सहसबधो तथा सयोगो के आधार पर भी स्थापित किये जा सकते हैं। मिसाल के लिए गुणन तालिका यो ही हृदयगम की जाती है। यह सामग्री की विन्यासात्मक सरचना होगी।

किसी भी सरचना को अन्य सरचनाओ से बेहतर नही पाया गया है। किंतु प्रयोगो से पता चला है कि किसी भी सामग्री का हृदयगमन उसकी सरचनात्मकता बढने, अर्थात उसके विभिन्न हिस्सो के तार्किक, अर्थमूलक और विन्यासात्मक सबध बढने के साथ आसान बन जाता है। सामग्री के नये और पुराने के बीच ऐसे सबध जितने ज्यादा होगे, उतने ही घनिष्ठ रूप से बाद का हिस्सा पहले के हिस्से से जुडा होगा और सीखना-याद करना उतना ही आसान बनेगा। यही कारण है कि क्रमबद्धता शिक्षण का एक बुनियादी सिद्धात है। प्रयोगो से पता चला है कि निरूपित एकागी सबध जटिल, बहुस्तरीय, बहुत कडियोवाले सबधो के मुकाबले अधिक सरलता से हृदयगम कर लिये जाते हैं। शायद यही कारण है कि बहुत से गणितीय प्रमेयो, प्रमाणो और विधियो को सीखने-याद करने म छात्र कठिनाई अनुभव करते है। कठिनाई तब भी पैदा होती है, जब सबध स्पष्टत निर्दिष्ट न होकर तथ्यात्मक और वर्णनात्मक सामग्री की आड मे छिपे होते है। ऐसा इतिहास और भूगोल की सामग्री को याद करते वक्त प्राय होता है। हृदयगमन मे थोडी-बहुत भूमिका सामग्री के विभिन्न भागो के विन्यास की भी होती है। मिसाल के लिए, शुरू और अतवाले हिस्से जल्दी याद हो जाते है और बीचवाले हिस्से बाद मे। सहवर्ती घटको मे सबध ज्यादा मजबूती से कायम हो जाता है, बजाय दूरवर्ती घटको के।

शिक्षा सामग्री के हृदयगमन पर प्रभाव डालनेवाला सातवा कारक है इस सामग्री का **परिमाण**, यानी उसमे सीखी-याद की जानेवाली चीजो की सख्या। अर्थहीन सामग्री मे सीख-याद किये जानेवाले घटको की सख्या का पता करना कठिन नही होता। यदि अर्थहीन अक्षर याद किये जाते है, तो यह ऐसे अक्षरो की ही सख्या होगी (बेशक शर्त यह है कि उन सब मे एक ही जितने वर्ण अथवा ध्वनिया हो)। राशिया याद करने म यह राशि म सम्मिलित अको की सख्या अथवा राशियो की सख्या होगी (यदि उन सब मे एक जितने अक हैं)। कठिनाई उस सामग्री का परिमाण तय करने म होती है, जिसम अर्थ को ध्यान

यदि शिक्षा सामग्री हृदयगमन की आधारभूत पूर्वापेक्षा है और आन रिक अभिविन्यासक शर्त है तो पुनरावृत्ति और अभ्यास उसके मुख्य साधन होंगे। वे आत्मसात् की जा रही सामग्री और क्रियाओं के स्मृति और व्यवहार में स्थिरीकरण के लिए आवश्यक हैं। किंतु बहुत से प्रयोगों और अध्ययनों से पता चला है कि बार-बार दोहराने से वाछित परिणाम नहीं भी निकल सकता है। विशेषत यह पाया गया है कि यदि छात्र को क्रियाओं के परिणामों के बारे में बताया नहीं जाता, उनके गलत या सही होने पर उसका ध्यान नहीं दिलाया जाता तो वह उन क्रियाओं को कितनी ही बार दोहरा ले इससे कोई लाभ नहीं होगा, कोई सुधार नहीं आयेगा। फलस्वरूप, पुनरावृत्ति सूचना को मस्तिष्क में अंकित करने के लिए ही नहीं बल्कि ज्ञान और क्रियाओं को अधिक सटीक व परिष्कृत करने के लिए भी की जानी चाहिए। पुनरावृत्ति प्राप्त परिणामों की जाच व सुधार का साधन है। इसके अलावा यह शिक्षा सामग्री के विभिन्न घटकों के आपसी और छात्र के अनुभव के साथ नये-नये सबधों को जानने का साधन भी है। पहले के फलस्वरूप सामग्री में निहित सूचनाओं की सख्या में कमी आती है और दूसरे की बदौलत यह सूचना अधिक सारगर्भित बनती है।

इस प्रकार पुनरावृत्ति दोहरी भूमिका अदा करती है। एक तो वह सूचना में कटौती, कमी करती है और उसे छात्र के अनुभव में समाविष्ट कर देती है और दूसरे वह स्वय हृदयगमन के परिणामों के बारे में सूचना पाने की सभावना प्रदान करती है। इसलिए सीखने याद करने में सहायक सक्रिय पुनरावृत्ति एक ही चीज को कई बार एक ही तरह से समझना पढना या करना नहीं है। सक्रिय पुनरावृत्ति में छात्र का मान सिक रूप से हर बार कुछ भिन्न नयी सामग्री से साक्षात्कार होता है—नयी इसलिए कि बौद्धिक ससाधन उसे समृद्धतर बना देता है और उसमें वे सबध भी उजागर हो जाते हैं, जो पहले ज्ञात नहीं थे।

अधिगम की गति प्रतिपुष्टि के आधार पर नियमित होती है, यानी परिणामो की नियमित अथवा नियतकालिक जाच होती रहती है। शिक्षण मे ऐसी जाच का मुख्य साधन छात्रो के उत्तर व क्रियाए, उनके सही होने की मात्रा और गलतियो की सख्या होती है। शैक्षिक सक्रियता की कारगरता का नियमन काफी हद तक १) छात्रो द्वारा सही उत्तर व क्रियाओ की खोज, २) त्रुटियो के सकेतन, ३) इन त्रुटियो के सुधार और ४) गलतियो पर अध्यापक की प्रतिक्रिया के तरीको और रूपो पर निर्भर होता है।

जैसा कि शिक्षण के सिद्धात और व्यवहार का विश्लेषण दिखाता है छात्र द्वारा उत्तर की खोज स्वत निमाण (छात्र द्वारा उत्तर का स्वय निरूपण) अथवा विकल्प के चयन (कई प्रस्तावित तैयार उत्तरो मे से किसी एक सही उत्तर का चयन) का रूप ले सकती है।

त्रुटियो को बताने के तरीके है **प्रत्यक्ष सकेतन** (त्रुटिया सीधे सीधे बताना) और **अप्रत्यक्ष सकेतन** (छात्र द्वारा अपन उत्तर की सही उत्तर के साथ तुलना करके त्रुटिया मालूम करना)।

त्रुटि सुधार **तत्काल सशोधन** (सही उत्तर तुरत बताना) **अत मे सशोधन** (सभी प्रश्नो का उत्तर पा लेने के बाद ही सही उत्तर बताना) सहायता (अतिरिक्त सूचनाए और तथ्य बताना जो त्रुटियो को समझने व सुधारने मे सहायक हो सके) अथवा **खोज** (त्रुटि का सकत मिलते ही स्वय सही उत्तर की खोज) द्वारा किया जा सकता है।

अधिगम के नियमन की किसी भी विधि को सार्विक या सर्वोत्तम नही कहा जा सकता। कुछ प्रबोधात्मक कृत्यको के निष्पादन मे अधिक कारगर सिद्ध होती है, तो कुछ अन्य कृत्यको के निष्पादन मे। इससे शिक्षण की प्रक्रिया का कार्यक्रम बनाने और नियमन करने मे इन विधियो के इष्टतम सम्मिश्रण की समस्या उत्पन्न हो जाती है।

अध्याय ८*

शिक्षण के मुख्य भेदो का मनोविज्ञान

§१ दक्षता का शिक्षण

शिक्षण का एक महत्त्वपूर्ण भेद है वस्तुओ या यथार्थ परिस्थितियो के सकेतमूलक गुणधर्मों तथा व्यक्ति की प्रत्युत्तरात्मक क्रियाओ के बीच अनुकूलित परावर्ती सबधो की स्थापना। इन सबधो की विशिष्टता यह है कि वे व्यावहारिक अनुभव से उत्पन्न होते हैं तथा बाह्य अथवा आतरिक परिस्थितियो के प्रभाव मे स्वत 'क्रियाशील' हो जाते हैं। अनुकूलित परावर्ती सबधो की ऐसी प्रणालिया ही दक्षताओ के मूल मे निहित होती है और ये दक्षताए अधिकाशत अचेतन रूप से, स्वत ही क्रियाओ मे प्रकट होती है। ये दक्षताए क्रियाओ के निश्चित पक्ष–गतिप्रेरक पूर्ति सवेदी नियत्रण तथा केंद्रीय (मानसिक) कडी–का नियमन करती हैं।

कार्यकलापो मे दक्षताओ की भूमिका

उपरोक्त प्रकार्यों मे से प्रत्येक की सिद्धि मनुष्य सचेतन या अचेतन रूप से करता है। उदाहरणत शब्द का उच्चारण करने के लिए कठ की गतियो की प्रणाली की मनुष्य को चेतना नही होती। नियमत किसी भी गति के लिए मासपेशियो मे जो सकुचन, आदि होता है, उस सबकी मनुष्य को कोई चेतना नही होती। परतु मनुष्य जिस शब्द का

---

* इस अध्याय का अनुवाद श्री योगेंद्र नागपाल ने किया है। —स०

उच्चारण करने जा रहा होता है, उसकी ध्वनि का पूर्वाभास उसकी चेतना मे होता है। नियमत **क्रियाओ के अतिम लक्ष्यो** तथा **उनके सामान्य स्वरूप** की चेतना होती है। जैसे कि मनुष्य अचेतन अवस्था म कार नही चला सकता। कुल जमा यह बात उसके मस्तिष्क म होनी चाहिए कि वह कहा, किस रास्ते से, किस रफ्तार से जा रहा है। यही बात किन्ही भी श्रममूलक क्रीडामूलक तथा अन्य क्रियाओ पर लागू होती है।

सो एक ओर तो **मनुष्य की कोई भी क्रिया पूर्णत स्वचालित नहीं होती**, क्योकि कार्यकलाप के एक घटक के नाते अतत यह सचेतन उद्देश्य से ही प्रेरित और नियन्त्रित होती है। दूसरी ओर वस्तुत मनुष्य की प्रत्येक क्रिया दक्षताओ की बदौलत अशत स्वचालित होती है क्योकि मनुष्य को कभी भी क्रिया के नियमन पूर्ति और नियत्रण के सभी तत्त्वो (जैसे कि मासपेशियो के आवश्यक सकुचनो) की चेतना नही होती। आशिक स्वचालीकरण बहुत महत्त्वपूर्ण होता है क्योकि इससे किसी भी कार्यकलाप की **पूर्ण पूर्ति सरल** होती है। उदाहरणत साइकिल को सतुलित रखने की गतिया स्वचालित होने के फलस्वरूप साइकिल-सवार सडक पर यातायात, सडक के उतार चढाव घुमाव आदि की ओर अधिक ध्यान दे सकता है और इस तरह अपनी क्रियाओ का अधिक सचेतन नियमन कर सकता है। पियानोवादक की गतिया के स्वचालित होने से वह अपना वादन कौशल बढा सकता है। क्रिया के कतिपय पक्षो के स्वचालीकरण से उसकी सरचना परिवर्तित परिष्कृत होती है।

दक्षताओ का सबध सदा क्रियाओ की पूर्ति की **युक्तियो** स होता है, उसके उद्देश्य और परिस्थितियो से नही। स्वचालीकरण के फलस्वरूप चेतना गतिप्रेरक सवेदी और बौद्धिक सक्रियाओ की पूर्ति पर नियत्रण से मुक्त हो जाती है, जिनसे मिलकर ही क्रिया बनती है। इस दृष्टि से क्रिया की **पूर्ति** स्वचालित होती है। परन्तु वे **उद्देश्य**, जिनके लिए क्रिया होती है, वे **परिस्थितिया**, जिनम क्रिया होती है, और उसके **परिणाम** भी चेतना के क्षेत्र म बने रहते है और अग्रभूमि म आ जाते हैं। इस दृष्टि से क्रिया की पूर्ति **अधिक सचेतन** बनती है।

क्रिया के जो पहलू आशिक रूप से स्वचालित होते हैं उनके अनु

गार ही दक्षताओ म विभिन्न भद मान जात है। दक्षताए सवेदी हो सक्ती हैं। इनक उदाहरण है पढत समय अक्षरा व रूपा म भेद, सुनन समय स्वनिमो म भेद इजन चालक द्वारा सुनत हुए इजन के काय पर नियत्रण रखना ड्राइवरो पायलटो द्वारा देखत हुए दूरी और रफ्तार का अनुमान लगाना रमार द्वारा छूकर समद्र की गुणवत्ता निर्धारित करना, आस्वादक द्वारा चखकर खाद्य पदार्थ की किस्म निर्धारित करना।

जब मासपशिया का कार्य स्वचालित होता है, तो इस गतिप्रेरक दक्षता कहा जाता है। इसक उदाहरण हैं टाइपिस्ट द्वारा की-बोर्ड की ओर देख बिना ही टाइप करना पियानोवादक द्वारा पियानो की स्वरकुजिकाओ की ओर देखे बिना ही वादन करना, साइकिल मोटरसाइकिल चलाना आदि। यदि दोनो तरह क कार्यो का मल हो अथात जब गतिप्रेरक कार्य दृष्टि अथवा श्रवण शक्ति के नियत्रण म स्वचालित रूप स होता है तो इसे सवेदी-गतिक दक्षता कहते हैं। इसके उदाहरण हैं लिखना चित्रकारी करना, कार चलाना, वायुयान अवतरित करना लकडी पर रदा चलाना आदि। बौद्धिक कार्य स सबधित दक्षता **बौद्धिक** कहलाती है (गिनना, उपकरणो की रीडिग लेना)। अधिक व्यापक अर्थ म निश्चित किस्म के सवाल हल करन की तार्किक चितन की दक्षता का उल्लेख किया जा सकता है।

दक्षताओ के विकास की परिस्थितिया और स्रोत

प्रत्यक्षत दक्षताओ के बनने के मूल मे परीक्षणात्मक प्रयास और चयन ही निहित होते है। मनुष्य निश्चित सकेतो को ध्यान मे रखत हुए कोई क्रिया करने की कोशिश करता है, उसका परिणाम नियत्रित करता है। सफल गतिया उपयुक्त निकले सकेत और नियमन की रीतिया शनै शनै चुनी जाती है और चेतना म बैठ जाती है, असफल और अनुपयुक्त का दमन होता है। इस तरह बारबार किये जानेवाले व्यावहारिक प्रयासो के बिना किसी भी दक्षता का विकास असभव है।

इस तथ्य के आधार पर कुछ बुर्जुआ मनोविज्ञानवत्ता विशेषत व्यवहारवादी मनुष्य और पशुओ की अधिगम प्रक्रियाओ को और सर्वप्रथम दक्षता के विकास की प्रक्रियाओ को सिद्धाततः एक जैसी ही

मानते हैं। किंतु शरीरक्रियात्मक तंत्र की समानता के पीछे इन प्रक्रियाओं में सिद्धांतत जो भेद है उसे नजरन्दाज नहीं किया जाना चाहिए। मनुष्य द्वारा क्रिया की पूर्ति सदा किसी न किसी तरह चेतना द्वारा नियमित होती है। यही कारण है कि पशुओं में भी पाई जानेवाली प्रक्रियाओं का, मनुष्य के मामले में सिद्धांतत भिन्न स्वरूप होता है। उसके व्यावहारिक प्रयास निश्चित गतियों को दोहराने की सचेत कोशिशों के रूप में होते हैं। परिणामों का नियंत्रण परिस्थितियों का मूल्यांकन क्रियाओं का संशोधन – यह सब भी निश्चित हद तक सचेतन होता है। इसमें अनुसंधानात्मक प्रयत्नों के स्रोत भी बदलते हैं। अनुकरण सीखी जा रही क्रियाओं के प्रतिमान के सचेतन सोद्देश्य प्रेक्षण पर आधारित होने लगता है। और सबसे बड़ी बात युक्तियों का चयन और नियमन इन क्रियाओं की अंतर्वस्तु की धारणा और इनके उद्देश्य की समझ पर निर्भर करने लगते हैं।

सोवियत मनोविज्ञानवेत्ता और शिक्षाशास्त्री शिक्षण की ऐसी सक्रिय रीतियों का सघन अध्ययन कर रहे हैं। इन रीतियों में आते हैं विवेदित प्रदर्शन और विस्तृत अनुदेश, विशेष अनुदेशन कार्ड, प्रशिक्षण उपकरण, यांत्रिक सांचे तथा गति निदेशक, आदि। प्रयोगों से पता चलता है कि यदि छात्र को पहले से आवश्यक गतियों के रूप, क्रिया के नियंत्रण के ऐंद्रिक संकेतों तथा क्रिया के नियोजन की युक्तियों से परिचित करा दिया जाये, तो वह ये क्रियाएं जल्दी सीख जाता है और तत्संबंधी दक्षता का विकास भी अधिक शीघ्रता से होता है। और यदि क्रिया की पूर्ति प्रत्येक कदम पर अनुदेश के ऐसे बाह्य साधनों द्वारा नियमित होती है तो परिणाम और भी अधिक अच्छे होते हैं। अंतत संवेदी और बौद्धिक क्रियाओं के आंतरिक नियमन और नियंत्रण की युक्तियों को आत्मसात् करने के लिए तत्संबंधी सूचना का छात्र की अपनी वाणी में रूपांतरण भी प्रत्यक्षत बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। यहां निम्न रीतियां सर्वाधिक महत्त्व की हैं छात्र नियत कार्य उसकी पूर्ति की युक्तियों और योजनाओं को बोलकर बताये, क्रिया की पूर्ति के दौरान मौखिक रूप से अपने आप को अनुदेश दे गलतियों का उनके कारणों और गलतियां सुधारने के तरीकों का बोलकर विश्लेषण करे, जो क्रियाएं वह कर रहा है, जो संकेत और हल उसने चुने

है उन्हे बताता जाये, क्रिया की रीतिया चुनने का कारण मौखिक और लिखित रूप से बताये, इत्यादि। इन उद्देश्यो के लिए वागेतर भाषाओ का भी प्रयोग किया जा सकता है, जैसे कि क्रिया की सरचना के खाके सकेतो के मानचित्र, आवश्यक तर्क वितर्क के सूत्र और खाके, गतियो के पथ तथा सक्रियाओ की क्रमिकता के ग्राफ, क्रिया की युक्तिया अथवा उसके परिणामो का नियत्रण करने के लिए आवश्यक मानको की तालिकाए।

दक्षताओ के विकास की प्रक्रिया

मनुष्य मे दक्षता का विकास सचेतन रूप से स्वचालित की जा रही क्रिया के रूप मे होता है। दक्षता के फलस्वरूप चेतना क्रिया की पूर्ति की युक्तियो पर नियत्रण से मुक्त हो जाती है तथा क्रिया के उद्देश्यो और परिस्थितियो पर ही केंद्रित होती है।

छात्र द्वारा नयी सक्रिया को दोहराने के अभ्यास मे उसके मानसिक और व्यावहारिक कार्य की सरचना अपरिवर्तित नही रहती। पहले प्रयासो मे छात्र का वास्ता नयी क्रिया से होता है। अभी उसने केवल यह देखा और समझा है कि यह क्रिया कैसे की जाती है। आवश्यक सक्रियाए स्वय करने के लिए यह जरूरी है कि छात्र अध्यापक के निर्देशो तथा अवबोधित बिबो को गतियो का रूप दे। ऐसे प्रयास करते हुए और परिणामो को नियन्त्रित करते हुए गलतियो को देखते और सुधारते हुए छात्र पहली बार कृत्यक के गतिप्रेरक सार और उसके सकेतो को सही तौर पर समझने लगता है उसकी पूर्ति की रीतिया को मासपेशियो से अनुभव करने ' लगता है, नियत्रण की कारगर रीतिया पाता है। क्रिया के दृश्य ' मे गतियो के नियमन के लिए आवश्यक मासपेशीय अनुभूतिया और सवदी सकेत समाविष्ट हो जाते हैं। यही पर सबसे बडी कठिनाई पर विजय पाई जाती है क्रिया कैसे की जानी चाहिए इसकी बिबात्मक-तार्किक धारणा क्रिया की व्यावहारिक पूर्ति से जुडती है। इस आधार पर सक्रिया का गतिमूलक ऐंद्रिक बिब बनता है और उसकी वस्तु मूलक-बौद्धिक समझ अथात क्रिया का वह मानसिक "माडल' , जो उसकी पूर्ति का नियमन करता है। अगले प्रयास करते समय छात्र के मन मे

तत्सबधी कृत्यक की पूर्ति के लिए आवश्यक क्रियाए करने और उनका नियमन करने के बारे मे ऐद्रिक गतिमूलक धारणा होती है। अब तत्सबधी सक्रियाए कही अधिक तेजी से और बेहतर ढग से होती है। इसके आगे के प्रयासो मे हर नये अभ्यास के साथ क्रिया की अभिपूर्ति की युक्तियो मे कोई विशेष अतर नही आता। अनावश्यक गतिया छूट जाती है गलत गतिया सुधारी जाती है, परस्पर सबधित गतिया एक गति मे मिल जाती है। क्रिया के सवेदी नियमन और केद्रीय नियमन की युक्तिया भी परिष्कृत हो जाती हैं और वे सवेदी सश्लेषणो, अत-प्रज्ञा, आदि का रूप धारण कर लेती है। युक्तियो का अधिकाधिक मानकीकरण होता है उनकी पूर्ति अधिकाधिक इस तरह स्वचालित होती जाती है वह चेतना के नियत्रण से मुक्त हो जाती है और अनुकूलित परावर्ती प्रतिक्रियाओ की भाति घटित होती है। क्रिया की पूर्ति, नियत्रण और नियमन की प्रमुख युक्तियो के स्वचालीकरण के फलस्वरूप चेतना मुक्त हो जाती है। अब इच्छानुसार क्रियाओ की गति बदलना, उन्हें परिवर्तनशील कृत्यको के अनुरूप बनाना, नई परिस्थितियो और दशाओ पर लागू करना सभव हो जाता है।

दक्षताओ के शिक्षण के तरीके

गतिप्रेरक विभेदीकरण को आधार माना जाता है, तो मुख्य बात है निश्चित वस्तु (अथवा कृत्यक) से संबंधित क्रिया के सभी घटकों पर बारीकी से गौर करना, यहा क्रिया सिखाई जाती है और उसे स्वचालित बनाने की कोशिश की जाती है। इस मामले में वही पाठन दूसरी तरह आयोजित होना चाहिए एक साथ ही कई अक्षर (शब्द, सूत्र सवाल संख्याएं) बताना और उनकी तुलना करना आवश्यक नहीं, एक बार मे केवल एक ही अक्षर बताया जाता है उसे अच्छी तरह सही प्रतिक्रिया से जोडा जाता है (अनेक बार एक ही अक्षर बोलना) तथा उसे पूरी तरह सीख लेने पर ही अगला अक्षर बताया जाता है।

शिक्षण के आयोजन से अपेक्षाएं भी इस तरह भिन्न भिन्न होगी। यदि संबंध का विकास सबल पर आधारित है, तो हल किये जा रहे कृत्यकों के प्रति रुचि जगाना, उनका महत्त्व और उपयोगिता समझाना, दक्षता पाने का सचेतन लक्ष्य सामने रखना आवश्यक है। यदि प्रमुख शर्त पुरस्कार को ही माना जाता है तो प्राप्त परिणामों के बारे मे निरंतर सूचित करना और सही क्रियाओं के लिए प्रोत्साहन देना आवश्यक है।

अभ्यासो की रचना भी इस बात पर निर्भर होती हैं कि इनके मूल मे परावर्ती शिक्षण का कौन सा भेद निहित है। यदि विभेदीकरण और सबल प्रमुख है तो अभ्यास अर्थपूर्ण, बोधगम्य कृत्यको पर आधारित और सर्वविध स्वरूप के होने चाहिए। इस तरह पढना शब्दों से और फिर अर्थपूर्ण पाठो से और लिखना वर्णो से और फिर पाठो से सिखाया जाता है तथा श्रम के पाठो मे उपयोगी वस्तुए बनायी जाती हैं। यदि गतिप्रेरक विभेदीकरण और पुरस्कार मुख्य है तो रूपप्रधान वस्तुओं पर आधारित विश्लेषणात्मक स्वरूप के अभ्यास लाभदायक होते हैं। तब पढना अर्थहीन अक्षरो और अक्षरसमूहो से सिखाया जाता है और फिर शब्दो पर आते है। लिखना सिखाने के लिए पहले सीधी, गोल रेखाए आदि बनानी सिखायी जाती है। श्रम का शिक्षण विभिन्न 'शुद्ध' युक्तियो से शुरु होता है (रेती पकडना रेती चलाना रेती से सतह रगडना)।

अतत आत्मसात् की जा रही दक्षताओं की मात्रा, कठिनाई और परिमाण भी शिक्षण की मूल अवधारणा पर, विशेषत दोहरान

की भूमिका के प्रश्न के हल पर निर्भर होता है। यदि दोहरान का सार छाप बिठाना समझा जाता है तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि छात्र द्वारा की जानेवाली गलतिया उसकी चेतना म बैठ जाती हैं। अत गलती होन की सभावना रोकनी चाहिए। इस स्थिति म ऐसे कृत्यक ही दिये जाते है जिन्हे हल करने म छात्र प्रत्यक्षत सक्षम होते है जटिल सामग्री का अधिकतम विखडन किया जाता है अत्यत साव धानी मे और शनै शनै ही नयी सामग्री की ओर बढा जाता है। इस अवधारणा का नारा है गलतियो से प्रशिक्षण कठिन होता है–गल तिया मत होन दीजिये! यदि दोहरान का सार विभिन्न क्रियाओ को परखना माना जाता है तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गल तियो से सही क्रियाए ढूढने मे मदद मिलती है। इस धारा का नारा है 'गलतियो मे ही सीखा जाता है–गलतियो से डरे नही!' इस तरीक की अपेक्षा यह है कि शिक्षण क लिए छात्र को दिये जानवाले कार्य उसकी पहुच के भीतर, परतु कठिन हो।

सो दक्षता के कारगर निर्माण क बारे म दो अवधारणाए है। एक अवधारणा ऐंद्रिक सकेतो पर अवलबन की अपेक्षा करती है। इसके अनुसार अभ्यास बार बार बदलनेवाले सर्वागीण अर्थपूर्ण कृत्यको पर आधारित होने चाहिए। इन कृत्यको की पूर्ति की प्रेरणा उद्देश्य के ज्ञान और उसकी प्राप्ति की इच्छा से मिलनी चाहिए। और इसका तरीका है सही क्रियाओ को खोजना और परखना गलतियो का विश्ले षण करना और उन्हे दूर करना। इस विधि को सश्लेषणात्मक कहा जा सकता है। दूसरी अवधारणा गतिमूलक क्रियाओ पर अवलबन की अपेक्षा करती है। इसके अनुसार अभ्यास मानकीय बुनियादी रूपप्रधान कृत्यको पर आधारित होने चाहिए। इनकी पूर्ति की प्रेरणा परिणाम के ज्ञान स तथा इस परिणाम की प्राप्ति पर मिलनेवाले पुरस्कार से मिलनी चाहिए। और इसका रास्ता है सही क्रिया के तत्त्वो की चेतना मे सपुष्टि तथा क्रमश सपूर्ण क्रिया मे उनका सगठन। इस विधि को विश्ले षणात्मक कहा जा सकता है।

ये दोनो अवधारणाए शिक्षा सिद्धात तथा स्कूलो के व्यवहार म व्यापक रूप स प्रतिबिंबित हुई है। पहली अवधारणा स्कूलो म सश्ले षणात्मक अर्थप्रधान विधि के रूप म प्रस्तुत है (शब्दो से पढना सिखाने

की विधि विदेशी भाषा के शिक्षण मे सदर्भ विधि)। उत्पादनमूलक शिक्षण मे यह विधि वस्तुप्रधान प्रणाली के रूप म प्रस्तुत है। दूसरी अवधारणा घटकमूलक रूपप्रधान विश्लेषणात्मक विधि म पाई जाती है (पढना सिखान मे अक्षर जोडने की विधि, विदेशी भाषाओ के शिक्षण मे शब्दकोशीय विधि इत्यादि)। उत्पादनमूलक शिक्षण म इस अवधारणा की अभिव्यक्ति सक्रियात्मक प्रणाली मे होती है।

मनोविज्ञानवेत्ताओ और शिक्षाशास्त्रियो ने उपरोक्त अवधारणाओ के सभी कारको का विस्तृत अध्ययन किया है। उन्होने क्रिया क सकेतो को आत्मसात करने तथा घटक-घटक करके गतिया सीखने की भूमिका परखी। उद्देश्यो क ज्ञान और परिणाम के ज्ञान के प्रभाव का पता लगा या। लक्ष्य और पुरस्कार का महत्त्व आका। सरल और कठिन कृत्यको की आशिक और सपूर्ण रूपप्रधान और अर्थप्रधान अभ्यासो की कार गरता की तुलना की। गलतियो को होने न देने और गलतियो के विश्लेषण के आधार पर शिक्षण कार्य किया।

पता चला कि इन कारको मे से प्रत्येक दक्षता के निर्माण म सहायक होता है। इस प्रश्न का उत्तर देना कही अधिक कठिन था कि इन पथो मे से कौन सा 'अधिक अच्छा' है। विश्लेषणात्मक विधि म पहले तो काम अधिक जल्दी से और आसानी से होता है, दक्षताए सुस्पष्ट, सही और सुदृढ होती है। परतु फिर भिन्न तत्त्वो को सपूर्ण क्रिया म सगठित करते समय कठिनाइया पैदा होती है, शिक्षण की गति धीमी पड जाती है और निर्मित दक्षताओ मे 'लोच' नही पायी जाती। इसके विपरीत सश्लेषणात्मक विधि म पहले तो काम सामान्यत धीरे तथा कठिनाई से होता है छात्र बहुत सी गलतिया करते हैं क्रियाओ मे सफाई नही होती। परतु फिर शिक्षण की गति तीव्र होने लगती है और छात्रो की जो दक्षताए बनती है उनमे लचक होती है, वे सहज ही विभिन्न परिस्थितियो म इनसे काम ले पाते है।

बहुसख्यक अनुसधानो के अतिम परिणामो के आधार पर इन विधियो म स किसी को भी दूसरी से श्रेष्ठ कहना कठिन है। क्रिया की अतर्वस्तु छात्रो की व्यक्तिगत विशिष्टताए अध्यापक का व्यक्तित्व आदि अन्य कारको का प्रभाव इन विधियो के भेद मे कही अधिक प्रबल पाया जाता है।

§२ शिक्षण की प्रक्रिया मे ज्ञान और सकल्पनाओ का बनना

अन्तरण की समस्या शिक्षा मनोविज्ञान की एक केंद्रीय समस्या है। सीखी गयी क्रियाओ को नये कृत्यको पर लागू करने अतरित करने का अर्थ है कम से कम गलतियो के साथ और शीघ्र ही नये कार्यकलाप सीखना। सीखी हुई क्रियाओ को व्यक्ति जितनी अधिक नयी वस्तुओ पर प्रयुक्त कर सकता है उतने ही अधिक कृत्यको का निष्पादन वह अपनी उपलब्ध दक्षताओ से कर सकता है। दूसरे शब्दो म व्यक्ति द्वारा *सीखी गई क्रियाओ का अतरण जितना अधिक व्यापक और सही होता है* उसके शिक्षण के परिणाम उतने ही फलप्रद होते है, अपनी सक्रियता म उस उनसे उतनी ही अधिक कारगर सहायता मिलती है।

ज्ञान और सकल्पनाओ के बनने मे शिक्षण के मूल तत्त्व

नयी वस्तुओ परिस्थितियो और कृत्यको पर क्रियाओं के सही और सफल अन्तरण का आधार ज्ञान ही है। ज्ञान उस अनुभव को प्रतिबिंबित करता है जो यथार्थ जगत के शब्द रूप म व्यक्त तथा मानवजाति की व्यावहारिक एव सज्ञानात्मक सक्रियता के लिए महत्त्वपूर्ण सामान्य गुणधर्मो को प्रणालीबद्ध करता है। इसीलिए नयी वस्तुओ परिस्थितियो, कृत्यको से सामना होने पर तत्सबधी ज्ञान और सकल्पनाओ का बनना तथा आत्मसात् होना ही मनुष्य के लक्ष्यबद्ध और कारगर कार्यो का पूर्वाधार होता है। यथार्थ के तत्त्वो के गुणधर्मो और सबधो का पता लगाने क लिए किये जानेवाले कार्य के आधार पर और उसके दौरान ही सकल्पनाए बनती तथा ज्ञान आत्मसात होता है। ज्ञान के बनने मे **विभिन्न रूपो की सक्रियता की भूमिका** भिन्न भिन्न होती है। उदाहरणत वस्तुमूलक सक्रियता (वस्तुओ मे काम लेना उन्हे स्थानातरित करना) की आवश्यकता इसलिए होती है कि वस्तुए और परिघटनाए *अपने गुणधर्म 'प्रदर्शित' कर प्रत्यक्षमूलक सक्रियता (अवबोधन* और प्रेक्षण) की इसलिए कि ये गुणधम मनुष्य की अनुभूतियो और धारणाओ में प्रतिबिबित हो जाय बौद्धिक सक्रियता (विश्लेषण और

सश्लेषण) की इसलिए कि इन गुणधर्मों की तुलना की जाय औ
उनसे सामान्य गुणधर्म निकाले जाये वाद् सक्रियता (शब्दाकन औ
नामकरण) की इसलिए कि इन सामान्य गुणो को वस्तुओ से अमू
करके तथा वस्तु वर्गो के लक्षणो के नाते उन्हे सामान्यीकृत करव
शब्द रूप दे दिया जाये। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ज्ञान के
शिक्षण में निम्न घटकों का समावेश होता है

१ छात्रों को निश्चित वर्ग की वस्तुए या परिघटनाए प्रदर्शित करना (या उनके द्वारा स्वय देखा जाना)। ऐसा करते हुए वस्तुए इस तरह चुनी जाती है कि उनके मूलभूत लक्षणो को छोडकर शेष सभी लक्षण भिन्न हो (विघटनात्मक विधि) या फिर मूलभूत लक्षणा को छाडकर शेष सभी लक्षण समान हो (प्रत्यस्थापनात्मक विधि)। उदाहरणत पहली विधि के अनुसार कुत्ता, ह्वेल, चमगादड जैसे बाह्य रूप से भिन्न जीवो का उदाहरण देकर या दूसरी विधि के अनुसार ह्वेल और मछलियो जैसे बाह्य रूप से समान जीवो का उदाहरण देकर स्तनपायी जीव की सकल्पना से छात्रो को परिचित कराया जा सकता है।

२ छात्रो द्वारा इन वस्तुओ या परिघटनाओ का प्रेक्षण करना और उनके विविध पक्षो और गुणधर्मो, सरचनाओ सबधो क्रियाओ का पता लगाना। उदाहरणत , उपरोक्त जीवो के मामले म उनकी सरचना जीवन पद्धति प्रजनन आदि।

३ पता लगाये गये गुणधर्मो की तुलना, प्रत्यस्थापना (विश्लेषण)। ऐसे गुणधर्मो का पता लगाना और उन्हे सयोजित करना (सश्लेषण करना) जो सभी विचाराधीन वस्तुओ के लिए समान है या इसके विपरीत एक वर्ग की वस्तुओ को दूसरे वर्ग की सभी वस्तुओ से अलग करते है। उपरोक्त उदाहरण म विघटनात्मक विधि के अतर्गत ये गुणधर्म होग सभी स्तनपायी जीव जरायुज और नियततापी होते है, फेफडो से सास लेत है उनके दुग्ध-ग्रथिया अस्थि पजर और मस्तिष्क होता है। प्रत्यस्थापनात्मक विधि से जरायुजो की तुलना अडजो से, नियततापी प्राणिया की अनियततापी प्राणियो से की जाती है।

४ पता लगाये गये गुणो का पारिभाषिक शब्द (स्तनपायी जीव) द्वारा नामकरण करके अमूर्तीकरण करना।

५ अतत निर्दिष्ट लक्षणोवाली वस्तुओ के लिए पारिभाषिक

शब्द प्रयुक्त करके सकल्पना का सामान्यीकरण करना, उदाहरणत, अध्ययनाधीन या प्रेक्षणाधीन विभिन्न प्राणियो मे स्तनपायी जीवो को पहचानने के अभ्यास।

ज्ञान के निर्माण का उपरोक्त मार्ग का निष्क्रिय होना अनिवार्य नही है। कुछ मामलो मे अध्यापक ही सभी प्रेक्षणाधीन वस्तुए दिखा सकता है। दूसरे मामलो मे स्वय छात्र साहित्य का अध्ययन करते हुए, प्रयोग करते हुए, अभियानो-सैरो के समय स्वय उनका पता लगा सकते है या बना सकते है। ठीक इसी तरह प्रेक्षण, विश्लेपण, सश्लेपण तुलना, अमूर्तीकरण और सामान्यीकरण स्वय अध्यापक कर सकता है, अध्यापक के निदेशन मे छात्र कर सकते हैं या फिर वे समस्यामूलक परिस्थितियो मे छात्रो की सजनात्मक सक्रियता का फल हो सकते हैं।

यह नही सोचना चाहिए कि आरभिक वस्तुए कोई निश्चित वस्तुए ही हो। उपरोक्त उदाहरणो मे छात्र वस्तुत किसी एक ह्वेल और एक कुत्ते की नही, बल्कि सामान्यत ह्वेलो और कुत्तो की तुलना कर रहे थे—यहा उनका वास्ता सकल्पनाओ मे प्रतिबिंबित वस्तुओ के वर्गों से था। आरभिक वस्तु विपय कोई पदार्थ ही हो यह भी आवश्यक नही वह कोई अमूर्त सकल्पना भी हो सकती है। उदाहरणत भाति भाति के रूपिमो की तुलना करते हुए छात्र इससे भी अधिक अमूर्त सकल्पना—"व्याकरणिक अर्थ"—का ज्ञान पा सकते है। शिक्षण मे मूल बात यह नही है कि आरभिक विपय किस हद तक ठोस है बल्कि यह कि नया ज्ञान आरभिक विपयो, वस्तुओ के गुणधर्मो के सामान्यीकरण द्वारा प्राप्त अतिम फल होता है।

मनोवैज्ञानिक अनुसधानो से इस प्रक्रिया के अनक महत्त्वपूर्ण लक्षणो और क्रिया विधियो का पता चला है।

सर्वप्रथम यह पता चला कि सूचना का ससाधन वस्तुओ या परिघटनाओ का वोध पाने (प्रेक्षण करने) के पश्चात नही बल्कि इस प्रेक्षण या वोध पाने के दौरान ही होने लगता है। पता चला कि प्रत्यक्ष वोध कुछ वस्तुओ को ग्रहण करता है और कुछ दूसरी वस्तुओ को नजरदाज करता है। आगे के सारे वौद्धिक ससाधन (तुलना सामान्यीकरण) के परिणाम बहुत हद तक इसी बात पर निर्भर होते हैं कि व्यक्ति ने वस्तुओ म क्या देखा है, किन वातो की ओर उसका ध्यान गया है।

19–560

यह चयन तीन प्रमुख कारकों पर निर्भर होता है १) स्वय वस्तु की सरचना (उसमे कौन से लक्षण सर्वाधिक स्पष्ट रूप स अभिव्यक्त है) २) व्यक्तिगत अनुभव (कौन से लक्षण सर्वाधिक परिचित हैं), ३) शिक्षण की विधि (अध्यापक किन लक्षणो पर वल देता है या छात्रो का ध्यान किन लक्षणो पर जाता है)। उदाहरणत, हिंस्र पशुओ का प्रेक्षण करते हुए छात्र को उनका 'खूखार थूथन" लाक्षणिक लग सकता है। इस आधार पर वह "खूखार" छछूदर को हिंस्र पशु बतायेगा पर 'प्यारी सी' लोमडी और बिल्ली को ऐसा पशु नही मानेगा। यहा उसका प्रत्यक्षबोध गौण लक्षणो को ही निर्दिष्ट करता है। परिणामस्वरूप सामान्यीकरण गलत होता है और अपर्याप्त सकल्पना बनती है।

यह भी पता चला कि ग्रहीत सूचना का ससाधन, जिससे ज्ञान बनता है अनिवार्यत सचेतन और विस्तृत नही होता। प्रत्यक्षत बच्चो मे अधिकाश सामान्य सकल्पनाए ऐसे ही बनती है और उनके द्वारा प्रयुक्त होती है। वैसे अधिकाश वयस्क भी शायद ही यह बता सकते हैं कि किस अर्थ के आधार पर वे मेज 'बुद्धि', "पशु', आदि शब्दो का प्रयोग करते है।

अतत, पता चला कि ज्ञान सदा तत्सबधी शब्द को आत्मसात् करन और उसका प्रयोग करन स ही जुडा नही होता है। उदाहरणत बच्चे कभी कभी वस्तुओ या चित्रो का सही वर्गीकरण कर सकत हैं। जैसे कि खाने के औजारो (चम्मचो काटो) और औजारा (हथौडी आरी) को या पशुआ और पेड पौधो के चित्रो को अलग-अलग कर सकते है। परतु ऐसा करते हुए वस्तुओ के तत्सबधी वर्गों को उपयुक्त शब्द मे निर्दिष्ट नही कर सकत (जैसे "पशु' 'पेड') और अपने वर्गीकरण के आधार को शब्दो म नही समझा सकते। प्रत्यक्षत यहा सामान्यीकरण किन्ही ऐद्रिक धारणाओ क स्तर पर हाता है। इस स्थिति मे धारणाओ मे सचमुच ही तत्सबधी वस्तुआ के महत्त्वपूर्ण गुणधर्म इगित हो सकते हैं और गौण लक्षण भी प्रतिबिबित हा सकते हैं। अत स्पष्ट है कि सामान्यीकृत ज्ञान सदा धारणाओ का रूप नहीं लता। व्यक्तिगत अनुभव पर आधारित और सामान्यीकृत धारणाआ म मिलते जुलते ज्ञान को ल० स० विगात्स्की न 'चालू मिथ्या सकल्पनाए' कहा था।

अनुसधानो से पता चलता है कि प्रारम्भिक धारणाओं और मिथ्या सकल्पनाओ के स्वरूप का निर्मित हो रही सकल्पनाओ की अतर्व स्तु पर बहुत प्रभाव पड सकता है। उदाहरणत त्रिकोण के भीतर शीर्षलब देखने के आदी छात्र के लिए अधिककोणीय त्रिकोण मे इसे ढूढना मुश्किल होता है a^2-b^2 के रूप म वर्गो का अतर समभते हुए भी वह $x^4y^2-z^8$ म यही अतर नही देख पाता इत्यादि। साथ ही तत्सवधी शब्द के सही प्रयोग का भी यह अर्थ नही होता कि सकल्पना बन गयी है। प्राय शब्द केवल तत्सबधी ऐद्रिक धारणाओ या मिथ्या सकल्पनाओ का सूचक होता है, न कि निश्चित महत्त्वपूर्ण लक्षणो या वस्तुओं के वर्गो के बारे मे वैज्ञानिक सकल्पनाओ का।

सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओ ने ज्ञान के आत्मसात्करण और उपयोग सवधी छात्रो के कार्यकलापो का विस्तार म अध्ययन किया है। उन्होने यह सिद्ध किया है कि भाति-भाति की वस्तुओ विषयो भिन्न भिन्न तरह की शिक्षा सामग्री के लिए विश्लेषण और सश्लेषण अमूर्तीकरण और सामान्यीकरण की विभिन्न युक्तियो की अपेक्षा होती है। उदाहरणत वनस्पतिविज्ञान की सकल्पनाओ (जाति कुल) के निर्माण के लिए एक तरह के लक्षण (वनस्पतियो के प्रकार्यक अश जड तना पत्तिया फूल फल) निर्दिष्ट करना तथा निश्चित सिद्धातानुसार (पत्तियो क आकार, पुकेसरो की सख्या, निषेचन रीति) उनकी तुलना करना और उन्हे सगठित करना आवश्यक होता है जबकि अकगणितीय सकल्पनाओ के निमाण के लिए बिल्कुल दूसरे ही लक्षण (समुच्चय मे वस्तुओ की सख्या परिमाणात्मक सबध, सक्रियाओ की क्रमिकता) निर्दिष्ट करना उनकी तुलना करना और उन्हे सगठित करना आवश्यक होता है।

शिक्षा सामग्री की विशिष्टताओ से ही तत्सबधी ज्ञान के निर्माण क लिए आवश्यक वस्तुमूलक, प्रत्यक्षमूलक और बौद्धिक सक्रियता की युक्तिया निर्धारित होती है। सो, सही ज्ञान और सकल्पनाओ के निर्माण के लिए छात्रो को बौद्धिक सक्रियता की युक्तिया सिखानी चाहिए जिनसे अध्ययनाधीन वस्तुओ और परिघटनाओ के वर्गो क महत्त्वपूर्ण प्रमुख लक्षणो का पता लगाना, उन्हे निर्दिष्ट और सगठित करना सभव होता है।

सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओ ने अकगणितीय, व्याकरणिक, भौगोलिक तथा अन्य सकल्पनाओ के निमाण की प्रक्रियाओ का विस्तृत अध्ययन किया है। वे तत्सबधी ज्ञान के निर्माण के लिए आवश्यक बौद्धिक सक्रियता की युक्तिया निर्धारित करने और ये युक्तिया सिखाने की रीतिया तय करने मे सफल रहे है। उन्होने वे प्रमुख चरण भी निर्धारित किये है जो शिक्षण की प्रक्रिया मे ज्ञान बनने के दौरान देखने मे आते है। आरभ मे छात्रो की धारणाए और सकल्पनाए असगठित होती है, उनका प्रयोग करते हुए छात्र उन लक्षणो को नही समझते है जो उनके आधार मे निहित होते है। तदुपरात वे कतिपय ऐसे लक्षण देखने और समझने लगते है जो सर्वाधिक पाये जाते है और सहज ही दिखाई देते है। परन्तु अभी भी वे प्रधान और गौण लक्षणो के बीच भेद नही समझते है। आगे चलकर वे प्रधान लक्षण निर्दिष्ट करने और समझने लगते है। अतिम चरण मे वे सकल्पना का सबध अधिकाधिक विभिन्न वस्तुओ से जोडने लगते है, इन वस्तुओ के सभाव्य भेदो और ठोस विशिष्टताओ को इसमे शामिल करने लगते है। अब ज्ञान गहन और समृद्ध होता है। उदाहरणत, भिन्न भिन्न आयु के बच्चो की समझ मे 'सजीव' की सकल्पना की अतर्वस्तु का अध्ययन किया गया। पता चला कि पहले पहल बच्चे इस शब्द का प्रयोग करते हुए सचेतन रूप से कोई लक्षण निर्दिष्ट किये बिना ही अर्थात असगठित रूप से धारणाओ के आधार पर इस शब्द का प्रयोग करते हैं ("यह सजीव क्यो है?" – "वह आदमी है")। फिर बच्चे कुछ लक्षण समझने लगते है अखड है सास लेता है, चलता है ("कार सजीव है – वह चलती है" "गुडिया सजीव नही है वह सास नही लेती")। यहा प्रधान और गौण लक्षण साथ साथ ही आते हैं। उनका कोई समानाश्रय और तार्किक सहसबध नही है (कार भी तो सास नही लेती')। आगे चलकर प्रधान लक्षण अलग किया जाता है (जो चाहता है करता है खाना खाता है)। अतत जीवविज्ञान की सकल्पना – सजीव – बनती है, जो जीवन के विभिन्न रूपो से परिचित होने के साथ-साथ अधिक गहन होती जाती है।

उपरोक्त नियमसगति का अर्थ यह नही है कि सकल्पना का बनना किसी ठोस तथ्य मे वस्तुओ और परिघटनाओ के प्रेक्षण से ही आरभ

होता है। स्कूली शिक्षा म प्राय सकल्पनाओ का बनना सामान्य बात से शब्दो से ही आरभ होता है। परतु इस मामले मे भी वही चरण देखन मे आते है। शब्द की अतर्वस्तु आरभ मे असगठित विभेदनरहित सा मान्य' कोरी अमूर्तता ही होती है। वस्तुत छात्र प्राय वस्तुओ और परिघटनाओ के उन लक्षणो को इगित नही करते, जो वास्तव म प्रधान होते हैं, वे नही, जिन पर अध्यापक बल देता है। इसका एक कारण यह है कि बच्चे उन बातो पर ध्यान नही देते है जो वास्तव मे महत्त्वपूर्ण और आवश्यक होती है बल्कि उन बातो पर जो उन्ह महत्त्वपूर्ण और आवश्यक लगती हैं जो उनके लिए मानी रखती ह।

अत, वस्तुओ (परिघटनाओ) के निश्चित लक्षण निर्दिष्ट करन और तत्सबधी ज्ञान के बनने की प्रक्रियाए सक्रियता की सामान्य और ठास दिशा, उसके अभिप्रेरको और उद्देश्यो व्यक्ति के अनुभव उसके मूल्यो, ज्ञान, ससार के प्रति रुख आदि से जुडी होती ह। और यहा किसी लक्षण को प्रधान लक्षण के नाते इगित करन के लिए कतिपय विभिन्न वस्तुओ का प्रेक्षण और तुलना कतई आवश्यक नही है। आवश्यक केवल यह है कि यह लक्षण **छात्र के लिए मानी रखता हो।** और तब छात्र उसे एकमात्र वस्तु (परिघटना) म भी जिससे उसका सामना हुआ है, उसे देख लेगा, इगित कर लेगा। और यह लक्षण कैसा होगा यह इस बात पर निर्भर है कि इस व्यक्ति के लिए क्या बात मानी रखती है। उदाहरणत बच्चे के लिए भाति भाति की अनेक बिल्लिया देखना आवश्यक नही है, ताकि वह उनकी तुलना कर ले उनके सामान्य लक्षण देख ले और बिल्ली' की सकल्पना बना ले। उसे बस एक बिल्ली दिखाना और इतना कहना कि यह बिल्ली है ही काफी है और बच्चा छोटी बडी, काली सफेद हर तरह की बिल्लियो को बिल्ली ही कहेगा। यही नही उसके लिए शेर और बाघ भी बिल्ली होगे और कभी कभी तो फर का कोट और खरगोश और यहा तक कि पडोसी की घनी दाढी भी 'बिल्ली' होगे। यह बात अलग है कि बच्चे के लिए मानी रखनेवाले लक्षण उन लक्षणो से भिन्न हो सकते है जो वास्तव मे इस सकल्पना द्वारा नामाकित है। उदाहरणत उपरोक्त उदाहरण म प्रत्यक्षत बच्चे के लिए बिल्ली का प्रधान लक्षण उसके घने रोये है। यहा बड उसकी गलती सुधारेग नही यह

बिल्ली नही, फर का कोट है। यह बिल्ली नही, यह दाढी है। दूसरे शब्दो म कुछ वस्तुओ (बिल्लियो) के लिए इस शब्द के प्रयोग की पुष्टि होगी ('शाबाश, ठीक है!") और दूसरी वस्तुओ के लिए इसका प्रयोग रोका जायेगा ("नही, यह बिल्ली नही है!")। और इसका परिणाम यह होगा कि "बिल्ली" की सकल्पना म उन लक्षणो का अधिकाधिक विभेदीकरण होता जायेगा, जिन्हे इस भाषा म बोलनेवाले वयस्क इस सकल्पना मे शामिल करते है।

अत सही सकल्पना का निर्माण उसका प्रयोग करने की कोशिशो के जरिये होता है और इन कोशिशो के परिणामो द्वारा नियमित होता है।

प्रयोगो से पता चला है कि भिन्न भिन्न लोगो मे उपरोक्त प्रक्रियाए दो सिद्धातत भिन्न रास्तो से होती हैं। पहले रास्ते को ठोस-व्यावहारिक कहा जा सकता है। छात्र वस्तुओ की तरह-तरह से तुलना करने का कोशिश करते है जब तक कि सही हल नही पा लेते। ऐसा करते हुए वे जान-बूझकर वर्गीकरण के आधार इगित नही करते, बल्कि प्रत्यक्ष बोध का सहारा लेते हैं इस सहज अत प्रज्ञा को आधार बनाते हैं कि कुछ वस्तुए या परिघटनाए किन्ही बातो म एक दूसरी जैसी हैं। दूसरे रास्ते को अमूर्त-तार्किक कहा जा सकता है। इसम छात्र प्राय वस्तुओ या परिघटनाओ को वर्गो म बाटने की कोशिश नही करते, बल्कि तार्किक विश्लेषण के द्वारा वर्गीकरण के सिद्धात खोजने की कोशिश करते है।

अत सकल्पनाए ऐद्रिक व्यावहारिक सक्रियता के आधार पर तथा चितनमूलक सक्रियता के आधार पर भी बन सकती हैं। सकल्पनाओ के निर्माण का मार्ग है – वस्तुओ के किन्ही लक्षणो की सार्थकता की प्राक्कल्पना करना और उसे परखना। परखने की क्रियाए वस्तुओ के निर्दिष्ट समूहो द्वारा सचालित होती है। पहले मामले म प्राक्कल्पनाए स्वय वस्तुओ पर की जानेवाली व्यावहारिक क्रियाओ द्वारा परखी जाती है और उनके लक्षण अत प्रज्ञा मे ही प्राय अचेतन रूप म पहचाने जाते है। यहा प्रत्यक्षबोध मानो विश्लेषण का मार्गदर्शन करता है। दूसरे मामले म किसी चितनमूलक प्राक्कल्पना के आधार पर मानसिक रूप म निर्मित किये गये समूहो पर मानसिक क्रियाए करके प्राक्कल्पना परखी जाती है। यहा मानसिक विश्लेषण प्रत्यक्षबोध का मार्गदर्शन करता है।

शिक्षण व्यवहार मे सकल्पनाओ के बनन के दोनो तरीके देखने मे आते है। इनमे कौन सा बेहतर है, यह कृत्यक के स्वरूप, छात्र के अनुभव और ज्ञान तथा अतत उसके मानसिक सक्रियता के ढाच पर भी निर्भर करता है। उदाहरणत ज्यामितीय आकृतियो के वर्गीकरण का सवाल हल करते हुए छोटी कक्षाओ के छात्रो मे अत प्रज्ञात्मक व्यावहारिक तरीका ही अधिक पाया जाता है जबकि उच्च शिक्षा पा रहे विद्यार्थियो मे अमूर्त तार्किक तरीका। प्रत्यक्षत कलात्मक (बिबात्मक) और अमूर्त-तार्किक चितन के लोगो (इ० प० पाव्लोव के अनुसार 'चित्रकारो' और चितको") के बीच भेद भी मानी रखता है।

वैज्ञानिक सकल्पनाओ के बनने के तरीके

सकल्पनाओ का निर्माण निष्क्रिय प्रत्यक्षबोध नही बल्कि सज्ञानात्मक कृत्यको के निष्पादन की ओर लक्षित सक्रिय कार्यकलाप है। इस कार्यकलाप मे समस्या की प्रस्तुति और उसका हल प्राक्कल्पना का निरूपण और परीक्षण, अर्थो की खोज और परख शामिल होते है।

धारणाओ और दैनदिन मिथ्या सकल्पनाओ से **वैज्ञानिक सकल्पनाए** इस बात मे भिन्न होती है कि वे **वस्तुओ के इद्रियगम्य गुणधर्मों को नहीं, बल्कि उनके सामान्य और महत्त्वपूर्ण वस्तुगत सबधो को प्रतिबिबित करती हैं।** अत जैसा कि ल० स० विगोत्स्की ने कहा है वैज्ञानिक सकल्पनाओ के अर्थ केवल उनकी प्रणाली मे सकल्पनाओ के बीच सबधो के जरिये ही मुखरित होते है। सबध वस्तुओ और परिघटनाओ के बीच तत्सबधी वस्तुगत सूत्रो को प्रतिबिबित करते है। इन सूत्रो का पता सीधे प्रत्यक्षबोध से नही, बल्कि कार्यकलाप की सहायता से चलता है। अत **वैज्ञानिक सकल्पना का स्रोत** स्वय ऐद्रिक अनुभव नही अपितु **क्रिया** है। क्रिया से नये सबधो का अर्थात वस्तुओ के नये गुणधर्मों का पता चलता है यथार्थ की नई सरचनाए अभिलक्षित होती है। कुछ मामलो मे ये सरचनाए वस्तुओ द्वारा निश्चित प्रकार्यो की पूर्ति के लिए महत्त्वपूर्ण होती है और कुछ दूसरे मामलो मे इन प्रकार्यो के लिए सरचनाओ का कोई महत्त्व नही होता।

उदाहरणत , यदि प्रजनन प्रकार्य ले तो स्तनपायी जीवो के लिए शिशुओ को मा का दूध पिलाया जाना मानी रखता है। स्थानातरण के प्रकार्य के लिए हाथ पाव होने चाहिए। सो दुग्ध ग्रथिया और चार हाथ पाव स्तनपायी जीवो के सरचनात्मक लक्षण है, जो उपरोक्त प्रकार्यो के लिए महत्त्वपूर्ण है। परतु उनके शरीर पर बालो का होना इस दृष्टि से अमहत्त्वपूर्ण लक्षण है। कुछ सख्याओ को जोडने के लिए उनकी सहचारिता महत्त्वपूर्ण लक्षण है। और यह बात यहा कोई मानी नही रखती कि योगफल मूल राशियो मे कम हो सकता है। सो इसका अर्थ यह हुआ कि लक्षण का महत्त्वपूर्ण होना या न होना इस बात पर निर्भर करता है कि उसे किस प्रकार्य की दृष्टि से देखा जाता है। निश्चित प्रकार्यो की सिद्धि के लिए आवश्यक लक्षणो को वस्तु अथवा परिघटना की **प्रकार्यात्मक सरचना** कहते है। वैज्ञानिक सकल्पनाए वस्तुओ और परिघटनाओ की प्रकार्यात्मक सरचनाओ को उभारती और शब्दो मे व्यक्त करती हैं। उदाहरणत मापने के लिए प्रयुक्त फुटा उन अनेक वस्तुओ मे आता है जो मापन उपकरण" की सकल्पना मे नामाकित हैं। यही फुटा सीधी रेखा खीचने के लिए प्रयुक्त होने पर ' ड्राइग उपकरणो मे गिना जाता है। लेकिन फुटे का प्रयोग पहले बच्चो को सजा देने के लिए भी होता था और तब वह बिल्कुल दूसरी ही सकल्पना सजा के औजार म समाविष्ट होता था।

नई सकल्पनाओ का बनना सदा नई वस्तुओ के देखे पाये जाने से ही सबधित नही होता। यह उन सरचनात्मक गुणो के पता चलने से जुडा होना है जो उन्ही वस्तुओ द्वारा किसी नये प्रकार्य की पूर्ति के लिए महत्त्वपूर्ण होते है (या इसके विपरीत नई वस्तुओ द्वारा ' पुराना' प्रकार्य किये जाने के लिए)। अत , नई सकल्पनाए वस्तुओ और परिघटनाओ की नई पता लगी प्रकार्यात्मक सरचनाओ को नामाकित करती हैं। उदाहरणत घटाने की सक्रिया जब "२–५ ' जैसे सवालो पर लागू होती है, तो यह ऋण सख्याओ की सकल्पना म नामाकित होती है पुरुष और स्त्री लिंग कोशो के विलय के बिना प्रजनन प्रक्रिया होने के सरचनात्मक लक्षण अनिषेकजनन ' की सकल्पना म नामाकित होते हैं इत्यादि।

इस तरह वैज्ञानिक सकल्पनाए अनुभव म पाई ही नही जाती

है', बल्कि गठित की जाती हैं, ताकि उपलब्ध सूचना का हल की जानेवाली समस्या के अनुरूप अधिकतम सगठन हो जाये। इस तरीके को सकल्पनाओ का **खोजमूलक** गठन कहते है। व्यावहारिक तौर पर इस तरीके का मतलब है—उपलब्ध ज्ञान का नई दृष्टि से, वस्तुओ का नया वर्गीकरण करने के लिए नये कृत्यको के निष्पादन के लिए नई रीतिया खोजने के लिए उपयोग किया जाना। विज्ञान का सारा इतिहास ही इस बात का प्रमाण है कि सकल्पनाओ के गठन का ऐसा रास्ता सचमुच विद्यमान है।

समय-समय पर विज्ञान मे निर्णायक मोडो की भाति नई सकल्पनाए बनती हैं, जिनके फलस्वरूप ज्ञान के निश्चित क्षेत्र मे सचित सभी तथ्यो को नई दृष्टि से देखना सभव हो जाता है। ऐसी सकल्पनाए ज्ञान के इस क्षेत्र की सरचना को पुनर्गठित करती है उन तथ्यो और सकल्पनाओ को सूत्रबद्ध और सगठित करती है जो अभी तक पृथक् पृथक और असबद्ध ही लगते थे। "जडत्व', "ऊर्जा' "अवकल' "समाकल" आदि सकल्पनाए ऐसी ही 'खोज" थी।

कुछ हद तक उपरोक्त सकल्पनाओ को आत्मसात् करते हुए और विभिन्न कृत्यको के हल के लिए उनका उपयोग करते हुए प्रत्येक छात्र भी ऐसा ही मार्ग तय करता है।

अनुसधानो से पता चला है कि सकल्पनाओ का खोजमूलक गठन कई तरीको से हो सकता है

१) **सगठन के दूसरे स्तर पर आगमन द्वारा**, जब पहले की असबधित समष्टिया अधिक व्यापक समष्टि का अश बन जाती है या इससे उलट बात होती है। (उदाहरणत "स्तनपायी जीव पक्षी' 'सरीसृप सकल्पनाओ से कशेरुकी' सकल्पना पर आगमन।) यह देखना कठिन नही है कि यह **एकीकरण या सामान्यीकरण** की प्रक्रिया से भिन्न नही है। इससे उलट प्रक्रिया होगी—**विघटन** या **ठोसीकरण**,

२) **सगठन के सिद्धात मे परिवर्तन द्वारा**, जब **समन्वय** (किसी समष्टि के भीतर उसके घटको का सयोजन) का **स्थान** अधीनीकरण ले लेता है या इसके विपरीत होता है। उदाहरणत आरभ मे पूर्ण और खड सख्याए छात्रो के लिए सख्याओ के दो समान स्वतत्र भेद होती है

(समन्वय), परतु जब "परिमेय सख्या' की सकल्पना से उन्हें परिचित कराया जाता है, तो पूर्ण सख्याए खड सख्याओ का एक विशेष रूप बन जाती है इनकी सकल्पना खड सख्याओ की सकल्पना के अधीन आती है (अधीनीकरण)। इस प्रक्रिया को केंद्रीयकरण कहते है और इससे विपरीत क्रिया को विकेंद्रीयकरण,

३) केंद्रातरण, अर्थात गौण लक्षणो, घटको को महत्त्वपूर्ण के नाते पेश करना तथा इसके विपरीत। उदाहरणत, जब "समान त्रिकोणो की सकल्पना से एक जैसे त्रिकोणो' की सकल्पना पर आते है तो भुजाओ का आकार गौण तथा तत्सबधी कोण प्रमुख लक्षण हो जाते है।

सकल्पनाओ के निर्माण पर प्रभाव डालनेवाली परिस्थितिया

मनोविज्ञानवेत्ताओ ने बहुसख्यक प्रयोगो मे सकल्पनाओ के बनने की परिस्थितियो का विस्तार से अध्ययन किया है। उन्होने यह पता लगाया है कि निम्न कारक सकल्पनाओ के खोजमूलक गठन पर सुप्रभाव डालते हैं

१ व्यक्तित्व और अभिप्रेरण की विशिष्टताए। किसी भी अन्य सक्रियता की भाति सकल्पनाओ का गठन उद्देश्य द्वारा सचालित होता है और निश्चित अभिप्रेरको के प्रभाव मे ही यह प्रक्रिया होती है। सकल्पनाओ मे सुनिश्चित वस्तुओ के प्रकार्यो मे छात्र की रुचि जागनी चाहिए वे कृत्यक के निष्पादन के लिए आवश्यक होने चाहिए समस्या बन जाने चाहिए। तब छात्र का प्रत्यक्षबोध और चिंतन वस्तुओ मे तत्सबधी प्रकार्यात्मक सरचनाए खोजने और अभिलक्षित करने लगते है। सो सकल्पनाओ के शिक्षण के लिए ऐसे कृत्यक पेश किये जाने चाहिए, जिनके निष्पादन के लिए इन सकल्पनाओ का गठन और उपयोग करना आवश्यक हो।

२ लक्ष्यबद्ध प्रयत्न, खोजे तथा बहुसख्यक प्रयास तथा उनके साथ-साथ परिणामो की जाच। ऐसी खोजो से वस्तुओ के नये-नये सबधो और गुणधर्मो का बोध होता जाता है, जब तक कि उनमे

विचाराधीन किस्म के कृत्यको के हल के लिए महत्त्वपूर्ण सबधो और गुणधर्मो का पता नही चल जाता है। म० ल० रुबिन्स्तेइन ने सकल्पनाओ के गठन के इस पहलू का विस्तार से अध्ययन किया। उन्होने यह दिखाया कि कृत्यक हल किये जाने के दौरान हर अगले कदम मे मूल घटको, तत्त्वो के नये सबधो का पता लगता जाता है। इस आधार पर उनकी नई समझ बनती है इन्ही घटको को नई सकल्पनाओ से जोडा जाता है। ये नई सकल्पनाए कृत्यको के निष्पादन का उपकरण बन जाती है। उदाहरणत , ज्यामिति के विभिन्न सवालो मे एक ही खड (segment) को विभिन्न सकल्पनाओ से जोडा जा सकता है (अर्धक मध्यातर और शीर्षलब), यह इस बात पर निर्भर होता है कि सवाल हल करने के लिए त्रिकोण के दूसरे अगो के साथ उसके कौन से सबध महत्त्वपूर्ण है।

३ **तत्सबधी ज्ञान और योग्यताओ का होना।** इस शर्त के अनुसार सकल्पनाओ के शिक्षण से पहले छात्रो को इन सकल्पनाओ के आधार मे निहित वस्तुओ के गुणधर्मो, सबधो और प्रकार्यो से परिचित कराना चाहिए। उदाहरणत , स्तनपायी जीवो का सरचनात्मक लक्षण – दुग्ध-ग्रथिया – तभी समझ म आता है जबकि सभी जीवो क सामान्य प्रकार्यो – प्रजनन और पोषण – का ज्ञान हो। उल्लेखनीय है कि चर्चा किन्ही ठोस जीव जतुओ की नही, बल्कि सभी जीवो के अनिवार्य गुणो की है। यही कारण है कि इस विचाराधीन अवधारणा के अतर्गत **शिक्षण सर्वाधिक सामान्य सकल्पनाओ से ही** अथात यथार्थ जगत के जिस क्षेत्र का अध्ययन *किया जा रहा है उसके सर्वाधिक सामान्य सरचनात्मक लक्षणो* से आरभ करने का परामर्श दिया जाता है। इसीलिए स्कूलो मे गणित का अध्ययन अब सख्याओ और अकगणितीय क्रियाओ स नही बल्कि सर्वाधिक सामान्य सकल्पनाओ – समुच्चय उनके सबध उन पर सक्रियाओ – से आरभ करने का परामर्श दिया जाता है। यह सकल्पनाओ के शिक्षण की निगमनात्मक विधि है, जो आगमनात्मक विधि के विपरीत है। पिछले दशको मे सोवियत सघ म भी और विदेशो म भी शैक्षिक मनोविज्ञानवेत्ताओ ने निगमनात्मक विधि का सफलतापूर्वक अध्ययन किया है। इन अध्ययनो के फलस्वरूप सचित प्रायोगिक सामग्री से यह सिद्ध होता है कि सकल्पनाओ का निगमनात्मक विधि स शिक्षण सभव है

और प्राथमिक शिक्षा के पहले चरणों में ही संभव है।*

४ चिंतनमूलक कृत्यक के सार का पूर्व विश्लेषण तथा उसके समाप्य हलों का मूल्यांकन। अनुसंधानों से पता चला है कि संकल्पना का निर्माण तब अधिक तेजी में और सटीक होता है, जब छात्र यह समझता हो कि उसकी आवश्यकता किसलिए है, उसमें कैसे कृत्यक निष्पादित किये जा सकते हैं यथार्थ के किन क्षेत्रों से उसका संबंध है।

५ चिंतन की दिशा। अनेकानेक प्रयोगों से यह प्रमाणित हुआ है कि प्रायः छात्रों में सही संकल्पनाएं बनने के लिए इच्छा, लगन और ज्ञान का होना ही पर्याप्त नहीं होता। इन सबके साथ-साथ उनका चिंतन वस्तु के तत्संबंधी प्रकार्यों और लक्षणों की ओर लक्षित भी होना चाहिए। उदाहरणतः यदि छात्र का चिंतन शब्दों – वाक्य के अंगों – के केवल अर्थ की ओर ही लक्षित है तो वह उद्देश्य में अर्थी प्रकार्य ही निर्दिष्ट करता है ("उद्देश्य वह वस्तु है जो क्रिया करती है")। इसके फलस्वरूप "बच्चों द्वारा पुस्तक पढ़ी जाती है" जैसे वाक्यों में गलती हो सकती है जब छात्र "बच्चों" को उद्देश्य मानता है (वे ही तो पढ़ने की क्रिया करते हैं!)।

अर्थों का आत्मसात्करण

ऊपर उन युक्तियों पर विचार किया गया है, जिनकी मदद से वस्तुओं और परिघटनाओं के नवसंज्ञात महत्त्वपूर्ण संबंधों को प्रतिबिंबित करने के लिए नयी संकल्पनाएं बनती हैं। ये महत्त्वपूर्ण संबंध ही तत्संबंधी संकल्पनाओं का अर्थ होते हैं। छात्र इन अर्थों का पता कैसे लगाता है और कैसे उन्हें आत्मसात् करता है? दैनंदिन धारणाओं से भिन्न सभी वैज्ञानिक संकल्पनाएं और उनके अर्थ व्यक्ति स्वयं नहीं बनाता, बल्कि समाज से तैयार रूप में पाता है, पहले भाषा के जरिये और फिर स्कूल, पुस्तकों तथा सूचना के अन्य साधनों से। इस प्रकार वैज्ञानिक संकल्पनाओं के बनने का प्रमुख रास्ता शिक्षण है, और इसमें शिक्षण की अंतर्वस्तु प्रमुख होती है। छात्र जो ज्ञान पाता है और शिक्षण

---

* प्रस्तुत पुस्तक के अध्याय १ और ४ देखिये। – सं०

सकल्पनाओं के गठन का सचालन

उपरोक्त कारकों का मानसिक सक्रियता का ऐसा पोषक माध्यम कहा जा सकता है जिसकी सहायता से छात्र की सकल्पनाए बनती हैं। माध्यम का सही सगठन ऐसी सक्रियता पर सुप्रभाव डालता है उसके अधिक तेजी और सफलता से होने मे सहायक होता है। परतु अध्यापक के लिए निश्चित सकल्पनाओ के आत्मसात्करण की ओर लक्षित छात्र की 'स्वतत्र सक्रियता' पर सुप्रभाव डालना इतना महत्त्वपूर्ण नही है जितना कि इस सक्रियता का सीधे-सीधे और कारगर सचालन करना। कतिपय सोवियत विद्वानो का मत है कि छात्र की मानसिक सक्रियता के सचालन के लिए, पूर्ण और सटीक सकल्पनाओ के गठन के लिए एक तो तत्सबधी महत्त्वपूण लक्षणो का शेष लक्षणो से अलग करना तथा दूसरे उन्हे छात्र के लिए सार्थक बनाना चाहिए।

महत्त्वपूण लक्षणो को अलग करके दिखाने के दो रास्ते है [illegible] (नामाकन) विधि, जिसमे आवश्यक लक्षणो को [illegible] किया और तालिकाओ, सकेतो शब्दो मे व्यक्त किया [illegible] विकल्प विधि जिसमे तत्सबधी सामग्री के रूप और [illegible] जाते है कि उसम जो महत्त्वपूर्ण लक्षण है [illegible]

छात्र के लिए सार्थकता इस तरह पायी जाती है कि पाये गये महत्त्वपूर्ण लक्षणों का निश्चित कृत्यकों के निष्पादन में उपयोग किया जाता है। छात्र के लिए ये लक्षण उपयुक्त क्रिया के संकेतों के नाते आवश्यक हो जाते हैं। इसके लिए सचेत रूप से छात्र को ऐसे कार्यकलाप के सभी चरणों से गुजारना चाहिए, जिसके लिए उन लक्षणों को देखकर चलने की आवश्यकता हो, जो अध्ययनाधीन संकल्पना में निहित हैं। ऐसे कार्यकलाप का उद्देश्य होना है सूचित की जा रही संकल्पनाओं को अर्थमय बनाना, उनके उपयोग की रीतियां सीखने में मदद करना। इस कार्यकलाप में छात्र को स्वयं संकल्पनाओं में निहित लक्षणों को ढूंढ़ना नहीं चाहिए, बल्कि उनका उपयोग करना सीखना चाहिए। स्वाभाविक ही है कि पूर्ण और त्रुटिहीन संकल्पनाओं के गठन के लिए छात्र की तत्संबंधी सक्रियता पूरी तरह संकेतों के आधार पर बनी होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में अध्यापक को वस्तुओं के सभी महत्त्वपूर्ण लक्षण छात्र को बताने चाहिए और उसे उदाहरण देकर यह सिखाना चाहिए कि इन लक्षणों में से प्रत्येक के प्रकट होने या पुनः व्यक्त होने के लिए किन संक्रियाओं की अपेक्षा होती है।

ऐसा दो तरीकों से किया जा सकता है। पहला तरीका यह है कि क्रियाओं का संकेतमूलक आधार भिन्न-भिन्न ठोस नमूनों की मदद से निर्धारित और आत्मसात् किया जाता है। यह तरीका एक खास – एल्गोरिथ्म – के निरूपण से शुरू होता है, जो पूरी तरह से यह इंगित करता है: १) वस्तु के किन लक्षणों का और किस क्रम में पता लगाना चाहिए, २) किन्हीं निश्चित लक्षणों के होने पर कौन सी क्रियाएं करनी चाहिए, ३) इन क्रियाओं के क्या परिणाम हो सकते हैं, ४) कोई निश्चित परिणाम पाने पर वस्तु को किस संकल्पना से संबद्ध करना चाहिए। विभिन्न ठोस वस्तुओं (नमूनों) के लिए एल्गोरिथ्म का बार बार उपयोग करने के फलस्वरूप छात्र के मस्तिष्क में तत्संबंधी संकल्पनाएं बनती हैं। दूसरा तरीका यह है कि संकेतों के नाते छात्र को ठोस नमूने नहीं, बल्कि अध्ययनाधीन वस्तुओं (परिघटनाओं) के सामान्य सिद्धांत और संरचनाएं दी जाती हैं। ऐसी स्थिति में छात्र स्वयं सामान्य सिद्धांतों को देखते हुए ठोस वस्तुओं से संबंधित क्रियाओं के लिए संकेतमूलक आधार बनाता है।

तिक) सक्रियता से व्यावहारिक कृत्यको का निष्पादन संभव होता है ऐसी सक्रियता वस्तुओ के गुणधर्मो और सबधो के ज्ञान पर, जो सकल्पनाओ म निहित होता है आधारित होती है।

चिंतन की सर्वप्रथम अपेक्षा ही यह होती है कि ये सबध मालूम करने और उन्हे देख पाने की योग्यता हो। उदाहरणत "त्रिकोण की सकल्पना को आत्मसात् करने और उसका सही उपयोग करने का अर्थ है आकृतियो के सरचनात्मक गुणो का, जो इस सकल्पना म प्रतिबिबित है (सवृत्तता, तीन भुजाए, तीन कोण, आदि) पता होना और कृत्यको के हल के लिए उपयोग करना। न्यूटन के दूसरे नियम का सूत्र F=ma पिंड पर लगे बल और उसके त्वरण के बीच सबध को व्यक्त करता है।

मनोवैज्ञानिक अनुसधानो से पता चलता है कि चिंतन की सहायता से यथार्थ के विभिन्न सरचनात्मक लक्षण प्रतिबिबित और प्रयुक्त हो सकते हैं। ये प्रत्यक्षबोध म वस्तुओ और उनके इद्रियगम्य लक्षणो के बीच सबध हो सकते है (दूर–पास ', ' बडा–छोटा ' समान–असमान ऐसे ही लक्षण हैं)। इस मामले मे चिंतन प्रत्यक्षबोध की सरचना को पुनर्गठित करता है और इसी के फलस्वरूप कृत्यक का निष्पादन होता है।

उदाहरणत एक प्रयोग म पाचसाला बच्ची को एक सवाल दिया गया कागज से काटे गये समातर चतुर्भुज का क्षेत्रफल निर्धारित करना।



बच्ची यह जानती थी कि आयत का क्षेत्रफल कैसे निकाला जाता है (दो सलग्न भुजाओ की लबाई का गुणनफल)। उसने सवाल इस तरह हल किया पहले बोली पता नही कैसे करू । फिर कुछ देर चुप रहकर बाईं ओर के छायित की ओर इशारा किया 'यह यहा ठीक नही फिर दाईं ओर के भाग की ओर इशारा किया यह भी ठीक नही फिर कुछ सकोच के साथ कहा ' मैं यहा ठीक कर सकती हू पर । फिर सहसा जोर से बोली 'कैंची स

तू ? वहा जा ठीक नही, वह यहा ठीक रहेगा"। बच्ची ने कैंची लेकर समातर चतुर्भुज को अनुवत से काट दिया और बाया सिरा दाये सिरे म जोड दिया।



सवाल ठीक हल किया गया। यदि इस हल को ज्यामितीय और गणितीय सकल्पनाओ म रूपातरित किया जाये, तो इसका अर्थ गा कि समातर चतुर्भुज का क्षेत्रफल उसके आधार और शीर्षलव के गुणनफल के बराबर होता है। पर बच्ची अभी इन सकल्पनाओ से परिचित नही है। और इसलिए वह इनकी सहायता के बिना ही सवाल हल करती है, इसके लिए वह आकृति के रूप का पुनर्गठन करती है, दृश्य सरचना का पुनर्गठन करती है, अर्थात क्रियात्मक चिंतन से काम लेती है।

यथार्थ के सरचनात्मक लक्षण, जिन पर चिंतन आधारित होता है, वस्तुओं के ऐसे प्रकार्यात्मक और क्रियात्मक सबध एव गुणधर्म हो सकते हैं, जिन्हें मनुष्य अपने अनुभव से जानता है।

इसका उदाहरण यह मनोवैज्ञानिक प्रयोग हो सकता है। तराजू के एक पलड़े पर मोमबत्ती रखी गई और दूसरे पर उसके भार का बाट। फिर परीक्षणाधीन लोगो से कहा गया कि बाट घटाये-बढाये बिना और मोमबत्ती को काटे बिना ही सतुलन बिगाड दे। इस सवाल को हल करने के लिए मोमबत्ती जलानी चाहिए मोम जलने लगेगा बत्ती हल्की हो जायेगी और सतुलन बिगड जायेगा। पर अधिकाश परीक्षणाधीन लोग इसे हल नही कर सके। उनके लिए मोमबत्ती की अवधारणा म दूसरा प्रकार्यात्मक लक्षण – उजाला करना – जुडा हुआ है। परीक्षणाधीन व्यक्तियो के मानस के अनुसार प्रत्यक्षत इस लक्षण का सवाल से कोई सबध नही है वजनी होना तो दूसरा प्रकार्यात्मक लक्षण – भार – है। सवाल हल नही किया जा सका क्योकि परीक्षणाधीन व्यक्ति स्थिति के पुनर्गठन का तरीका नही ढूढ पाये।

तिक) सक्रियता से व्यावहारिक कृत्यकों का निष्पादन संभव होता है, ऐसी सक्रियता वस्तुओं के गुणधर्मों और संबंधों के ज्ञान पर, जो संकल्पनाओं में निहित होता है, आधारित होती है।

चिंतन की सर्वप्रथम अपेक्षा ही यह होती है कि ये संबंध मालूम करने और उन्हें देख पाने की योग्यता हो। उदाहरणतः, "त्रिकोण" की संकल्पना को आत्मसात् करने और उसका सही उपयोग करने का अर्थ है आकृतियों के संरचनात्मक गुणों का, जो इस संकल्पना में प्रतिबिंबित हैं (संवृत्तता, तीन भुजाएं, तीन कोण, आदि) पता होना और कृत्यक के हल के लिए उपयोग करना। न्यूटन के दूसरे नियम का सूत्र $F=ma$ पिंड पर लगे बल और उसके त्वरण के बीच संबंध को व्यक्त करता है।

मनोवैज्ञानिक अनुसंधानों से पता चलता है कि चिंतन की सहायता से यथार्थ के विभिन्न संरचनात्मक लक्षण प्रतिबिंबित और प्रयुक्त हो सकते हैं। ये प्रत्यक्षबोध में वस्तुओं और उनके इंद्रियगम्य लक्षणों के बीच संबंध हो सकते हैं ('दूर-पास", "बड़ा-छोटा", "समान-असमान" ऐसे ही लक्षण हैं)। इस मामले में चिंतन प्रत्यक्षबोध की संरचना को पुनर्गठित करता है और इसी के फलस्वरूप कृत्यक का निष्पादन होता है।

उदाहरणतः, एक प्रयोग में पांचसाला बच्ची को एक सवाल दिया गया: कागज से काटे गये समांतर चतुर्भुज का क्षेत्रफल निर्धारित करना।



बच्ची यह जानती थी कि आयत का क्षेत्रफल कैसे निकाला जाता है (दो संलग्न भुजाओं की लंबाई का गुणनफल)। उसने सवाल इस तरह हल किया: पहले बोली: "पता नहीं, कैसे करूं"। फिर कुछ देर चुप रहकर बाईं ओर के छायित की ओर इशारा किया: 'यह यहां ठीक नहीं"। फिर दाईं ओर के भाग की ओर इशारा किया: "यह भी ठीक नहीं"। फिर कुछ संकोच के साथ कहा: 'मैं यहां ठीक कर सकती हूं, पर...'। फिर सहसा जोर से बोली: 'कैंची ले

लू ? वहा जो ठीक नही, वह यहा ठीक रहेगा । बच्ची ने कैंची लेकर समातर चतुर्भुज को अनुलब से काट दिया और बाया सिरा दाये सिरे से जोड दिया।



सवाल ठीक हल किया गया। यदि इस हल को ज्यामितीय और बीजगणितीय सकल्पनाओ मे रूपातरित किया जाये तो इसका अर्थ होगा कि समातर चतुर्भुज का क्षेत्रफल उसके आधार और शीर्षलब के गुणनफल के बराबर होता है। पर बच्ची अभी इन सकल्पनाओ से परिचित नही ह। और इसलिए वह इनकी सहायता के बिना ही सवाल हल करती है इसके लिए वह आकृति के रूप का पुनर्गठन करती है दृश्य सरचना का पुनर्गठन करती है अर्थात बिबात्मक चितन से काम लेती है।

यथार्थ के सरचनात्मक लक्षण जिन पर चितन आधारित होता है, **वस्तुओ के ऐसे प्रकार्यात्मक और क्रियात्मक सबध एव गुणधर्म हो सकते हैं, जिन्हे मनुष्य अपने अनुभव से जानता है।**

इसका उदाहरण यह मनोवैज्ञानिक प्रयोग हो सकता है। तराजू के एक पलडे पर मोमबत्ती रखी गई और दूसरे पर उसके भार का बाट। फिर परीक्षणाधीन लोगो से कहा गया कि बाट घटाये बढाये बिना और मोमबत्ती को काटे बिना ही सतुलन बिगाड दे। इस सवाल को हल करने के लिए मोमबत्ती जलानी चाहिए मोम जलने लगेगा बत्ती हल्की हो जायेगी और सतुलन बिगड जायेगा। पर अधिकाश परीक्षणाधीन लोग इसे हल नही कर सके। उनके लिए मोमबत्ती की अवधारणा से उसका प्रकार्यात्मक लक्षण – उजाला करना – जुडा हुआ है। परीक्षणाधीन व्यक्तियो के सोचने के अनुसार प्रत्यक्षत इस लक्षण का सवाल से कोई सबध नही है बदलना तो दूसरा प्रकार्यात्मक लक्षण – भार – है। सवाल हल नही किया जा सका क्योकि परीक्षणाधीन व्यक्ति स्थिति के पुनर्गठन का तरीका नही ढूढ पाये।

वस्तुओं के आम प्रकार्यों से संबधित अर्थ (दैनंदिन मिथ्या संकल्पनाएं) व्यक्ति के निजी अनुभव पर आधारित होते हैं। इस मामले में वस्तुओं के संबधों का ज्ञान व्यक्ति के व्यावहारिक अनुभव की संरचना में आबद्ध होता है चिंतन मिथ्या संकल्पनाओं के तत्संबधी पुनर्गठन की सहायता से होता है। इसे **व्यावहारिक चिंतन** कहते हैं।

यथार्थ के संरचनात्मक लक्षण, जिन पर चिंतन आधारित होता है **विज्ञान द्वारा निर्धारित** उसके वस्तुगत, महत्त्वपूर्ण **गुणधर्म और नियमसंगतियां** हो सकते हैं। उदाहरणत, निश्चित द्रव्यमान के पिंड पर निश्चित बल के लगने से कितना त्वरण होगा—यह निर्धारित करने के लिए छात्र न्यूटन के दूसरे नियम का प्रयोग करता है। ऐसा ज्ञान वैज्ञानिक संकल्पनाओं और नियमों में प्रतिबिंबित होता है। यह ज्ञान मानवजाति के संज्ञानमूलक अनुभव पर आधारित होता है। इस मामले में वस्तुओं के संबधों के बारे में ज्ञान **वैज्ञानिक संकल्पनाओं और कथनों की संरचना** में आबद्ध होता है, और चिंतन इन संकल्पनाओं और कथनों को एक दूसरे से (या यथार्थ से) जोडकर तथा उनके तत्संबधी पुनर्गठन से होता है। यह **वैज्ञानिक चिंतन** है।

यथार्थ के संरचनात्मक लक्षण जिन पर चिंतन आधारित होता है **वस्तुओं और परिघटनाओं के विशिष्ट और सामान्य दोनों ही तरह के ऐसे संबध** हो सकते है, जो संनियता के लिए सार्थक हों। कार्य कारण उद्देश्य और साधन वस्तु और उसके गुण अंश और संपूर्ण के संबध सामान्य संबधों में ही आते हैं। वस्तुओं और परिघटनाओं के ऐसे सामान्य सार्थक संबध जिन विचारमूलक संरचनाओं में आबद्ध होते है उन्हे **प्रवर्ग** कहते है। ये सारी मानवजाति के समस्त व्यावहारिक अनुभव पर आधारित होते है और यथार्थ जगत के प्रति उसका संबध व्यक्त करते है। इस मामले मे यथार्थ जगत के संबधों के बारे में ज्ञान **चिंतन की प्रवर्गात्मक संरचना** में आबद्ध होता है, और स्वयं चिंतन इसी बात में निहित होता है कि यथार्थ जगत को प्रवर्गों के इस जाल में बिठाया जाये वस्तुओं और घटनाओं को उनके गुणधर्मों रूपों आकारों प्रकार्यों कारणों प्रयोजनों, घटकों के अनुसार व्यवस्थित किया जाये।

यथार्थ के संरचनात्मक लक्षण जिन पर चिंतन आधारित होता

है, सकल्पनाओ के सबधो के रूप मे भी प्रस्तुत हो सकते है। उदाहरणत उद्देश्य और विधेय, स्वीकरण और निषेध, सयोजन और वियोजन विशिष्ट और सामान्य, अमूर्त और ठोस निष्पत्ति और प्रत्यास्थापना के सवध ऐसे ही सवध है। इनका ज्ञान उन तर्कशास्त्रीय नियमो और सकल्पनाओ के रूप मे बधा होता है जो मानवजाति के चितन मूलक व्यवहार और अनुभव पर आधारित होते है। इस मामले मे वस्तुओ के सवधो के बारे मे ज्ञान चितन की तार्किक सरचनाओ मे आवद्ध होता है, और स्वय चितन सकल्पनाओ के निर्धारण और पुनर्गठन के लिए इन सरचनाओ के उपयोग मे प्रकट होता है। यथार्थ वस्तुओ पर नियाओ के स्थान पर तर्कशास्त्र के नियमो के अनुसार सकल्पनाओ से कार्य लेनेवाला चितन **तार्किक चितन** कहलाता है।

इस प्रकार चितन के शिक्षण म सर्वप्रथम छात्रो मे निश्चित **सज्ञानमूलक सरचनाओ** का गठन आता है। ये सरचनाए धारणाओ अनुभव, सकल्पनाओ, प्रवर्गो और तार्किक सबधो की सरचनाए हो सकती है जिनसे छात्र काम लेते है।

शिक्षण मे चितन के विभिन्न भेदो के निर्माण की परिस्थितिया

निश्चित शैक्षिक परिस्थिति मे चितन के किस भेद का निर्माण होगा यह बात चार मूल कारको पर निर्भर होती है १) छात्र का वास्ता जिस सामग्री से है, उसके स्वरूप पर २) उसे जिस भेद के कृत्यक का निष्पादन करना है, उस पर, ३) छात्र की आयु और उसके विकास के स्तर पर, ४) शिक्षण की रीति पर।

सामग्री को समझ लेने का अर्थ है वस्तुओ और परिघटनाओ के एक दूसरे से तथा छात्र क अपने ज्ञान और अनुभव से भी सवध स्थापित कर लेना। चितन का अर्थ है निश्चित कृत्यको के निष्पादन के लिए इन सवधो का उपयोग करना। अनुसधानो मे पता चला है कि उपरोक्त सबधो का स्वरूप विभिन्न हो सकता है। किसी सामग्री म ये मुख्यत तार्किक होते हैं जब कुछ तथ्यो की निष्पत्ति तर्कशास्त्र के नियमो के अनुसार सैद्धातिक तल पर दूसरे तथ्यो म हो सकती है उदाहरणत गणितीय प्रमेय को सिद्ध करना। ऐसे तथ्यो को आवश्यक कहा जा

सकता है। किसी सामग्री म सबधो का स्वरूप प्रकार्यात्मक हो सकता है तब य तथ्यो व प्रेक्षण स प्राप्त निश्चित वैज्ञानिक नियम व्यक्त करत हैं, उदाहरणत वॉयल क नियम का उपयोग करन का भौतिकी का सवाल हल करना। एस तथ्यो को सुनिश्चित कहा जा सकता है। कुछ मामला म सबध कोई वैज्ञानिक नियम नही, अपितु तथ्यो के कोई स्थायी सयोजन जो व्यवहार म पाये जाते हैं व्यक्त कर सकत हैं जैस कि विभक्तिया हिज्जा क नियम आदि। एस तथ्यो को नियमानुरूप कहा जा सकता है। अतत ऐसी भी सामग्री हो सकती है, जिसम वस्तुओ तथ्यो के बीच सबध सयोगी हो सकत है केवल प्रस्तुत सामग्री म ही पाय जा सकते हैं जैस किसी कविता म शब्द सयोजन, किसी स्थान की भू-आकृति।

यदि चिंतन सच्चा है अर्थात यथार्थ का सही प्रतिबिंबन करता है तो वह केवल उन सबधो पर ही आधारित हो सकता है, जो उसकी आरभिक जानकारी म वास्तव म है। इसीलिए आवश्यक तथ्य तार्किक चिंतन के विकास के लिए अवसर प्रदान करते हैं, सुनिश्चित तथ्य वैज्ञानिक चिंतन के (वैज्ञानिक चिंतन अनिवार्यत तार्किक भी होगा), नियमानुरूप तथ्य व्यावहारिक चिंतन के तथा सयोगी तथ्य बिबात्मक चिंतन के विकास क लिए अवसर प्रदान करते हैं। किसी भी तरह की सामग्री की सहायता से हर तरह के चिंतन का निर्माण नही किया जा सकता। निश्चित शिक्षा सामग्री म कैसे सबधो की प्रचुरता है उसी के अनुसार वे सभावनाए भी बदलती है जो उसम किसी एक तरह के चिंतन को विकसित करने के लिए होती है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि कुल जमा आवश्यक सबध गणितविज्ञान म अधिक पाये जाते है सुनिश्चित सबध प्राकृतिक (विशेषत भौतिकी रसायन म) नियमानुरूप सबध भाषा एव साहित्यशास्त्र मे जीवविज्ञान और भूगोल के कुछ भागो म श्रममूलक एव व्यावहारिक कार्यकलापो के अनेक क्षेत्रो मे तथा सयोगी सबध (इन्हे व्यक्तिगत एकल अद्वितीय कहना अधिक सही होगा) कलाकृतियो और ललित साहित्य मे पाये जाते है। अतत प्रवर्गात्मक सबध सकल्पनामूलक चिंतन का आवश्यक आधार होते हैं और प्रत्यक्षत दर्शनशास्त्र मे ही वे प्रमुख होते हैं। इस काफी स्थूल वर्गीकरण क आधार पर ही चिंतन के ऊपर चर्चित भेदो के

शिक्षण के लिए विभिन्न स्कूली विषयो की आपेक्षिक सभावनाए निर्धारित की जाती है।

पहला कारक – तथ्यो का स्वरूप – जहा चिंतन के निश्चित भेद के विकास की केवल **सभावनाए** ही पैदा करता है वही दूसरा कारक – **कृत्यक का स्वरूप** – इसकी **आवश्यकता** उत्पन्न करता है। प्रत्येक कृत्यक के निष्पादन के लिए आरभिक तथ्यो के निश्चित सबधो का पता लगाने और उपयोग करन की अपेक्षा होती है। उदाहरणत गणित मे प्रमेय सिद्ध करने के लिए आवश्यक तथ्यो के तार्किक सबधो का पता लगाना और उपयोग करना चाहिए। परिमाण निर्धारित करने के सवाल (जैसे कि कितने घटो मे तालाब भरेगा) मुख्यत प्रकार्यात्मक सबधो का पता लगान पर आधारित होते हैं और समीकरणो के हल (जैसे $x^2+2x=8$) के लिए प्राय केवल नियमानुरूप पुनर्गठनो की ही आवश्यकता होती है। अतत गणित मे ही एसे भी कई सवाल है जिनके हल के लिए बिबात्मक चिंतन की भी आवश्यकता होती है (उदाहरणत , ज्यामिति मे रचना के सवाल)। सो स्वय कृत्यक ही आरभिक तथ्यो म किसी एक तरह के सबधो को चिंतन का आधार बनवाता है और इस तरह यह निर्धारित करता है कि हल म चिंतन के कौन से भेद की सिद्धि होती है। कृत्यक का स्वरूप बदलते हुए छात्र के सामने एक ही सामग्री के भिन्न भिन्न पहलू रखे जा सकते है उसम चिंतन के विभिन्न भेद विकसित किये जा सक्त है।

तीसरा कारक है – **छात्रो की आयु और विकास का स्तर**। आयु की सीमाए बाधना कठिन है। जैसा कि ल० स० विगोत्स्की ने दिखाया है एक ही व्यक्ति मे चिंतन के विभिन्न भेदो और स्तरा का सहअस्तित्व हो सकता है जोकि उसके ज्ञान तथा किसी क्षेत्र मे तत्सबधी चिंतन के व्यवहार पर निर्भर होता है। फिर भी प्रत्यक्षत मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि आयु के साथ साथ चिंतन बिबात्मक-व्यावहारिक स वैज्ञानिक और सैद्धातिक की ओर बढता है।

चौथा कारक है – **शिक्षण की रीति**, वे सबध स्थापित करन की रीति जिनसे चिंतन काम लेता है। विश्लेषण से पता चलता है कि शिक्षण की तीन प्रमुख रीतिया है

१ छात्रो को पहले से ही सामान्य सिद्धातो सूत्रो नियमो

आदि के रूप मे आवश्यक सबधो के बारे मे बता दिया जाता है। यह **सिद्धातो के शिक्षण** का तरीका है।

२ तथ्यो पर सोच विचार करते, उन्हे समझते हुए तथा उनसे काम लेते हुए छात्र स्वय महत्त्वपूर्ण सबधो का पता लगाते है। यह **उदाहरणो से शिक्षण** का तरीका है।

३ छात्रो को युक्तिया सिखाई जाती है, वे लक्षण ढूढने सिखाये जाते है जिनकी सहायता से वस्तुओ और परिघटनाओ के आवश्यक सबधो का पता चलता है। इस मामले मे यदि छात्रो को विचारमूलक सक्रियता की आवश्यक रीतिया सिखा दी जाती है, तो वे स्वय तथ्यो के महत्त्वपूर्ण सबधो का पता लगा लेते है। यह **चितन के सरचनात्मक सकेतो के शिक्षण** का तरीका है।

मनोविज्ञानवेत्ताओ ने सज्ञानमूलक सरचनाओ के आत्मसात्करण के तीनो तरीको की तुलना की है। अनुसधानो के परिणामो से पता चलता है कि अन्य परिस्थितिया समान होने पर सिद्धातो के शिक्षण के तरीके से **सकल्पनाओ को समझने** मे कुछ बेहतर परिणाम पाये जाते है। उदाहरणो से शिक्षण का तरीका **याद करने** के लिए कुछ अधिक कारगर है। और सरचनात्मक सकेतो का शिक्षण **बौद्धिक क्षमताओ के अन्तरण** मे अधिक सहायक होता है। दूसरे शब्दो मे, यह छात्रो के **चितन के विकास** के लिए अधिक कारगर है। सो सकल्पनाओ के शिक्षण मे प्रस्तुत सभी कार्यभारो की सर्वोचित पूर्ति के लिए उसमे उपरोक्त तीनो तरीको का मेल होना चाहिए।

चितन की क्रियात्मक सरचनाए और उनके निर्माण की परिस्थितिया

ऊपर सज्ञानात्मक सरचनाओ पर गौर किया गया है जिनमे चितन यथार्थ जगत के सबधो को प्रतिबिंबित करता है। किंतु चितन क्रियाओ की सहायता से ही इन सबधो का पता लगाता और उपयोग करता है। इन क्रियाओ की प्रणाली **चितन की क्रियात्मक सरचनाए** होती है।

शिक्षा मनोविज्ञान के लिए यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण है कि ये सरचनाए

शिक्षण की विधि पर निर्भर करती है जिससे चितन का निर्माण होता है। यदि चितन का निर्माण तैयार सामान्य नियमो (सूत्रो, सिद्धातो) की सूचना, हृदयगमन और उपयोग के जरिये होता है तो चितनमूलक क्रियाओ का आधार मुख्यत सामान्य नियम (सिद्धात) और उन वस्तुओ (स्थितियो) का सबध ही होता है, जिनके प्रति उसे प्रयुक्त किया जा सकता है, अर्थात मौलिक सामान्यीकृत साहचर्य ही चितनमूलक क्रिया का आधार होते है। सोवियत मनोविज्ञानवेत्ता प० अ० शेवर्योव (१८६२-१६७०) ने ऐसे साहचर्यो तथा शिक्षण म उनकी भूमिका का विस्तार से अध्ययन किया। उन्होंने पता लगाया कि सामान्यीकृत साहचर्य मुख्यत तीन तरह के हो सकते हैं।

१ **अर्धविकल्पी साहचर्य।** ये साहचर्य विभिन्न ठोस वस्तुओ के निश्चित लक्षणो को तत्सबधी अवधारणाओ से जोडत है। उदाहरणत जब कोई व्यक्ति कोई आकृति देखता है और यह समझता है कि यह त्रिकोण है" तो उसके मस्तिष्क मे अर्धविकल्पी साहचर्य बनता है। इस साहचर्य की अभिप्रेरक वस्तुए भिन्न भिन्न होती है। ये छोटे वडे किसी भी तरह के त्रिकोण हो सकते है। परतु ज्या ही मनुष्य उनम से किसी म भी तत्सबधी वर्गमूलक लक्षण देखता है त्यो ही उसकी चेतना मे यह बात भी उठती है कि यह त्रिकोण है।

२ **अमूर्त विकल्पी साहचर्य।** ये साहचर्य वस्तु के सामान्य लक्षणो को उसकी ठोस विशिष्टताओ से जोडते है। उदाहरणत इस बात स कि ह्वेल स्तनपायी जीव है यह निष्कर्ष निकलता है कि वह हवा म साम लेती है।

३ **ठोस विकल्पी साहचर्य।** ये साहचर्य वस्तु की ठोम विशिष्टताओ को इस पर की जानेवाली ठोस क्रियाओ से जोडते हैं। उदाहरणत इम बात को समझने से कि a^2-b^2 वर्गो का अतर है यह भी समझा जाता है कि इस सूत्र को दूसरे सूत्र $(a+b)\times(a-b)$ स बदला जा सकता है।

ऐसे साहचर्य ठेठ किस्म के कृत्यको के हल म और सामान्यत ठोस मामले मे किन्ही सूत्रो या नियमो (गणित व तर्कशास्त्र क नियमो) क उपयोग म महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करत है। स्वय उस नियम की, जिस क अनुसार किन्ही वस्तुओ क स्थान पर दूसरी वस्तुओ को रखने की सभावना होती है मनुष्य को चेतना नहीं होती है। यह

मनुष्य की मानसिक क्रियाओ मे, उसकी धारणाओ और सकल्पनाओ की "गति" मे, वाक एव अन्य क्रियाओ म यत्रवत ही लागू होता है। इस स्वचालन के आधार पर ही उपरोक्त सबधो को साहचर्यमूलक माना जाता है।

'अच्छा', अर्थात सही, सफल, कारगर चितन उन सामान्यीकृत साहचर्यों को, जो निष्पादित किये जानेवाले कृत्यक के अनुकूल होते हैं, लागू कर सकना है। यही कारण है कि कारगर चितन के शिक्षण से वस्तुओ के सामान्य गुणधर्मो या सबधो से परिचित कराने मात्र की ही नही बल्कि यह आत्मसात् कराने की भी अपेक्षा होती है कि किन कृत्यको के लिए ये गुणधर्म महत्त्वपूर्ण हैं।

निश्चित वस्तु के लिए व सकेत ले (उदाहरणत त्रिकोण के लिए), वस्तु पर निश्चित क्रियाओ के लिए सूचनाक के साथ क (उदाहरणत, $क_1$ – १८०° मे से दो ज्ञात कोणो का योग घटाना" $क_2$ – आधार की लबाई को शीर्षलब से गुणा करना और दो से भाग करना')। सूचनाक के साथ स सकेत त्रिकोणो के विभिन्न सवालो के लिए ल (उदाहरणत $स_1$ – 'अज्ञात कोण का पता लगाना', $स_2$ – 'त्रिकोण का क्षेत्रफल निर्धारित करना")।

तब त्रिकोण का क्षेत्रफल निर्धारित करते हुए (व $स_2$) निम्न सामान्यीकृत साहचर्य की सिद्धि होगी व $स_2 \rightarrow क_2$।

इस दृष्टि स चितन के शिक्षण का अर्थ है छात्र के मस्तिष्क म एक ओर निश्चित वस्तुओ (व) और कृत्यको, सवालो (स) के बीच ऐसे ही सबधो की चेतना तथा दूसरी ओर जवाबी क्रियाओं (क) के साथ सबधो की चेतना बनाना अर्थात व स → क किस्म का साहचर्य गठित करना। ऐसा, उदाहरणत, निम्न तरीके से किया जाता है। पहले छात्रो को वस्तु और कृत्यक के बारे मे बताया जाता है, वस्तु के वे गुण समझाये जाते है जो कृत्यक के निष्पादन के सिद्धात निर्धारित करते है और ये सिद्धात तथा इन पर आधारित निष्पादन की रीति भी समझायी जाती है। फिर अभ्यास करते हुए निष्पादन क सिद्धानो और रीति को स्थायी सबधो की निश्चित प्रणालियो मे आबद्ध किया जाता है। छात्र के मस्तिष्क मे तैयार स्वत चालू हानेवाली कार्यविधि बन जाती है जो तत्सबधी आरभिक तथ्य आकडे और सवाल पाकर

तुरत चालू हो जाती है और छात्र आरभिक तथ्यो, आकडो पर सवाल के हल के लिए आवश्यक सभी क्रियाए "सोचे बिना ही" करता है उसे प्राय इस बात की चेतना भी नही होती कि वह ऐसा क्यो कर रहा है। और इसके लिए प्रत्यक्षत यह अनिवार्य नही है कि सवाल ठेठ किस्म के हो और उन्हे हल करने की रीति पहले से ज्ञात हो। हल की अज्ञात रीति खोजने, आरभिक तथ्यो के विश्लेषण और सश्लेषण इत्यादि के लिए भी ऐसी ही साहचर्यपरक क्रियाविधिया बनायी जा सकती है।

पिछले वर्षो मे यह अवधारणा **शिक्षण के एल्गोरिथ्मीकरण** के विभिन्न सिद्धातो के आधार मे रखी गयी है। इनका सार यह है कि छात्रो को न केवल निश्चित वस्तुओ के महत्त्वपूर्ण लक्षणो की सकल्पनाओ की शिक्षा दी जाती है बल्कि उन नियमो (एल्गोरिथ्मो) की भी जिनके अनुसार ये लक्षण निश्चित कृत्यको के निष्पादन के लिए आवश्यक क्रियाओ से जोडे जाते हैं। उदाहरणत साधारण वाक्य के भेदो का अध्ययन करते हुए ऐसा एल्गोरिथ्म दिया जाता है १ यह देखो कि वाक्य मे विधेय है या नही। यदि नही तो यह **अभिधान** वाक्य है। २ यदि हा, तो यह देखो कि उद्देश्य है कि नही। ३ यदि हा तो वाक्य **पहले भेद का, पुरुषवाचक है**। यदि नही तो इत्यादि।

अभ्यासो के दौरान एल्गोरिथ्म स्वचालित हो जाता है और साधारण वाक्य (**व**) से साबिका होने पर और उसका भेद निर्धारित करने का सवाल (**स**) आने पर तुरत ही इस स्थिति मे चिंतनमूलक क्रिया (**क**) की रीति के रूप मे यह एल्गोरिथ्म प्रयुक्त होता है। इस प्रकार एक तरह की **विशेषीकृत बौद्धिक दक्षता** बन जाती है या विशेष चिंतनमूलक क्रियाविधि बन जाती है, जो इस किस्म के कृत्यको के सपादन के लिए नियत होती है।

बौद्धिक सक्रियता के ऐसे विशेष एल्गोरिथ्मो के बनने से **चिंतन की सक्रियात्मक सरचना गठित होती है, अर्थात बौद्धिक सक्रियता की विभिन्न ठोस प्रणालिया बनती हैं, जिनका छात्र उपयोग करते हैं।**

चिंतन की सक्रियात्मक सरचना के गठन का **दूसरा तरीका** है उन सबधो को आत्मसात् करना जिन पर चिंतन आधारित होता है। इस तरीके के मूल मे यह बात निहित है कि छात्र स्वय ही वस्तुओ पर क्रियाओ के दौरान उनके सरचनात्मक लक्षण देखते है तत्सबधी सकल्प-

नाओ का उपयोग करते हैं उनकी सहायता से निश्चित कृत्यक हल करते हैं। यहां वे चिंतनमूलक सक्रियाएं अग्रभूमि में आती हैं जो वस्तुओं के महत्त्वपूर्ण सरचनात्मक लक्षणों और सबधों को प्रकट करती हैं। मनोवैज्ञानिक अनुसधानों से पता चलता है कि तादात्म्यीकरण, प्रभेदन, विश्लेषण और सश्लेषण ऐसी सक्रियाएं हैं।

विश्लेषण और सश्लेषण के (तथा प्रभेदन और तादात्म्यीकरण के भी) परिणाम अमूर्तीकरण, सामान्यीकरण, ठोसीकरण और प्रस्पष्टीकरण की प्रक्रियाओं की सहायता से सकल्पनाओं में आबद्ध होते हैं। इन प्रक्रियाओं की बदौलत विश्लेषण, सश्लेषण, प्रभेदन, तादात्म्यीकरण की सक्रियाओं के परिणामस्वरूप यथार्थ जगत के जिन लक्षणों और सबधों का पता चलता है वे वस्तुओं से अलग होते हैं और सकल्पनाओं में आबद्ध होते हैं (अमूर्तीकरण सामान्यीकरण) या इसके विपरीत निश्चित वस्तुओं के मान जाते हैं उनमें मूर्तित होते हैं (ठोसीकरण और प्रस्पष्टीकरण)।

इस मामले में चिंतन की सक्रियात्मक सरचनाओं के गठन का अर्थ है हल किये जा रहे कृत्यक के अनुरूप वस्तुओं, धारणाओं और सकल्पनाओं पर उपरोक्त चिंतनमूलक सक्रियाएं और क्रियाएं करने की योग्यता पाना। इस दृष्टि से चिंतन के शिक्षण का अर्थ है मनुष्य को यह सिखाना कि वस्तुओं और कृत्यकों के निश्चित वर्गों के लिए उपरोक्त प्रक्रियाओं और सक्रियाओं को कैसे करना चाहिए।

सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओं ने इन विचारों को शिक्षणशास्त्र में उतारने का काम किया है। विश्लेषण और सश्लेषण अमूर्तीकरण और सामान्यीकरण की ठोस रीतियों को उन्होंने बौद्धिक सक्रियता की युक्तियां कहा है। अनुसधानों से पता चला है कि ये युक्तियां शिक्षा सामग्री तथा हल किये जा रहे कृत्यकों के स्वरूप के अनुसार बदलती हैं। उदाहरणत वनस्पतिशास्त्र और अकगणित में वस्तुओं के विश्लेषण की युक्तियां भिन्न भिन्न होंगी। वनस्पतिशास्त्र में ये वनस्पति के प्रकार्यात्मक अगों (पत्ती जड फूल) पर उनकी रचना और आकार पर आधारित होंगी, जबकि अकगणित में ये गिनती राशियों की तुलना क्रमस्थापन आदि पर निर्भर करती है। इस प्रकार चिंतन का शिक्षण सदा निश्चित सारगर्भित सामग्री के आधार पर होता है

और यह इस बात मे निहित होता है कि **छात्रो को बौद्धिक सक्रियता को वे ठोस रीतिया सिखायी जाती हैं**, जो तत्संबंधी सामग्री के संरचनात्मक गुणधर्मो का पता लगाने तथा संज्ञानात्मक शैक्षिक और व्यावहारिक कृत्यको के सपादन मे उनके उपयोग के लिए आवश्यक होती है।

अतत, यथार्थ जगत के सबधो को आत्मसात् करने का **तीसरा तरीका** है उसे किन्ही **सामान्य प्रवर्गो और तार्किक सरचनाओ** मे ढाल कर देखना। पहली बात **प्रवर्गीकरण** की प्रक्रिया से होती है। इसकी सहायता से विचाराधीन तथ्यो और परिघटनाओं मे ऐसे सामान्य निश्चित प्रकार्यात्मक सबध प्रकट किये जाते है जैसे कि गुण परिमाण माना कारण कार्य अन्योयक्रिया उद्देश्य साधन प्रयोजन। दूसरी बात **व्यवस्थापन** से होती है। इसमे वर्गीकरण क्रमस्थापन विवक्षा, अतर्वेशन और अपवर्जन आते है। इन सक्रियाओ की सहायता से वस्तुओ या सकल्पनाओ के बीच अधीनता या सहअधीनता वैपरीत्य या सगतता अनुक्रमिकता के सबध बन जाते है।

सकल्पनाओ की सहायता से यथार्थ के ऐसे प्रवर्गीकरण और व्यवस्थापन को **सूत्रीकरण** की निश्चित प्रणाली माना जा सकता है। इसकी सहायता से विभिन्न वस्तुओ को समतुल्यता (निश्चित लक्षणो की समता) के निश्चित वर्गो मे रखा जाता है। मान लिया कि किसी वस्तु को निश्चित वर्ग में रखा गया है। तब इस वस्तु के ज्ञात लक्षणो के अलावा इसमे उन गुणो का होना भी माना जा सकता है जो इस वर्ग के लिए लाक्षणिक है। उदाहरणत जब यह निर्धारित है कि दत्त आकृति त्रिकोण है, तो इसमे स्वत ही ऐसे लक्षणो का होना माना जा सकता है जैसे कि 'आतरिक कोणो का योगफल १८०° के बराबर है ' क्षेत्रफल आधार की आधी लबाई तथा शीर्षलब के गुणनफल के बराबर है , इत्यादि।

मनुष्य मानो उपलब्ध सूचना के पार देखता है द्वारा वस्तु के प्रेक्षण से प्राप्त सूचना की सीमा से बाहर निकलता है।

इस दृष्टि से नयी सकल्पनाओ का गठन भिन्न भिन्न विशिष्ट प्रणालियो को नयी अधिक सामान्य प्रणालियो मे गठित करते हुए सूत्रो का पुनसूत्रीकरण माना जा सकता है। विज्ञान या शिक्षण का अधिग

ऊचे स्तर की सूत्रीकरण की प्रणालियो का शिक्षण माना जा सकता है। विज्ञान का उद्देश्य यह है कि सकल्पनाओ द्वारा प्रतिबिंबित परिघटनाओ के वर्गों के बारे मे हर तरह की दूसरी सूचना जहा तक सभव हो पूर्वानुमान योग्य और प्रचुर और अतिरिक्त हो जाय। उदाहरणत ज्यामिति मे कुछ मूल सकल्पनाओ, परिभाषाओ और स्वयसिद्धियो से भाति भाति की अनेक आकृतियो के विविध गुणो और सबधो के बारे म व्यापक सूचना पायी जा सकती है भौतिकी मे $S=gt^2$ के एक सूत्र से ही दत्त समय मे किसी भी गिरते पिंड द्वारा तय की गई दूरी को मापना अनावश्यक हो जाता है।

इस दृष्टि से शिक्षण का कार्यभार अनेकानेक प्रारभिक ठोस तथ्यो का आत्मसात् करना इतना नही है, जितना कि सूत्रीकरण की प्रणालियो को आत्मसात् करना। इसलिए सकल्पनाओ का शिक्षण निगमनात्मक विधि के छात्रो द्वारा सर्वप्रथम सामान्य व्यवस्थापक सिद्धातो के आत्मसात्करण के आधार पर सगठित करना ही अधिक उपयुक्त है। अधिक विशिष्ट सकल्पनाओ और ठोस तथ्यो को इन सिद्धातो की कमोबेश ठोस अभिव्यक्ति के रूप मे ही पेश करना चाहिए।

पिछले वर्षो म इस उपागम को क्रियान्वित करनेवाले पाठ्यक्रम और पाठ्य पुस्तके बनाने की कोशिश की जा रही है। इनका मुख्य ध्येय है छात्रो के मस्तिष्क म प्रदत्त विज्ञान की सकल्पनाओ की प्रणाली बनाना और इस प्रणाली के निर्माण, विस्तार और उपयोग क सिद्धातो की समझ पैदा करना।

चितन के शिक्षण के तरीके

यदि सक्रियात्मक सरचनाओ का निर्माण सामान्यीकृत साहचर्यो, बौद्धिक सक्रियता की युक्तियो तथा बुद्धि की सक्रियात्मक सरचनाओ को आत्मसात् करन स होता है तो स्वय ये साहचर्य, युक्तिया और सरचनाए कैसे बनती हैं? इनकी शिक्षा कैसे दी जाये?

अधिकाश आधुनिक बुर्जुआ मनोवैज्ञानिक सिद्धातो के अनुसार चितन एक स्वचालित आतरिक प्रक्रिया है, जो कार्टेक्स म उसकी सक्रियता के जन्मजात नियमो के अनुसार होती है। यह प्रक्रिया

कठिनाई का सामना होने पर सीधी स्वचालित प्रतिक्रियाओं की सहायता से कृत्यक का निष्पादन करना असंभव होने पर उत्पन्न होती है। कृत्यक इसे निर्देशित करता है, क्योंकि इसका ध्येय उसका निष्पादन है तथा बाह्य परिस्थितियां भी क्योंकि प्रक्रिया उन्हें ध्यान में रखते हुए तथा उनका उपयोग करते हुए ही होती है। परंतु कठिनाई, कृत्यक और परिस्थिति – ये सब बातें उस सामग्री द्वारा ही निर्धारित होती हैं, जिससे चिंतन काम लेता है। और चिंतन की अपनी सक्रियता उसके अपने आंतरिक नियमों पर, उसकी जन्मजात क्रियाविधियों पर निर्भर करती है। कठिनाई, कृत्यक, परिस्थिति – ये सब केवल इन क्रियाविधियों को किसी एक दिशा में चालू करते हैं। बुर्जुआ मनोविज्ञान में चिंतन सक्रियता की समस्या इस प्रकार हल की जाती है। स्वाभाविक ही है कि इसमें स्वयं इन क्रियाविधियों अर्थात चिंतन की सक्रियात्मक संरचनाओं के निर्माण का कार्यभार रखा ही नहीं जा सकता, क्योंकि ये क्रियाविधियां तो जन्मजात हैं, आनुवंशिक धरोहर हैं, 'ईश्वरीय देन' हैं। अध्यापक अधिक से अधिक इतना ही कर सकता है कि उपयुक्त सक्रियता प्रदान करके इन क्रियाविधियों को जागृत करे, उनको दिशा प्रदान करे और उनका अभ्यास कराये। सो चिंतन के शिक्षण का एकमात्र पथ है उपयुक्त कृत्यकों के संपादन से और निश्चित सामग्री आत्मसात् कराते हुए चिंतन का अभ्यास कराना। सबसे बड़ी बात है कि छात्र को नियमित रूप से आवश्यक सूचना दी जाती रहे और उससे तत्संबंधी कृत्यक कराये जायें। तब आवश्यक साहचर्य, बौद्धिक सक्रियता की युक्तियां और सक्रियात्मक संरचनाओं का जागरण स्वयं ही हो जायेगा। छात्र स्वयं ही चिंतन कार्य करते हुए प्रयत्नों और त्रुटियों के रास्ते उनका उपयोग करना सीख लेगा।

सोवियत शिक्षा मनोविज्ञान में यह माना जाता है कि चिंतन केवल प्रेरित ही नहीं किया जाता, बल्कि सक्रियता से, क्रियाकलापों से निर्मित भी किया जाता है। यही कारण है कि सबसे पहले सोवियत मनोविज्ञान ने ही बौद्धिक सक्रियता की युक्तियों के शिक्षण का कार्यभार रखा है। इसके अनुसार शिक्षण दोहरी प्रक्रिया है – ज्ञान का संचय करना तथा उसके उपयोग की रीतियां सीखना।

ज्ञान के उपयोग की रीतियां सिखाने के लिए पहले तो छात्रों को

उनसे परिचित कराया जाता है, दूसरे, अभ्यास कराया जाता है, अथात विभिन्न सामग्रियो पर बौद्धिक सक्रियता की तत्सबधी युक्तिया का प्रयोग और तीसरे अन्तरण सिखाया जाता है, अर्थात नये कृत्यको के हल क लिए बौद्धिक सक्रियता की मूलभूत युक्तियो का उपयोग करना सिखाया जाता है।

अत बौद्धिक सक्रियता की युक्तियो के गठन का मार्ग प्राय ऐसा है युक्ति की अतर्वस्तु का आत्मसात्करण → स्वय छात्र द्वारा उसका प्रयोग → नई स्थितियो पर उसका अन्तरण।

युक्ति के भेद के अनुसार उसकी अतर्वस्तु आत्मसात् करने के लिए- १) एल्गोरिय्म, अर्थात निश्चित क्रम मे पूरा किये जानेवाले निर्देशो की प्रणाली (जैसे साधारण वाक्य के भेद निश्चित करन का एल्गोरिय्म), २) परामर्शो, अर्थात विकल्पी निर्देशो की प्रणाली (उदाहरणत दो अज्ञात अको के समीकरण हल करन के नियम), ३) सामान्य सिद्धात (उदाहरणत एक ही अश क प्रति समीकृत करके सवाल हल करने के नियम) – इन तीन मे से किसी एक तरीके की सहायता ली जाती है।

उधर बौद्धिक सक्रियता की युक्तिया सीखने के तरीके स्वय युक्ति के स्वरूप और शिक्षण की विधि के अनुसार भिन्न भिन्न हो सकते है। उदाहरणत युक्ति तैयार रूप मे अध्यापक से पायी जा सकती है या छात्र स्वय उसे खोज सकते हैं। यह खोज प्रयासो और त्रुटियो के जरिये हो सकती है या तुरत ही 'मामले के सार को समझ लेने' से। युक्ति का विकास सकीर्ण विकल्प से जिसका उपयोग कवल निश्चित सामग्री और कृत्यक के लिए ही किया जा सकता है व्यापक विकल्प की ओर हो सकता है जिसका उपयोग भाति भाति के कृत्यको के लिए किया जा सकता है ठोस उपयोग (यथार्थ वस्तु पर प्रयुक्त) से अमूर्त (अमूर्त गुण धर्मो और सबधो पर प्रयुक्त) की ओर हो सकता है, इत्यादि।

रचनात्मक चितन का निर्माण

अपने व्यावहारिक और सैद्धातिक कार्यकलापो म मनुष्य का सामना एसे कृत्यको या तथ्यो से हो सकता है जिनके लिए उसके चितन की

सक्रियात्मक और सज्ञानात्मक सरचनाओ म उपयुक्त विधियाँ और सकल्पनाए नही हैं क्योकि वस्तुओ के जिन सबधो का उसे पता चला है उनसे मानवजाति अपरिचित है (या कम से कम उसने उनकी ओर ध्यान नही दिया है), या यह व्यक्ति किन्ही कारणो मे पहले से ज्ञात सबधो और गुणधर्मो से परिचित होने के अवसर से वचित है और उसके लिए यह नई खोज ही है। ऐसा भी हो सकता है कि जिन कृत्यको से व्यक्ति का साबिका पडा है उन्हे मानवजाति को ज्ञात विधियो से हल नही किया जा सकता। ऐसे सबध अभी सकल्पनाओ मे आबद्ध नही है और कृत्यको के निष्पादन की रीतिया उपलब्ध एल्गोरिथ्मो और चितन की विधियो म नही है।

ऐसे "सकल्पनाइतर सबधो को देख पाना और ऐसे असपादित कृत्यको का सपादन करना जिन सज्ञानात्मक प्रक्रियाओ की बदौलत सभव होता है उन्हे ही **रचनात्मक चितन** कहते है। इसके रूपो और सक्रियात्मक सरचनाओ के बारे मे अभी तक बहुत कम पता है। 'प्रबोध" "प्रेरणा' अत प्रज्ञा' जैसे शब्द केवल उस स्थिति का वर्णन करते हैं, जब रचनात्मक चितन पहले चरण मे पूरी तरह से सकल्पनाओ और तार्किक सक्रियाओ के रूप मे प्रवाहित नही हो सकता क्योकि इनका अभी अस्तित्व ही नही है। इन शब्दो का अर्थ यह भी है कि रचनात्मक चितन का परिणाम – ज्ञात धारणाओ सकल्पनाओ और सक्रियाओ का प्रयुक्त करना मात्र ही नही है अपितु नये बिबो अर्थो और कृत्यको के निष्पादन की नयी रीतियो का सृजन करना है और जो भी इन बिबो, अर्थो और रीतियो का जिनमे यथार्थ के नये गुणधर्मो का पता लगता है या उसके पुनर्गठन की नयी रीतियाँ मिलती है। इस प्रकार रचनात्मक चितन रचनात्मक कल्पना के बहुत निकट आता है यहाँ दोनो एक दूसरे म मिल ही जाते हैं।

इस बात म रचनात्मक चितन **समस्यामूलक** चितन से सिद्धातत भिन्न है। समस्यामूलक चितन भी नये कृत्यको का समाधान प्रदान करता है किंतु ज्ञात सकल्पनाओ और विधियो के आधार पर। प्रत्युत रचनात्मक चितन के लिए सबसे बडी बात है **रूढि मुक्त होना यथार्थ को उसके सभी सबधो मे देख पाने की क्षमता,** न कि केवल उन सबधो म ही जो ज्ञात सकल्पनाओ और धारणाओ म आबद्ध है। यथार्थ के

किसी क्षेत्र के गुणधर्मो को यथासभव पूर्ण रूप स दख पाने के लिए इस क्षेत्र से सबधित सभी तथ्यो का पता होना चाहिए। इन तथ्यो को सम्मिलित करनेवाली सकल्पनाओ और चितन विधियो की अपर्याप्तता देख पाने के लिए इन सकल्पनाओ और विधियो का उपयोग करने की योग्यता होनी चाहिए। अत रचनात्मक चितन मे ज्ञान और योग्यता का अपार महत्त्व होता है।

जो तथ्य और परिघटनाए अभी किसी सकल्पना म नही ढलते हैं, वे भी चितन में प्रतिबिबित होते ही है। प्रत्यक्षत ऐसा कल्पना की सहायता स होता है। कल्पना तर्क के चौखट मे नही जडी होती, सो इसके लिए यथार्थ की धारणाओ के बिल्कुल असाधारण, अजीबोगरीब महसबध मगठन और पुनर्गठन मान्य होते है। यह अकारण ही नही कहा जाता कि कल्पना के बिना रचनात्मक कार्य नही हो सकता।

इन सब बातो से यह स्पष्ट है कि रचनात्मक चितन का ध्येय और स्वरूप सामान्य" सकल्पनात्मक, तार्किक चितन के शिक्षण जैसा नही होता है। सामान्य चितन का प्रमुख कायभार यह है कि छात्रो का सामना जिन तथ्यो से होता है उनका निश्चित ज्ञात सकल्पनाओ से और सभी कृत्यको का सपादन की ज्ञात रीतियो से नाता जोडना। इसके विपरीत रचनात्मक चितन के शिक्षण की अपेक्षा यह है कि सभी सीखी जा रही सकल्पनाओ और विधियो की बाल की खाल उधड कर देखी जाये उनका मूल्याकन किया जाये। इस शिक्षण का ध्येय आदमी को यह देखना सिखाना होना चाहिए कि सच्चे यथार्थ की तुलना म सभी सकल्पनाए और विधिया सीमित अपूर्ण और आरेखीय ही होती हैं। रचनात्मक चितन को मनुष्य को यथार्थ तथ्यो और उनके बारे म धारणाओ के बीच अतर देखना सिखाना चाहिए। मनुष्य को रचनात्मक चितन से इस बात मे मदद मिलनी चाहिए कि वह शब्दो द्वारा बनी समझ की सीमाओ को पार करके वस्तुओ और परिघटनाओ के साथ सीधी अन्योन्यक्रिया से बननेवाले दृश्य को देख सके। रचनात्मक चितन स मनुष्य मे आदतन, स्वत सिद्ध सहज बुद्धि या हस्तियो द्वारा स्वीकृत धारणाओ, दृष्टिकोणो चितन रीतियो की सीमाओ को लाघने का साहस आना चाहिए। साथ ही अत्यत सावधानी से और आत्मत्याग की भावना के साथ काम करने और नयी कृतियो के मूल्याकन म आलोच

नात्मक रवैया अपनाने की शिक्षा भी मिलनी चाहिए। रचनात्मक चिंतन को मनुष्य को विश्वास नही प्रमाण, अभिपुष्टि नही सत्य, निश्चितता नही चिर उत्सुकता, समाप्ति नही सदा पथ का आरंभ ही खोजना सिखाना चाहिए। संक्षेप मे यह कि रचनात्मक चिंतन से मनुष्य को यह सीखना चाहिए कि वह सदा, सर्वत्र, सभी कार्यों मे तथ्यो को उनके बारे मे तैयार धारणाओ के सांचे मे न ढाले, बल्कि इन धारणाओ को तथ्यो से परखे, समझ मे आने लायक कृत्रिम जगत की रचना न करे, बल्कि ऐसी समझ बनाये, जो यथार्थ जगत की व्याख्या कर सके।

रचनात्मक चिंतन के निर्माण के मार्गों का अध्ययन अभी मनोविज्ञान मे आरंभ ही हुआ है।

सही चिंतन का विकास

उल्लेखनीय है कि चिंतन अज्ञात असंकल्पनात्मक और अतार्किक हो सकता है और इसका कारण केवल उसकी अंतर्वस्तु ही नही होती। चिंतन तो मानव सक्रियता का ही एक रूप है। सो यह केवल बाह्य स्रोतो (कृत्यक तथा वस्तुगत तथ्यो) द्वारा ही नही, बल्कि आंतरिक, व्यक्तित्वमूलक स्रोतो, अर्थात रुझानो, मान्यताओ के रूप मे व्यक्ति की आवश्यकताओ द्वारा भी निर्धारित होता है। मनुष्य के अभिप्रेरणात्मक क्षेत्र के साथ चिंतन के इस घनिष्ठ संबंध के गंभीर परिणाम हो सकते है। आंतरिक प्रेरणाएं सही चिंतन के मार्ग मे बाधाएं हो सकती हैं। उदाहरणत इनमे ऐसी धारणाएं और संकल्पनाएं बन सकती है जो यथार्थ के अनुरूप नही होंगी, बल्कि उनके प्रति व्यक्ति का रवैया (उसकी इच्छाओ भावनाओ स्वप्नो) को ही प्रतिबिंबित करेगी। चिंतन की ऐसी विकृति को आत्मकेंद्रीयता कहा जाता है। चिंतन की अनालोचनात्मकता मे यही विकृति कुछ क्षीण रूप मे व्यक्त होती है। अनालोचनात्मक चिंतनवाले व्यक्ति के मस्तिष्क मे जो व्याख्या अथवा समझ बनती है (या उसे जो बनायी जाती है) उसे वह तुरंत ही स्वीकार कर लेता है यह इस व्याख्या अथवा समझ को परखने तथ्यो से उसकी तुलना करने की आवश्यकता महसूस नही करता।

व्यक्ति की मान्यताओ का भी चिंतन पर काफी प्रभाव पडता है। इनके कारण चिंतन म तब निश्चित जडता या रूढिपरकता आ सकती है जब व्यक्ति किसी सकल्पना या ढग का उपयोग आदतन ही, यथार्थ के प्रति पहल म बन निश्चित रुख या अपेक्षाओ के आधार पर ही करता है।

इन सब मामलो म चिंतन की संक्रियात्मक सरचनाए विकृत होती है चिंतन अपना मूल कार्यभार—यथार्थ का सही प्रतिबिंब प्रस्तुत करना और उसम मार्ग दिखाए इंगित करना—पूरा नही कर पाता।

चिंतन की संक्रियात्मक एव तार्किक सरचनाओं की विकृतिया के भी परिणाम ऐसे ही होते हैं। ऐसी एक विकृति है चिंतन का अप्रणालीबद्ध होना जब चिंतन तर्कसगत नही रहता उसकी संक्रियाओ म क्रमबद्धता भग हो जाती है।

अतत प्रवर्गात्मक सरचनाओं का उपयोग न कर पाने पर चिंतन का तथाकथित असवेदन उत्पन्न होता है। चिंतन धुधला, अस्पष्ट, बिखरा बिखरा हो जाता है वह महत्त्वपूर्ण और अमहत्त्वपूर्ण लक्षणो का भेद नही कर सकता। व्यक्ति अपने इर्द गिर्द की परिघटनाओ और उनके गुणधर्मो को अग पूर्ण गुण परिमाण, कार्य, कारण, रूप, सार, आदि के प्रवर्गो म नही बाटता है बल्कि सायोगिक ऐद्रीय छापो और अनुभूतियो के अनुसार उनका वर्गीकरण करता है। उदाहरणत , बच्चा बिल्ली और दाढी को घने रोयो के लक्षण के अनुसार एक ही वर्ग (सकल्पना) म रखता है और आदमी की तसवीर बनाते हुए आख और मुह अलग से सिर के पास बनाता है।

अनुसधाना से पता चलता है कि ये सब कमिया किसी न किसी हद तक बच्चो मे (और कभी कभी बडो मे भी) पायी जाती हैं। इनका सबध इस बात से है कि व्यक्ति अपने आपको अपने विचारो और धारणाओ से तथा विचारो और धारणाओ को यथार्थ जगत से पर्याप्त रूप से अलग नही कर पाता, कि चिंतन प्रक्रियाओ, ज्ञान तथा सकल्पनाओ म आबद्ध तार्किक प्रवर्गो पर उसका पर्याप्त अधिकार नही होता। चिंतन के शिक्षण मे इन कमियो का सुधार भी शामिल होता है। इस शिक्षण का कार्यभार है चिंतन को वस्तुपरक आलोचनात्मक, प्रवर्गात्मक, तार्किक लचीला बनाना उसे वस्तुओं तथा हल किये जा रहे कृत्यको के सार्थक, महत्त्वपूर्ण गुणधर्मो लक्षणो के अनुकूल बनाना।

§ ४ योग्यताओ का शिक्षण

चितन एक लक्ष्यबद्ध प्रक्रिया है, जो निश्चित सज्ञानात्मक एव व्यावहारिक कृत्यको के निष्पादन के लिए आवश्यक है। यह यथार्थ के उन पहलुओ को उभारता है, जो प्रस्तुत कृत्यक के लिए सार्थक होते हैं, तथा ऐसे पुनर्गठन करता है, जिनसे मनुष्य कृत्यक को निष्पादित कर सकता है।

सामान्य मनोविज्ञान के पाठ्यक्रम से हम यह जानते हैं कि उपलब्ध आकडो, तथ्यो, ज्ञान या सकल्पनाओ का उपयोग करने, वस्तुओ के महत्त्वपूर्ण लक्षणो का पता लगाने के लिए तथा निश्चित सैद्धातिक या व्यावहारिक कार्यो की पूर्ति के लिए उनसे काम लेने की क्षमता को ही योग्यता कहते हैं।

अनुसधानो से पता चला है कि छात्रो को प्राय आत्मसात् किये गये सिद्धातो और सकल्पनाओ को ठोस प्रश्न हल करने के लिए प्रयुक्त करने मे कठिनाई होती है। छात्र अमहत्त्वपूर्ण गौण ब्योरो से ध्यान हटाने मे तथा उन सामान्य बातो को देख पाने मे असमर्थ होता है जो उसे ज्ञात सकल्पनाओ मे आबद्ध है। इस मामले मे सकल्पनाए सक्रियता और सज्ञान का उपकरण नही बन पाती। वे अनुपयोगी बोझा ही होती हैं, व्यवहार से उनका सबध नही होता वे योग्यताओ का आधार नही बनती।

सुविदित है कि वस्तुओ के बारे मे ज्ञान और स्वय वस्तुए एक ही बात नही हैं। ज्ञान वस्तुओ के विभिन्न गुणधर्मो, लक्षणो को जो विभिन्न दृष्टियो से और भिन्न भिन्न उद्देश्यो तथा पुनर्गठनो के लिए महत्त्वपूर्ण होते हैं, पेश करता है। ज्ञान क्रियाओ के सही चयन (योग्यता) का आधार बन पाये इसके लिए यह आवश्यक है कि यह ज्ञान भी सही ढग से चुना गया हो और सही ढग से प्रयुक्त हो। दूसरे शब्दो म यह आवश्यक है कि १) वस्तुओ मे सचमुच वे गुण वे लक्षण हो जो प्रस्तुत ज्ञान मे प्रतिबिंबित हैं, २) ये लक्षण उन लक्ष्यो के लिए महत्त्वपूर्ण हो, जिनके लिए क्रिया की जा रही है, ३) इस क्रिया मे वस्तु का वह पुनर्गठन होना हो जो लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

उदाहरणत किसी पिड का आयतन निर्धारित करने का सवाल

दिया गया है। इस हल करने के लिए सबसे पहले यह पता लगाना चाहिए कि यह पिंड ज्यामितीय पिंडों के किस वर्ग में आता है, फिर यह मालूम करना चाहिए कि ऐसे पिंडों का आयतन कैसे निकाला जाता है, इसके लिए कौन से नाप लेने चाहिए फिर ये नाप लेकर अतत आवश्यक गणना की जानी चाहिए। सो ज्ञान के उपयोग के लिए स्वय ज्ञान के अलावा अन्य कई जानकारिया और क्रियाओ का पता होना भी आवश्यक है। सर्वप्रथम उन सवेदी लक्षणो का ज्ञान होना चाहिए, जिनसे यह इंगित होता है कि तत्सबधी वस्तु "प्रात्ययिक वस्तुओ" के किस वर्ग में आती है। जैसा कि क्रिया के नियमन में होता है, ये सवेदी लक्षण सकेतों की भूमिका अदा करते हैं। परतु जहा दक्षता के निर्माण में ऐसे सकेत व्यावहारिक सक्रियता के नियामको की भूमिका अदा करते थे, वहीं इस मामले में ये बौद्धिक, मानसिक सक्रियता के नियामक होते हैं। सो ऐसी मानसिक क्रियाए करनी आनी चाहिए, जिनकी वस्तु के तत्सबधी सकेतपरक लक्षणो का पता लगाने के लिए आवश्यकता होती है—यह सवेदी सूचना को वस्तु के उन लक्षणो के बारे में सूचना में ससाधित करने की क्रियाए हैं, जो हल किये जा रहे सवाल के लिए महत्त्वपूर्ण है। अतत यह पता होना चाहिए कि लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वस्तु के कैसे पुनर्गठन होने चाहिए, अर्थात वस्तु के लक्षणो की सवाल के हल की रीतियो से तुलना करनी आनी चाहिए। साथ ही वस्तु के पुनर्गठन की रीतियो पर भी अधिकार होना चाहिए।

योग्यताओ के गठन मे सहायक परिस्थितिया

योग्यताओ का एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अश है—कृत्यक की किस्म पहचानने उपलब्ध तथ्यो मे वे गुण और सबध देख पाने की क्षमता जो प्रस्तुत कृत्यक के निष्पादन के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरणत, यह सवाल मुह जबानी यह हिसाब लगाओ कि सौ के एक तिहाई का डयोढा कितना होगा'—बडो के लिए भी मुश्किल सिद्ध होता है। जबकि यह देख पाना ही काफी है कि डेढ $3/2$ के बराबर है, और सवाल तुरत ही हल हो जाता है $\frac{1}{3} \times \frac{3}{2} = \frac{1}{2}$, $\frac{1}{2} \times १०० = ५०$।

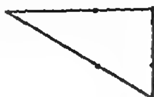
मनोविज्ञानवेत्ताओ ने कुछ ऐसे कारको का पता लगाया है,

जो योग्यताओ के गठन मे सहायक या बाधापरक होते है। यह पता चला है कि ऐसा एक कारक आरभिक तथ्यो मे सवाल के लिए महत्त्वपूर्ण सबधो का स्पष्टत व्यक्त होना या छिपा होना है। उदाहरणत यह सवाल पूछा जाता है "एक दूसरे से २०० किलोमीटर की दूरी पर स्थित दो स्टेशनो क और ख से एक साथ एक दूसरे की ओर दो रेलगाडिया चलती है। पहली रेलगाडी की रफ्तार ७० किलोमीटर प्रति घटा है दूसरी की ८५ किलोमीटर प्रति घटा। उनके बीच ८० किलोमीटर प्रति घटा की रफ्तार से एक अबाबील उडती है। वह क स्टेशन से उसी क्षण उडती है जब वहा से रेलगाडी ख स्टेशन की ओर छूटती है। दूसरी रेलगाडी तक पहुचकर वह वापस उडती है, इत्यादि। यह बताओ कि एक घटे मे अबाबील कितना फासला तय करेगी"? अधिसख्य मामलो मे छात्र यह हिसाब लगाने लगते हैं कि जब तक अबाबील ख स्टेशन से चली गाडी तक पहुचेगी, तब तक पहली गाडी कितना फासला तय कर लेगी। फिर दोनो गाडियो के बीच कितनी दूरी रह जायेगी इत्यादि। जबकि सवाल यो ही हल किया जा सकता है। अबाबील के उडने की रफ्तार ८० किलोमीटर प्रति घटा है। सो एक घटे मे वह ८० किलोमीटर का फासला तय करेगी। यहा सवाल के हल मे कठिनाई यह है कि हल के लिए महत्त्वपूर्ण एकमात्र सबध अन्य अनक आकडो म छिपा हुआ है जिनका सवाल के लिए कोई महत्त्व नही है (रेलगाडियो की रफ्तार अबाबील के उडने का मार्ग आदि)।

आवश्यक सबधो का पता लगाने पर प्रभाव डालनेवाला दूसरा कारक है व्यक्ति की मान्यता। आवश्यक सबधो का पता लगाने मे बाधा डालनेवाली मान्यता का उदाहरण यह सवाल है चार बिंदु दिये गये हैं इन चारो बिंदुओ को तीन रेखाओ स जोडे ऐसा करत हुए पेंसिल को उठाना नही है और उसे प्रस्थान बिंदु पर ही लौटना है। छात्र अनक प्रयत्न करत है



इनमे से कोई भी प्रयत्न सफल नहीं होता, जबकि हल बिल्कुल सरल है



बात सारी यह है कि छात्रो ने यह मान लिया कि वे चारो बिंदुओ से सीमित क्षेत्र से बाहर नही निकल सकते। सवाल की शर्तों में यह बात नही है स्वय छात्रो ने ही उसे इसमे शामिल किया है यह उनकी अपनी मान्यता का फल है।

सवाल के लिए महत्त्वपूर्ण सबधो को देख पाने का एक महत्त्वपूर्ण कारक है सारी स्थिति को उसकी समग्रता मे ग्रहण कर पाना न कि उसके अलग अलग अशो को। इसका एक उदाहरण है एक छह वर्षीय बालक द्वारा इस सवाल का हल "१ से १०० तक की सभी सख्याओ का योगफल निकालो । शेष छात्र क्रमश एक एक सख्या को जोडने लगे (१+२=३ , ३+३=६, ६+४=१० १०+५=१५ इत्यादि) इस बालक ने इस नियमसगति की ओर ध्यान दिया मध्य से दोनो ओर समस्थित सभी सख्याओ का योगफल १०१ होता है (१+१००=१०१ २+९९=१०१ ३+९८=१०१, ४८+५३=१०१, इत्यादि)। सो सवाल का हल यह निकलता है (१०१×१००) २=५०५०।

पूर्ववर्ती अनुभव का भी बहुत प्रभाव पडता है। यदि उसमे वस्तुओ के वे सबध महत्त्वपूर्ण रहे है जो प्रस्तुत सवाल के लिए महत्त्वपूर्ण नही है, तो यह अनुभव सवाल के हल मे बाधा बनता है (जैसा कि मोमबत्ती और बाट के प्रयोग मे हुआ)। यदि पूर्ववर्ती अनुभव मे कृत्यक के लिए महत्त्वपूर्ण सबध और सक्रियाओ का उपयोग हुआ हो, तो उससे कृत्यक के निष्पादन मे सहायता मिलती है।

अतत **सामान्य सिद्धातो के ज्ञान** से आवश्यक सबधो का पता लगाने मे मदद मिलती है।

इन तथ्यो को देखते हुए मनोविज्ञानवेत्ताओ ने कुछ ऐसी शैक्षिक

युक्तिया तैयार की है, जिनसे आवश्यक सबधो को देख पाने मे मदद मिलती है। ये युक्तिया हैं

१ **हल के सिद्धात समझाना।** गणित और भौतिकी के विभिन्न किस्मो के सवाल हल करने के, व्याकरणिक विश्लेषण के नमूने खाके इसका उदाहरण हो सकते हैं।

२ **कृत्यक के लिए महत्त्वपूर्ण तथ्यो और सबधो को स्पष्टत अलग करना, उन पर बल देना** (कृत्यक के तथ्यो का विश्लेषण)। ऐसा कृत्यक के तत्सबधी सूत्रीकरण द्वारा, अध्यापक के इन विशेष निर्देशो द्वारा किया जा सकता है कि किन बातो की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए। अध्यापक छात्रो को मूल सबध अधिक स्पष्ट रूप मे दिखाने के सहायक तरीके इस्तेमाल करता है।

३ **कृत्यक का विश्लेषण,** इस बात का विश्लेषण कि क्या पता लगाया जाना है। ऐसे विश्लेषण से प्राय हल के लिए महत्त्वपूर्ण सबधो और तथ्यो को उभारा जा सकता है।

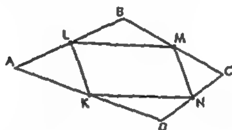
योग्यताओ का गठन

योग्यताओ के गठन का अर्थ है ज्ञान मे निहित तथा वस्तु से प्राप्त होनेवाली सूचना को प्रकट करने तथा ससाधित करने क्रियाओ से उसकी तुलना करन और उसका नाता जोडने के लिए आवश्यक सक्रियाओ की सारी जटिल प्रणाली पर अधिकार पा लेना।

कृत्यक का निष्पादन जिन चिंतनमूलक सक्रियाओ और प्रक्रियाओ की सहायता से होता है उनका स्वरूप इन सक्रियाओ के लक्ष्य तथा कृत्यक की अतर्वस्तु पर निर्भर होता है। किसी भी कृत्यक के निष्पादन म स्वय चिंतन सक्रियता चिंतन की वस्तु के पुनर्गठन म उसमे ऐसे नये-नये पहलुओ और गुणधर्मो का पता लगाने म ही निहित होती है जो सकल्पनाओ म आबद्ध तथा शब्दो म नामाकित होते हैं। यह प्रक्रिया विश्लेषण–सश्लेषण, अमूर्तीकरण–सामान्यीकरण की सक्रियाओ की सहायता से तब तक चलती रहती है जब तक कि वस्तु के उस पक्ष का मॉडल नहीं बन जाता जो दत्त कृत्यक के निष्पादन के लिए महत्त्वपूर्ण होता है। और इसमे हर कदम वस्तु के नये पक्षो को उभारते हुए चिंतन

को आगे बढ़ाता है उसका अगला कदम निर्धारित करता है। चूंकि वस्तु के नये पक्ष नयी संकल्पनाओं में अभिव्यक्त होते हैं, इसलिए चिंतन पृथ्यक के बारबार पुन:सूत्रीकरण के रूप में होता है। उदाहरणत, मोमबत्ती और बाट का सवाल ' ऐसा करो कि तराज़ू का संतुलन खत्म हो जाये ' के रूप का "ऐसा करो कि पलड़ों पर रखी वस्तुओं का भार बदल जाये " के रूप में बदल कर हल किया जाता है।

ज्यामिति के सवाल के पुन:सूत्रीकरण का उदाहरण देखिये 'ABCD चतुर्भुज है। इसकी भुजाओं के मध्यबिंदु सीधी रेखाओं से एक दूसरे से जुड़े हुए हैं (चित्र देखिये)। यह सिद्ध करो कि इस तरह बनी आकृति समांतर चतुर्भुज है ।



एक छात्र सवाल का हल इस तरह ढूंढने लगा "यानी यह सिद्ध करना है कि आमनेसामने की भुजाएं बराबर और समांतर हैं'। (समांतर चतुर्भुज की परिभाषा पर आधारित पहला पुन:सूत्रीकरण।)

तो यह सिद्ध कर दें कि KAL त्रिकोण और NCM त्रिकोण KDN त्रिकोण और LBM त्रिकोण समान हैं'। (KN और LM तथा KL और NM भुजाओं की समानता सिद्ध करने की ओर लक्षित दूसरा पुन:सूत्रीकरण इन रेखाओं को नये संबंधों में समाविष्ट करने पर आधारित है।)

आगे छात्र पाता है कि यह अनुमान गलत है।

यहां हर नया पुन:सूत्रीकरण पूर्ववर्ती चरण के तथ्यों के विश्लेषण और संश्लेषण का परिणाम होता है तथा संकल्पनाओं में व्यक्त होता है। लेकिन संकल्पनाएं तो सामाजिक अनुभव का परिणाम हैं। इनमें संकल्पना द्वारा प्रतिबिंबित वस्तु के महत्त्वपूर्ण लक्षणों के बारे में ज्ञान आबद्ध होता है। इसलिए नये पुन:सूत्रीकरण से वस्तु के बारे में नयी जानकारी

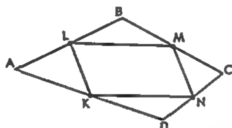
मिलती है, जो चिंतन को आगे बढाती है। इस तरह विश्लेषण और सश्लेषण की बदौलत चिंतन की प्रक्रिया मे वस्तु नये-नये सबधो मे समाविष्ट होती जाती है और इसके फलस्वरूप नये रूपो म सामने आती हैं, जो नयी सकल्पनाओ मे व्यक्त होते है। इस प्रकार एक तरह से वस्तु मे से नया ही नया सार निकाला जाता है, वह हर बार मानो नये पहलू से सामन आती है, उसमे नय नये लक्षण, गुणधर्म प्रकट होते हैं।

इस दृष्टि से योग्यताओ का निर्माण सवप्रथम अधिकाधिक गहन होते ज्ञान का फल है। योग्यताओ का निर्माण अध्ययनाधीन वस्तुओ के विभिन्न पहलुओ और गुणधर्मो के बारे में **सकल्पनाओ के आत्मसात्करण** पर आधारित होता है। योग्यताओ के गठन का प्रमुख मार्ग है – छात्रो को वस्तु मे विविध पहलू देखना उस पर भिन्न भिन्न सकल्पनाए लागू करना इस वस्तु क विविध सवधो को सकल्पनाओ मे सूत्रित करना सिखाना। छात्रो को विश्लेषण के जरिये सश्लेषण की सहायता से वस्तु का पुनर्गठन करना सिखाना चाहिए। प्रयुक्त पुनर्गठन इस बात पर निर्भर होते है कि किन सबधो और निर्भरताओ को निर्धारित करना है। ऐसे पुनर्गठनो का खाका ही **कृत्यक के निष्पादन** की योजना है।

योग्यताए सिखाने का काम भिन्न भिन्न तरीका स हो सकता है। इनम से एक तरीका यह है कि छात्र को आवश्यक ज्ञान दिया जाता है और फिर उसे इसका प्रयोग करने के सवाल दिये जात है। छात्र स्वय हल ढूढता है, प्रयत्नो और त्रुटियो की विधि से तत्सबधी सकेतो का सूचना के ससाधन के तरीको का और सक्रियता की युक्तियो का पता लगाता है। इस तरीके को कभी कभी **समस्यामूलक शिक्षण** कहा जाता है। दूसरा तरीका यह है कि छात्र का उन लक्षणा स परिचित कराया जाता है जिनसे वे सवाल की किस्म तथा उसके हल के लिए आवश्यक सक्रियाओ का ठीक-ठीक पता लगा सकता है। इस तरीके को कभी कभी **एल्गोरिथ्मीकृत शिक्षण या पूर्णत सकेतमूलक आधार पर शिक्षण** कहा जाता है। और तीसरा तरीका यह है कि छात्र को उन मानसिक सक्रियता की ही शिक्षा दी जाती है जो ज्ञान प्रयुक्त करन के लिए आवश्यक होती है। इस मामले मे अध्यापक छात्र को लक्षणो और सक्रियाओ का

को आगे बढाता है उसका अगला कदम निर्धारित करता है। चूंकि वस्तु के नये पक्ष नयी सकल्पनाओं में अभिव्यक्त होते हैं, इसलिए चिंतन कृत्यक के बारबार पुन सूत्रीकरण के रूप में होता है। उदाहरणत, मोमबत्ती और बाट का सवाल "ऐसा करो कि तराजू का सतुलन खत्म हो जाये के रूप को ऐसा करो कि पलडो पर रखी वस्तुओ का भार बदल जाये के रूप में बदल कर हल किया जाता है।

ज्यामिति के सवाल के पुन सूत्रीकरण का उदाहरण देखिये 'ABCD चतुर्भुज है। इसकी भुजाओं के मध्यबिंदु सीधी रेखाओं से एक दूसरे से जुडे हुए है (चित्र देखिये)। यह सिद्ध करो कि इस तरह बनी आकृति समातर चतुर्भुज है'।



एक छात्र सवाल का हल इस तरह ढूंढने लगा 'यानी यह सिद्ध करना है कि आमने सामने की भुजाए बराबर और समातर हैं। (समातर चतुर्भुज की परिभाषा पर आधारित पहला पुन सूत्रीकरण।)

तो यह सिद्ध कर दे कि KAL त्रिकोण और NCM त्रिकोण KDN त्रिकोण और LBM त्रिकोण समान है'। (KN और LM तथा KL और NM भुजाओ की समानता सिद्ध करने की ओर लक्षित दूसरा पुन सूत्रीकरण इन रेखाओ को नये सबधो मे समाविष्ट करने पर आधारित है।)

आगे छात्र पाता है कि यह अनुमान गलत है।

यहा हर नया पुन सूत्रीकरण पूर्ववर्ती चरण के तथ्यो के विश्लेषण और सश्लेषण का परिणाम होता है तथा सकल्पनाओ मे व्यक्त होता है। लेकिन सकल्पनाए तो सामाजिक अनुभव का परिणाम हैं। इनमे सकल्पना द्वारा प्रतिबिंबित वस्तु के महत्त्वपूर्ण लक्षणो के बारे में ज्ञान आबद्ध होता है। इसलिए नये पुन सूत्रीकरण से वस्तु के बारे मे नयी जानकारी

मिलती है, जो चिंतन को आगे बढाती है। इस तरह विश्लेषण और सश्लेषण की बदौलत चिंतन की प्रक्रिया मे वस्तु नये नये सबधो म समाविष्ट होती जाती है और इसके फलस्वरूप नय रूपो मे सामने आती हैं जो नयी सकल्पनाओ मे व्यक्त होते है। इस प्रकार एक तरह स वस्तु म से नया ही नया सार निकाला जाता है, वह हर बार मानो नये पहलू से सामने आती है उसमे नये नये लक्षण, गुणधर्म प्रकट होते है।

इस दृष्टि से योग्यताओ का निर्माण सर्वप्रथम अधिकाधिक गहन होते ज्ञान का फल है। योग्यताओ का निमाण अध्ययनाधीन वस्तुओ के विभिन्न पहलुओ और गुणधर्मो के बारे मे **सकल्पनाओ के आत्मसात्करण पर** आधारित होता है। योग्यताओ के गठन का प्रमुख मार्ग है – छात्रो को वस्तु मे विविध पहलू देखना, उस पर भिन्न भिन्न सकल्पनाए लागू करना, इस वस्तु के विविध सबधो को सकल्पनाओ मे सूत्रित करना सिखाना। छात्रो को विश्लेषण के जरिये सश्लेषण की सहायता से वस्तु का पुनगठन करना सिखाना चाहिए। प्रयुक्त पुनर्गठन इस बात पर निर्भर होते है कि किन सबधो और निर्भरताओ को निर्धारित करना है। ऐसे पुनर्गठनो का खाका ही **कृत्यक के निष्पादन** की योजना है।-

योग्यताए सिखाने का काम भिन्न भिन्न तरीको से हो सकता है। इनमे से एक तरीका यह है कि छात्र को आवश्यक ज्ञान दिया जाता है और फिर उसे इसका प्रयोग करने के सवाल दिये जाते है। छात्र स्वय हल ढूढता है प्रयत्नो और त्रुटियो की विधि से तत्सबधी सकेतो का सूचना के ससाधन के तरीको का और सक्रियता की युक्तियो का पता लगाता है। इस तरीके को कभी कभी **समस्यामूलक शिक्षण** कहा जाता है। दूसरा तरीका यह है कि छात्र को उन लक्षणो स परिचित कराया जाता है जिनसे वे सवाल की किस्म तथा उसके हल के लिए आवश्यक सक्रियाओ का ठीक ठीक पता लगा सकता है। इस तरीके को कभी कभी **एल्गोरिथ्मीकृत शिक्षण या पूर्णत सकेतमूलक आधार पर शिक्षण** कहा जाता है। और तीसरा तरीका यह है कि छात्र को उस मानसिक सक्रियता की ही शिक्षा दी जाती है, जो ज्ञान प्रयुक्त करने के लिए आवश्यक होती है। इस मामले मे अध्यापक छात्र को लक्षणो और सक्रियाओ का

चयन करने के सकेतो की शिक्षा ही नही देता, वल्कि प्रस्तुत कृत्यक के निष्पादन के लिए सूचना के ससाधन और प्रयोग सबधी छात्र की सक्रियता भी सगठित करता है। सोवियत शिक्षा मनोविज्ञान मे इस तीसरे तरीके पर बहुत काम हो रहा है। सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओ का मत है कि इसके लिए छात्र को उस सक्रियता के सभी चरणों से गुजरना चाहिए, जिसके लिए अध्ययनाधीन सकल्पना मे आबद्ध लक्षणों को सकेत मानने की आवश्यक्ता होती है।

पहले चरण मे वस्तु के ये सकेत (महत्त्वपूर्ण लक्षण) तैयार, ठोस मूर्त रूप मे आरेखो, चिह्नो, वस्तुओ के रूप मे दिये जाते हैं और इन सकेतो का पता लगाने की सक्रियाए वस्तुमूलक क्रियाओ के रूप मे होती है। उदाहरणत, ५+३= का सवाल पहले चरण मे छात्र वस्तुमूलक सकेतो – डडियो – की सहायता से व्यावहारिक क्रिया – डडिया को इकट्ठा रखकर – द्वारा हल करता है। दूसरे चरण मे सकेतो और वस्तुमूलक सक्रियाओ का स्थान वाक् नाम और क्रियाए लेती है। उपरोक्त उदाहरण मे डडिया हटा ली जाती हैं और बच्चा उनके स्थान पर शब्दो का प्रयोग करता है और डडियो को इकट्ठा रखने के स्थान पर वाक् क्रिया होती है तीन का मतलब है तीन बार एक। पाच और एक – छ, छ और एक सात सात और एक – आठ'। अतत तीसरे चरण मे शाब्दिक क्रियाए भी नही रहती उनका स्थान चितनमूलक सक्रियाए ले लेती है जो अधिकाधिक सक्षिप्त रूप मे होती है पाच और तीन – आठ।

इस अतिम अवधारणा को कभी कभी बौद्धिक क्रियाओ के चरणबद्ध गठन की विधि कहा जाता है।

प्रत्यक्षत नयी सारगर्भित (न कि शुद्धत शाब्दिक) सकल्पनाओ के गठन मे प्रत्येक व्यक्ति वस्तुत इन चरणो से गुजरता है। परतु आम शिक्षण मे इन चरणो को सचेतन रूप से गठित नही किया जाता। इसलिए छात्र को प्राय स्वय ही आवश्यक महत्त्वपूर्ण ऐद्रिक या तार्किक लक्षण ढूढने और पाने होते हैं और सबसे बडी बात स्वय ही इसके लिए आवश्यक क्रियाए चुननी होती हैं। इसमे अनिवार्यत त्रुटिया होती है। सकल्पनाए सदा पूर्ण और सही नही होती। शिक्षण लबा खिच जाता है प्रयत्नो और त्रुटियो का रूप ले लेता है। पूर्ण और त्रुटिहीन सकल्प

नाए बने, इसके लिए छात्र की तत्सबधी सक्रियता पूर्णत सकेतमूलक आधार पर बनी होनी चाहिए। दूसरे शब्दो मे अध्यापक को वस्तुओ के सभी महत्त्वपूर्ण लक्षण तैयार रूप मे छात्र के सम्मुख रखने चाहिए और उसे वे सक्रियाए सिखानी चाहिए, जो इनमे से प्रत्येक को प्रकट करने के लिए आवश्यक होती हैं।

अध्याय ६

पालन मनोविज्ञान

§ १ पालन मनोविज्ञान और व्यक्ति का मानस

पालन की विशद प्रणाली के संगठन उसकी अंतर्वस्तु तथा रूपों के निर्धारण और शैक्षिक प्रभावों को अधिकतम कारगर बनाने की विधियों के चयन के लिए व्यक्ति विकास की दृष्टि से व्यक्तित्व के निर्माण के मुख्य स्रोतों उसके विभिन्न चरणों में कार्य करनेवाले नियमों उसकी परिस्थितियों नियातंत्रों और विशिष्टताओं का अध्ययन करना और ध्यान में रखना आवश्यक है।

आयु वर्ग और शिक्षा मनोविज्ञान की जो शाखा बच्चे के व्यक्तित्व के विकास में संबंधित बुनियादी प्रश्नों का विवेचन करती है उसे **पालन मनोविज्ञान** कहा जाता है।

पालन मनोविज्ञान की सामान्य अवधारणा

लक्ष्यप्रेरित शैक्षिक प्रक्रिया के दौरान एक व्यक्ति के रूप में मनुष्य का जो विकास होता है, पालन मनोविज्ञान उसके मनोवैज्ञानिक नियमों का अध्ययन करता है।

पालन मनोविज्ञान नैतिक चेतना नैतिक धारणाओं, संकल्पनाओं सिद्धांतों कर्मों के नैतिक आधार नैतिक भावनाओं आदतों और व्यवहार रीतियों के जो कि अन्य लोगों तथा समाज के प्रति दृष्टिकोण को व्यक्त करते हैं के विकास के **मानसिक क्रियातंत्रों** का उद्घाटन करके बच्चे के व्यक्तित्व संनिय प्रक्षेपण' के सामान्य नियमों, आयुगत विशेषताओं, बाल्यावस्था के विभिन्न चरणों में पालन प्रक्रिया की विशिष्टताओं और पालन संबंधी प्रभावों के वैयक्तिक रूप भेदों को प्रकाश में लाता है।

पालन मनोविज्ञान पहले से विद्यमान मानसिक विशेषताओ के परिवर्तन और नयी विशेषताओ के आविर्भाव और विकास की प्रक्रियाओ की गवेषणा करता है। बच्चे की नयी सभावनाओ को ध्यान म रखकर ही ऐसी पालन की प्रक्रिया के सगठन के लिए आवश्यक परिस्थितिया बनायी जा सकती है, जो जैसा कि ल० स० विगोत्स्की ने कहा था बच्चे के मानसिक विकास के पीछे पीछे चलने के बजाय उससे आगे बढकर उसका पथ प्रदर्शन करेगी।

पालन मनोविज्ञान के अनुसार पालन एक ऐसी प्रक्रिया है जो अध्यापको और छात्रो की अन्योन्यक्रिया के दौरान स्वय छात्रो की जिन्हे मकारेको ने पालन के कर्म का विषय ही नही कर्त्ता भी बताया था अन्योन्यक्रिया के दौरान निष्पादित होती है।

पालन मनोविज्ञान छात्र के मनोजगत मे पैठने के ठोस तरीके निरूपित करता है अध्यापको को विभिन्न पालन सबधी उपायो द्वारा बच्चो पर प्रभाव की मात्रा व स्वरूप के अध्ययन की विधिया सुझाता है और बच्चे के व्यक्तित्व के निर्माण की प्रक्रिया को निर्दोषतम बनाने की दिशाए दर्शाकर बच्चो के वैयक्तिक भेदो को पहचानने मे मदद करता है।

किंतु पालन मनोविज्ञान का व्यावहारिक महत्त्व इतने तक ही सीमित नही समझ लिया जाना चाहिए। उन्नीसवी सदी के अत म ही रूसी शिक्षाशास्त्री और मनोविज्ञानवेत्ता क० द० उशीन्स्की ने लिखा था हम अध्यापको से यह नही कहते कि आप ऐसा कर वैसा कर। हम उन्हे कहते है आप जिन मानसिक परिघटनाओ का नियमन करना चाहते हैं उनके नियमो का अध्ययन कर और फिर इन नियमो को और जिन परिस्थितियो म आप इन्हे लागू करना चाहते है उन्हे ध्यान म रखकर काम करे।

छात्रो की मानसिक सक्रियता के नियमो और आत्मविकास के मनोवैज्ञानिक आधारो की गवेषणा करते हुए पालन मनोविज्ञान व्यक्तित्व की विशेषताओ के निर्माण के क्रियातत्रो का अध्ययन करता है।

व्यक्ति विकास के क्रम म व्यक्तित्व के सोद्देश्य निर्माण के नियमो का निरूपण वैज्ञानिक आधार पर बच्चो के पालन म सहायक होता है और साथ ही तत्सबधित मनोवैज्ञानिक सिद्धात के विकास के लिए बुनियाद का काम करता है।

काफी प्रचलित है कि व्यक्ति आनुवांशिकत और जैविकत एक पूर्वनिर्धारित परिघटना है। ऐसी सैद्धांतिक आधारिकाओं के परिणामस्वरूप ये वैज्ञानिक व्यक्ति की विशेषताओं की जीवन और पालन की परिस्थितियों पर निर्भरता का अध्ययन और विभिन्न व्यक्तिगत गुणों को निर्दिष्ट करने व मापने की विधियों का निरूपण करते हुए प्राय व्यक्तित्व के विकास के स्रोतों और नियमसंगतियों की गलत व्याख्या कर बैठते हैं। भ्रामक प्रणालीतन्त्रीय मान्यताएं प्रयोगों में प्राप्त परिणामों और उनकी यादृच्छिक कभी-कभी विकृत व्याख्याओं के बीच गंभीर विरोध पैदा कर देती हैं।

उल्लेखनीय है कि आज मनुष्य के व्यक्तित्व के सामाजिक स्वरूप और उसके निर्माण की ऐतिहासिक परिस्थितियों के महत्त्व को बहुत ही विभिन्न दार्शनिक समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक शिक्षाशास्त्रीय विधिशास्त्रीय और इतिहासवैज्ञानिक धाराओं द्वारा स्वीकार किया जाता है। किंतु स्वय समाज के विकास के नियमों की और मनुष्य के स्वभाव में जो सामाजिक तत्त्व हैं और जो जैव तत्त्व हैं उनके महत्त्व की समझ के बारे में उग्र और दुर्दम विरोध फिर भी बने हुए हैं। ये विरोध तब बहुत ही स्पष्टता के साथ उभर आते हैं जब व्यक्ति और समाज के सहसंबंधों का प्रश्न, सामाजिक प्रक्रिया में व्यक्ति के स्थान और महत्त्व का प्रश्न, मनुष्य के व्यवहार की अंतर्वस्तु और परिवर्तन का प्रश्न और व्यक्ति पर समाज के प्रभाव के तरीकों और संभावनाओं का प्रश्न उठता है। वास्तव में इन सब प्रश्नों के सैद्धांतिक महत्त्व का कारण यह है कि यदि सामाजिक परिस्थितियों की प्रमुख भूमिका स्वीकार कर ली जाती है, तो तब यह भी स्वीकार करना होगा कि समाज व्यक्ति के विकास पर सक्रिय प्रभाव डाल सकता है और व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास में बाधक सामाजिक कारणों को दूर किया जाना चाहिए। दूसरी ओर, मनुष्य के स्वभाव में जैव तत्त्वों की प्रधानता को मानने का मतलब होगा व्यक्तित्व के निर्माण में समाज की भूमिका इन तत्त्वों को अधिक न उभरने देने तक ही सीमित समझ लेना।

सोवियत मनोविज्ञान इस संबंध में मार्क्सवाद-लेनिनवाद की प्रस्थापनाओं से निर्देशित होता है। कार्ल मार्क्स ने कहा था मनुष्य परि-

स्थितिया एव शिक्षा दीक्षा की उपज है।' * मार्क्सवादी समझ के अनुसार व्यक्ति की सभी अभिक्षमताए और क्रियाए उसके जीवनकाल म अस्तित्व म आनवाली निर्मितिया होती है और उनका स्वरूप अन्य व्यक्तिया के साथ ससर्ग स निर्धारित होता है।

सोवियत सघ म समाजवाद के विकास के यथार्थ सामाजिक एतिहासिक अनुभव न और विशेषत, क्रातिपूर्व रूस के सीमात क्षेत्रा म जो उत्पीडित जातिया रहती थी उनके सास्कृतिक पिछडेपन के खातमे तथा समाजवाद की परिस्थितिया म सारे देश म लागू की गयी सार्विक व अनिवार्य माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था ने व्यवहार म सिद्ध कर दिखाया है कि मनुष्य के बौद्धिक विकास की आनुवशिकीय सीमाए होन स सबधित धारणाए कितनी अवैज्ञानिक और अतर्कसगत है।

आधुनिक विज्ञान की उपलब्धिया खास तौर से सोवियत दार्शनिको मनोविज्ञानवेत्ताओ शिक्षाशास्त्रियो, शरीरक्रियाविज्ञानियो और आनुवशिकीवेत्ताओ की खोज व्ला० इ० लेनिन की इस प्रस्थापना के स्थायी औचित्य की पुष्टि करती है कि सामाजिक परिस्थितियो के प्रभाव स मनुष्य की शुद्ध जैविक विशेषताओ मे भी परिवर्तन आ जाता है। **केवल सामाजिक परिवेश मे, केवल लक्ष्यप्रेरित पालन की प्रक्रिया म** मनुष्य के सामाजिक व्यवहार का स्वरूप वस्तुत निर्धारित होता है और मनुष्य एक व्यक्ति के रूप म विकास करता है।

मनुष्य का व्यक्तित्व और उसके निर्माण की विशेषताए

मनुष्य का व्यक्तित्व एक ऐतिहासिक सकल्पना है। भिन्न भिन्न कालो मे उसके भिन्न भिन्न अर्थ लगाये जाते रहे हैं। सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओ की व्यक्तित्व की धारणा मार्क्सवादी लेनिनवादी दर्शन की प्रस्थापनाओ पर आधारित है, जो मानवीय सारतत्व किसी

---

* कार्ल मार्क्स फायरबाख पर निबध' का० मार्क्स फ० एगेल्स, सकलित रचनाए खण्ड १, भाग १, प्रगति प्रकाशन, मास्को, १९७८, पृ० १२।

'पृथक व्यक्ति मे अन्तर्निहित" किसी "अमूर्त तत्त्व" मे नही, अपितु सामाजिक सबधो के साकल्य"* मे देखता है।

इतना ही नही स्वय सामाजिक सबध भी लोगो की सक्रियता के उत्पाद होते हैं। लोगो की क्रियाओ से ही ये सबध बनते है। केवल अन्य लोगो के साथ ससर्ग, जिसका आधार वह सयुक्त सक्रियता होती है, जिसकी प्रक्रिया मे व्यष्टि शारीरिक तौर पर भी और मानसिक तौर पर भी एक दूसरे को रचते हैं, मनुष्य के व्यक्तित्व के निर्माण का आधार होता है। मनुष्य अपनी आवश्यकताओ की तुष्टि के लिए परिवेश पर निर्भर रहता है, किंतु इसके साथ ही वह इस परिवेश पर अपना सक्रिय प्रभाव डालता है और अपनी सोद्देश्य सक्रियता की प्रक्रिया मे सचेतन रूप से उसे भी और अपने को भी बदलता है। **मनुष्य की सचेतन सक्रिय क्रियाए ही उसके व्यक्तित्व के निर्माण का, उसकी मानसिक विशेषताओ के निर्माण का आधार होती हैं।**

व्यक्तित्व एक **विशेष गुण** है, जिसे प्राकृतिक मनुष्य (व्यष्टि) सामाजिक सबधो की प्रणाली मे रहते हुए अपनी सक्रियता दूसरो से ससर्ग और चेतना के जरिये अर्जित करता है। व्यक्तित्व को विकसित तब कहा जाता है, जब मनुष्य के दृष्टिकोण और मान्यताए, नैतिक अपेक्षाए और मूल्याकन के मानक बन चुके हो और वह उद्देश्यो को सचेतन रूप से चुनना और अपनी हरकतो तथा अपनी सक्रियता का स्वय नियमन करना जानता हो। **व्यक्तित्व की अविभाज्य सरचना का नाभिक उसकी सक्रियता का अभिप्रेरणात्मक क्षेत्र होता है,** जिसमे उच्च और निम्न प्रकार के अभिप्रेरको की एक जटिल सोपान श्रेणी पायी जाती है। व्यक्ति और समाज के हितो को पृथक नही अपितु जोडनेवाले उच्चतर अभिप्रेरक जितने ही अधिक सामान्यीकृत और स्थायी होगे, व्यक्तित्व का विकास उतना ही लयात्मक होगा और पूर्ण समझा जायेगा। इसलिए समाज के लिए ऐसे स्थायी मानसिक गुणो से युक्त व्यक्तित्व का निर्माण जरूरी है जो व्यक्ति को सामूहिकतावादी बना सके और सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम तथा सामाजिक क्रियाशीलता के लिए मानसिक रूप से तैयार कर सके।

---

* वही, पृ० १३।

व्यक्तित्व मनुष्य के विभिन्न मानसिक गुणों – उसकी आवश्यकताओं, अभिरुचियों, स्वभाव, अभिक्षमताओं आदि – की समष्टि ही नहीं है। व्यक्तित्व परस्पर संबद्ध मानसिक परिघटनाओं की एक अविभाज्य प्रणाली भी है।

व्यक्तित्व के सभी गुणों की अटूट पारस्परिक एकता हर गुण की अंतर्वस्तु, रचना और अभिव्यक्ति को अन्य गुणों के साथ मेल और उनमें साकार बननेवाली आवश्यकताओं के साथ सामंजस्य पर निर्भर बना देती है। इस तरह मिसाल के लिए मूल्यांकनों और निर्णयों की प्रखरता की अंतर्वस्तु तब कुछ और होती है, जब वह उच्च नैतिक आदर्शों, विशेषतः कर्तव्य भावना और साथियों की चिंता से जुड़ी होती है, और तब कुछ और ही, जब उसकी जड़ में हम सामाजिक महत्त्व के उद्देश्य हासिल करने की आकांक्षा नहीं, बल्कि अहंकेंद्रिकता, आत्मदिखावा और समुदाय में विशिष्ट स्थान पाने की लालसा पाते हैं। इस प्रकार व्यक्तित्व के गुणों और विशेषताओं का स्वरूप क्या होता है, यह इसपर निर्भर करता है कि वे किन नैतिक संबंधों के दायरे में बने हैं और किन आत्मिक मूल्यों की प्राप्ति की ओर लक्षित हैं, समाजपरक अथवा व्यक्तिपरक, अहंपरक?

व्यक्ति के नैतिक गुण, विश्व दृष्टिकोण, मान्यताएं, आकांक्षाएं और विश्वास उसके परिवेश – अन्य लोगों के प्रति, अपने प्रति, जीवन में और समाज के कार्यों में सहभागिता के प्रति रवैये में झलकते हैं। इसलिए **व्यक्तित्व के नैतिक पहलू का विकास पालन का सर्वोपरि लक्ष्य है।**

आरंभिक चरणों से लेकर पूर्ण लयात्मक विकास तक व्यक्तित्व के निर्माण की सारी प्रक्रिया एक दीर्घ, जटिल और बहुमुखी प्रक्रिया है। इसे विशेषतः नियोजित तरीकों से बच्चों को बहुविध सक्रियताओं में शामिल करके सोद्देश्य ढंग से पालन की प्रणाली में निष्पादित किया जाता है।

पालन मनोविज्ञान का वास्ता एक निरंतर विकासशील, गुणात्मक रूप से परिवर्तनशील परिघटना से पड़ता है। यह परिघटना है बच्चा, जिसके व्यक्तित्व तथा सक्रियता की मानसिक विशेषताएं और जिसकी आवश्यकताएं, अभिप्रेरक और संबंध भिन्न भिन्न आयु वर्गों में भिन्न भिन्न होते हैं।

आयु-वर्गो की विशिष्टताओ का ध्यान म रखना पालन प्रक्रिया के सगठन की एक अनिवार्य शर्त है। किंतु इसका यह अर्थ नही कि हर आयु-वर्ग के सामने म पालन कार्य की अन्तर्वस्तु और रूपो को उस आयु-वर्ग के बच्चो के मानसिक विकास के स्तर के अनुरूप ही ढाल लिया जाय। इस विकास के सदर्भो को भी ध्यान मे रखना चाहिए यानी बच्चे के व्यक्तित्व की उन विशेषताओ की अनदेखी नही करना चाहिए जो अभी केवल भ्रूण रूप म है और भविष्य म मुकुलित हो जायगी। पालन की ऐसी भविष्यमुखी प्रक्रिया को जिसम व्यक्तित्व के नैतिक और इच्छा शक्ति सबधी पहलू के निर्माण पर निर्विवादत प्रभाव डालने वाली बहुमूल्य वैयक्तिक विशेषताओ को ध्यान मे रखा जाता है व्यक्तित्व के 'प्रक्षेपण' की प्रक्रिया कहते है।

§२ व्यक्तित्व के निर्माण की मनोवैज्ञानिक समस्याए

पालन के मनोवैज्ञानिक क्रियातत्रो को तब तक नही समझा जा सकता, जब तक कि बच्चे के विकास उसके व्यक्तित्व के निर्माण के स्रोतो को न समझ लिया जाय।

चूकि व्यक्तित्व और चेतना का निर्माण सक्रियता की प्रक्रिया मे सपन्न होता है, जिसका विकास बच्चे के मानसिक विकास पर निर्भर है इसलिए पालन सबधी समस्याओ का समाधान मानव सक्रियता की समानाधिकरणता और विकास के दौरान उसके परिवर्तन के मनोवैज्ञानिक नियमो पर आधारित होना चाहिए।

सक्रियता – व्यक्तित्व के निर्माण का आधार

सोवियत पालन मनोविज्ञान मार्क्सवाद की इस मान्यता को आधार मानकर चलता है कि मनुष्य एक क्रियाशील प्राणी है। व्यक्ति की मानसिकता उसके नैतिक गुण उस बहुमुखी बहुस्तरीय सक्रियता के परिणाम होते है, जिसके दौरान वह अन्य लोगो के साथ अन्योन्यक्रिया करता है। पालन सबधी प्रभावो की प्रणाली का निर्धारण करते सम

बच्चे की विभिन्न सक्रियताओ के स्वरूप व विशेषताओ को उनके महत्त्व पैमाने व अतर्वस्तु को अवश्य ध्यान मे रखा जाना चाहिए।

सोवियत मनोविज्ञान मे व्यक्तित्व और सक्रियता को आतरिक्त परस्पर सबद्ध सकल्पनाए माना जाता है। मनुष्य की सक्रियता विकसित होती है, तो उसके (सक्रियता के) नये भेद और रूप प्रकट होते जाते है जो परस्पर जुडते है, सोपानीकृत बनते है। इसके साथ ही सक्रियता के कारको – अभिप्रेरको – का भी सोपानीकरण होता जाता है। अभिप्रेरक बहुत तरह के होते है। उनमे अतर्वस्तु सकल्प और बोध की मात्रा की दृष्टि से भेद पाये जाते है। अभिप्रेरक प्राथमिक और द्वितीयक प्रत्यक्ष और व्यवहित आदि भी होते है। किंतु पालन मनोविज्ञान के लिए विशेष महत्त्व की बात उन सबधो को मालूम करना है, जो व्यक्तित्व के अभिप्रेरणात्मक पहलू पर प्रकाश डालते है, यानी जो सबध सक्रियता को वैयक्तिक महत्त्व देकर उसके लिए उकसानेवाले अभिप्रेरको और मात्र उकसानेवाले कारको की भूमिका अदा करनेवाले अभिप्रेरको के बीच होता है। सोवियत मनोविज्ञानवेत्ता अ० न० लेओन्त्येव ने सक्रियता की सरचना तथा विकास की प्रक्रिया म उसके परिवर्तनो का अध्ययन करके यह सबध अभिप्रेरको के सोपानक्रम म खोजा है जब कुछ अभिप्रेरक मुख्य अभिप्राय निर्धारी महत्त्व ग्रहण कर लेते हैं और दूसरे उनके अधीन मात्र उद्दीपको की भूमिका अदा करते है। **सक्रियताओ के विकास मे पैदा होनेवाली अभिप्रेरको की अविभाज्य परस्पर सबद्ध प्रणाली ही व्यक्तित्व का मानसिक आधार है।** ऐसी एकता और परस्पर सबद्धता की मात्रा और विभिन्न सक्रियताओ के आधार पर विश्व के साथ मनुष्य के सपर्को व सबधो की व्यापकता का पैमाना व्यक्ति के विकास के आधारभूत प्राचलो का काम करता है। ज्ञात है कि कभी-कभी एकाकी अभिप्रेरक मनुष्य के व्यवहार म तरह-तरह मे साकार बनते है और विभिन्न अभिप्रेरक बाह्यत एक ही रूप म अभिव्यक्त हो सकते हैं। किंतु व्यवहार के पीछे सामान्यतया एक नही, अपितु अतर्वस्तु तथा रचना की दृष्टि से एक दूसरे स भिन्न कई अभिप्रेरक होते हैं जिनम मे कुछ मुख्य होते हैं और कुछ गौण। व्यक्तित्व के अभिप्रेरणात्मक पहलू के विकास के दौरान मुख्य प्रेरक बदलते और नये उन्नततर नैतिक प्रेरक उपजते रहते हैं। सक्रियता का लक्ष्यप्रेरित सगठन अभिप्रेरको

के महसबधो और मोपानक्रम का आवश्यक परिवर्तन सुनिश्चित करता है। किसी भी सक्रियता की मौलिकता इस बात मे होती है कि उसकी अगभूत क्रियाओ के परिणाम कुछ स्थितियो म अभिप्रेरको के मुकाबले कही ज्यादा महत्त्वपूण बन जाते है। उदाहरण के लिए, आरभ म बच्चा घर पर करने के लिए दिया हुआ काम इसलिए समय पर पूरा कर सकता है कि खेलने को वक्त मिल जायेगा। तब यदि उसे नियमित रूप से अच्छे अक मिलने लगते हैं और उसकी अच्छे छात्र की प्रतिष्ठा बन जाती है, तो वह अच्छे अक पाने के लिए समय पर काम करने लगता है। समय पर काम करने की क्रिया का अभिप्रेरक अब दूसरा हो गया है। इस क्रियाओ के विकास का सामान्य मानसिक क्रियातत्र कहते है। अ० न० लेओन्तयेव का मत है कि उत्तरोत्तर सारगर्भित बनते हुए क्रियाए मानो उस सक्रियता के दायरे को लाघ जाती है, जिसे व साकार बना रही थी और अपने को जन्म देनेवाले अभिप्रेरको से टकराने लगती है। परिणामस्वरूप अभिप्रेरको मे और उनके सोपानक्रम मे परिवर्तन आता है नये अभिप्रेरक, नयी सक्रियताए उत्पन्न होती हैं। पहले के उद्देश्य मानसिक रूप से तुच्छ बन जाते है और जो क्रियाए उनके अनुरूप थी उनका या तो अस्तित्व ही नही रह जाता अथवा वे निर्वैयक्तिक सक्रियाए बन जाती है।

यह बेशक सक्रियता के रूपो के परिवर्तन के काफी सामान्य क्रियातत्र का ही वणन है। वास्तव मे हर विशिष्ट मामले मे यह क्रियातत्र कुछ सर्वथा निश्चित अभिप्रेरको के परिवर्तन मे प्रकट होता है। उदाहरणार्थ स्कूलपूर्व आयु के बच्चे की क्रीडामूलक सक्रियता मे क्रीडामूलक क्रियाए और कतिपय मानसिक क्रियाए भी परिष्कृत बनती है (खेल अपनी अतर्वस्तु और सगठन की दृष्टि से जटिलतर होते जाते है प्रत्यक्षो, स्मृति, इच्छा शक्ति आदि के विकास का स्तर ऊचा उठता जाता है)। कुछ खेलो को करने के लिए बच्चो को लोगो के परस्पर सबधो की विशेषताओ प्राकृतिक परिघटनाओ के गुणो आदि से खास तौर पर परिचित होना पडता है। आरभ मे यह परिचय क्रीडाजन्य स्थिति से अभिप्रेरित क्रिया के ठोस लक्ष्य का काम करता है। किंतु शनै-शनै स्कूलपूर्व आयु के बडे बच्चो के मामले मे ऐसी सज्ञानमूलक क्रियाशीलता के परिणामो का महत्त्व क्रीडा अभिप्रेरको से अधिक व्यापी सिद्ध हो जाता है

और बच्चा परिवेशी विश्व मे क्रीडाजन्य स्थिति से निरपेक्ष रूप मे स्वय दिलचस्पी लेने लगता है। इसका अर्थ है कि अभिप्रेरक बदलकर लक्ष्य बन गया है और "परिचय पाने" की क्रिया ने दूसरा रूप ग्रहण कर लिया है।

अभिप्रेरक चूकि लक्ष्य को पाने की ललक, अनुभूतियो और अभिलाषाओ के रूप मे अप्रत्यक्ष तौर पर अभिव्यक्त होते हैं इसलिए बच्चे को उनका बोध हमेशा नही रहता। इसके विपरीत सक्रियता के लक्ष्य का बोध हमेशा रहता है और वह सक्रिय प्रभाव डालता है। इसलिए पालन की विशद प्रणाली के निर्धारण मे क्रियाओ की निष्पत्ति पर, योग्यताओ और दक्षताओ के अर्जन पर लक्ष्य के प्रभाव के स्वरूप व पैमाने को ध्यान मे रखना बहुत जरूरी है, क्योकि वह किसी भी सक्रियता के प्रति बच्चो के रवैये के निर्माण का रास्ता दिखाता है। हर सक्रियता के लिए एक सामान्य ठोस लक्ष्य की प्राप्ति आवश्यक होती है। जब सामान्य लक्ष्य की भूमिका अवबोधित अभिप्रेरक अदा करता है तो वह अभिप्रेरक लक्ष्य बन जाता है।

अभिप्रेरको मे मनुष्य की आवश्यकताओ का वास्तवीकरण होता है। **व्यक्तित्व के विकास की एक पूर्वशर्त है अभिप्रेरको व आवश्यकताओ की ऐसी सोपानात्मक सरचना का निर्माण, जिसमे उच्चतर आत्मिक आवश्यकताओ का प्राधान्य होता है।**

पालन मनोविज्ञान के लिए आवश्यकताओ के विकास और उनकी सामाजिक मानसिक विशेषताओ का प्रश्न बहुत अधिक महत्त्व रखता है। समाज मे बच्चे का स्थान आयु के साथ बदलता जाता है। उसकी सक्रियता जटिलतर बनती जाती है जिसकी वजह से उसकी आवश्यकताए भी बढती जाती हैं।

नये मनुष्य के व्यक्तित्व के निर्माण के लिए आवश्यकताओ और सक्रियता के परस्पर सबधो को स्पष्टत निरूपित करना जरूरी है। इन सबधो की वह तसवीर बुनियादी तौर पर गलत है जिसमे आरभबिंदु स्वय आवश्यकता होती है (आवश्यकता – सक्रियता – आवश्यकता)। मार्क्सवादी मान्यता के अनुसार आवश्यकताए सामाजिक सक्रियता की प्रक्रिया मे पैदा होती हैं सक्रियता – आवश्यकता – सक्रियता। इसमे प्राथमिकता उत्पादन को प्राप्त है न कि उपभोग को।

मनुष्य की आवश्यकताओं के स्वरूप और उनके विकास के क्रम पर प्रकाश डालते हुए सोवियत मनोविज्ञानवेत्ता अ० न० लेओन्तयेव ने सिद्ध किया है कि एक आतरिक शक्ति के रूप में आवश्यकता केवल सक्रियता में ही साकार बन सकती है। इसलिए पालन क्रिया का गठन बच्चे की विकासशील सक्रियता के आधार पर और विकास की प्रक्रिया में इस सक्रियता में आनेवाले परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए किया जाना चाहिए।

बच्चे के व्यक्तित्व के निर्माण में श्रम शिक्षा की भूमिका

स्कूली आयु के बच्चे बहुविध सक्रियताओं में भाग लेते हैं। किंतु बच्चे का यथार्थ जीवन यंत्रवत् अलग अलग तरह की सक्रियताओं से नहीं बनता, बल्कि वह स्वयं उन सक्रियताओं की कुछ निश्चित प्रणालियों का निर्माण करता है, जो हर आयु वर्ग में भिन्न होती है। इनमें से प्रत्येक प्रणाली में एक **प्रमुख सक्रियता** होती है जो आयु के उस चरण में आसपास के लोगों और वस्तुजगत के प्रति बच्चे के रवैये को निर्धारित करती है। मनोविज्ञान में प्रमुख सक्रियता उस सक्रियता को कहते है, जिसका विकास बच्चे के विकास के दत्त चरण में व्यक्तित्व की मानसिक प्रक्रियाओं और मानसिक विशेषताओं में मुख्य परिवर्तन लाता है। **इसलिए प्रमुख सक्रियता का विशेष सगठन बच्चे के व्यक्तित्व के निर्माण और उसमें निश्चित आवश्यकताओं, अभिप्रेरकों तथा उद्देश्यों के विकास पर लक्ष्यानुरूप प्रभाव डालने के लिए बहुत जरूरी है।**

विभिन्न प्रकार्योंवाली और विभिन्न पालन सबधी महत्त्व रखनेवाली प्रमुख सक्रियताओं के विकास के नियमों का अध्ययन करके सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओं ने आधुनिक बच्चे के मानसिक विकास को कुछ निश्चित कालखडों में बाटा है जो पालन की अविभाज्य प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक आधार बन सकता है। एक ओर सक्रियता का और दूसरी ओर, उसके प्रमुख रूपों के विकास व परिवर्तन का अध्ययन करके अब यह सभव हो गया है कि अभिप्रेरकों के निश्चित सोपानात्मक सबधों के निर्माण पर और लक्ष्य निर्धारण प्रक्रिया के विकास पर प्रभाव डालने के तरीकों की सार्थक खोज की जा सके। इसी तरह व्यक्तित्व के इष्टतम

निर्माण के लिए हर प्रमुख सक्रियता के पुनर्गठन के तरीके निर्धारित करना भी संभव बन गया है।

आज हम जानते हैं कि बचपन के किस चरण में कौन सी सक्रियताएं प्रमुख होती हैं और कौन सी मानसिक नवनिर्मितियां उस चरण का विशिष्ट लक्षण हैं। उदाहरणार्थ, स्कूलपूर्व आयु में प्रमुख **क्रीड़ामूलक सक्रियता** होती है। खेल एक ओर तो ऐसी सक्रियता के रूप में सामने आता है जिसके दौरान बच्चा जीवन की सबसे सामान्य परिघटनाओं में अपने स्थान को पहचानता है और दूसरी ओर इस सक्रियता के आधार पर बच्चे में कल्पना शक्ति जमती और विकसित होती है।

आरंभिक स्कूली आयु में प्रमुख **शैक्षिक सक्रियता** होती है, जिसके दौरान बच्चा ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों से संबंधित वैज्ञानिक संकल्पनाओं को आत्मसात् करता है और वास्तविकता के प्रतिबिंबन का सैद्धांतिक विवेचन सीखने समझने लगता है। यह सक्रियता यदि समीचीन और निर्बाध ढंग से जारी रहे तो ७-१० वर्ष की आयु में बच्चे की मानसिक प्रक्रियाओं में आवश्यक सकल्प आ जाता है, वह क्रियाओं की मानसिक स्तर पर योजना करने लग जाता है और अनुचिंतन सीख लेता है जो कि सैद्धांतिक चेतना की एक सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

किशोरावस्था में प्रमुख सक्रियता फिर बदल जाती है। शैक्षिक सक्रियता यद्यपि आवश्यक और महत्त्वपूर्ण बनी रहती है फिर भी जहां तक उसकी मनोवैज्ञानिक भूमिका का सवाल है वह किशोर की सामाजिक दृष्टि से उपयोगी समग्र सक्रियता के केवल एक रूप के तौर पर ही काम करती है। इस आयु में **सामाजिक दृष्टि से उपयोगी विशद सक्रियता** बच्चे की प्रमुख सक्रियता होती है चाहे उसका संबंध शिक्षा से हो, श्रम से हो, सामाजिक व संगठन विषयक कार्यों से हो, कलात्मक सृजन से हो अथवा खेलकूद से। सक्रियता के ये रूप आरंभिक स्कूली आयु में भी पाये जाते हैं, किंतु वहां वे इतने प्रकट, इतने विशद और इतने सुव्यवस्थित नहीं होते। किशोरावस्था में बच्चे को शैक्षिक, श्रमिक, कलात्मक, सामाजिक व संगठनात्मक, खेलकूद संबंधी आदि कई प्रकार की सक्रियताओं में अवश्य भाग लेना होता है। चाहने पर वह एक सक्रियता से दूसरी सक्रियता में संक्रमण भी कर सकता है। किंतु उसकी दिनचर्या, पढ़ाई और पढ़ाई से इतर काम, श्रम, खेलकूद

और सामाजिक नियाक्लाप, आदि सभी कुछ सुनियोजित और सुसगठित होना चाहिए।

सामाजिक दृष्टि मे उपयोगी सक्रियता को किशोरावस्था की मुख्य मानसिक अपेक्षाओ मे मेल खाना चाहिए। इसके लिए जरूरी है कि बच्चो को विभिन्न जीवनीय स्थितियो मे पैदा होनेवाले कार्यभारो के अनुरूप लोगो के साथ मानसिक सपर्क के विविध रूप सिखाये जाये। विकसित सपर्क प्रणाली अन्य लोगो और परिवेश के प्रति किशोर के सचेतन रवैये के निर्माण का आधार होती है। ऐसे मे किशोर की सचेतनता उसके व्यक्तित्व का एक विशिष्ट गुण बन जाती है।

तरुणावस्था मे **शैक्षिक-व्यावसायिक सक्रियता** प्रमुख सक्रियता हो जाती है। इसमे एक ओर खोज, अनुसधान के तत्त्व होते हैं और, दूसरी ओर, एक निश्चित व्यावसायिक अभिमुखता होती है। इस आयु काल की एक सबसे महत्त्वपूर्ण मानसिक नवनिर्मिति है छात्र की स्वय अपने जीवन की योजनाए बनाने उनकी पूर्ति के साधन खोजने और नैतिक आदर्श निर्धारित करने की योग्यता जिसमे उसकी आत्मचेतना के विकास का सबूत मिलता है।

सोवियत मनोविज्ञानवेत्ता द० ब० एल्कोनिन (जन्म १६०४) के अनुसार बच्चो की प्रमुख सक्रियता के इन सभी भेदो को दो वर्गो मे बाटा जा सकता है। पहले वर्ग मे वे सक्रियताए आती है जिनमे बच्चे अधिकाशत उद्देश्यो, अभिप्रेरको और लोगो के परस्पर सबधो के मानको को सीखते है। अपनी ठोस अतर्वस्तु की दृष्टि से इन सक्रियताओ मे अतर तो होता है, किंतु बुनियादी तौर पर वे सभी एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके दौरान बच्चे मानव सक्रियता के सामान्य सार व प्रयोजन को हृदयगम करने की कोशिश करते हैं। इसकी बदौलत उनके व्यक्तित्व के आवश्यकता-अभिप्रेरणात्मक पहलू का विकास होता है। दूसरे वर्ग मे वे सक्रियताए आती है जिनका सबध भौतिक और आत्मिक सस्कृति के ज्ञान के लिए आवश्यक, समाज द्वारा विकसित क्रिया रीतियो को सीखने से है। इन सक्रियताओ की बदौलत बच्चो की बौद्धिक और सज्ञानात्मक अभिक्षमताए विकसित होती है। इस प्रकार हर एक ऐसे आयु काल के बाद, जब मुख्यतया आवश्यकताए और अभिप्रेरक विकसित होते है, नियमत एक ऐसा आयु काल आता है

जब अधिकागत मनानात्मक अभिक्षमताओ का विकाम होता है।

बच्चे के मानस के विकास के नियमो, प्रमुख सक्रियताओ की विशिष्टताओ और अन्य सक्रियताओ के साथ उनके सबधो का अध्ययन करके उन प्रच्छन्न सभावनाओ का पता लगाया जा सकता है, जो पालन प्रक्रिया को अधिकतम कारगर बनाने म महायक होती हैं।

यह पाया गया है कि शिक्षा और पालन कार्य म विभिन्न आयु वर्गों की प्रमुख सक्रियताओ से सबधित बुनियादी मानसिक विशेषताओ को सदा ध्यान म नही रखा जाता है। उदाहरण के लिए स्कूली आयु वर्गों म अतरो के बावजूद कभी कभी पढाई के तरीके, मूल्याकन और ज्ञान परीक्षा की प्रणाली अध्यापको और छात्रो के परस्पर सपर्क के रूप और बाल समुदाय के गठन का तरीका एक से ही बने रहते हैं।

उच्च बौद्धिक और सृजनात्मक क्षमताओ से युक्त सक्रिय व्यक्तित्व के निर्माण के लिए आवश्यक है कि प्रतिपालक और अध्यापक शिक्षा और पालन कार्य की अतर्वस्तु और सगठन को मनोवैज्ञानिक अध्ययनो और प्रेक्षणो से प्राप्त सामग्री पर आधारित कर। उन्हे ध्यान म रखते हुए विभिन्न आयु कालो म विशेषत एक आयु काल से दूसरे आयु काल म सक्रमण के दौर म बच्चो के आपसी और वयस्को के साथ सबधो के वातावरण और प्रणाली मे परिवर्तन अवश्य किया जाना चाहिए।

सुव्यवस्थित पालन प्रक्रिया के परिणामस्वरूप बच्चे म एसे गुण पैदा होते और जडे जमा लेते है जो उसकी भावी व्यावसायिक व सामाजिक सक्रियता की दृष्टि से बडा महत्त्व रखते हैं और उसके विश्व दृष्टिकोण तथा नैतिक मान्यताओ का मानसिक आधार बनते है। ये गुण अपने अनुरूप आवश्यकताओ और अभिक्षमताओ मे व्यक्त होते है जैसे श्रम करने की आवश्यकता और अभिक्षमता, अपने श्रम का युक्तिसगत ढग से सगठन और जरूरत पडने पर परिष्कार करने की योग्यता, समुदाय के सदस्यो के साथ उन्नत नैतिक आदर्शो और मानको के आधार पर सपर्क बनाने व रखने की आवश्यकता और अभिक्षमता जीवन मे जब तब पैदा होनेवाली समस्याओ को हल करने की अभिक्षमता आदि। किंतु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है आवश्यकता साकार रूप सक्रियता मे ही ग्रहण करती है। इसलिए पालन की प्रणाली

क सोद्देश्य सगठन के लिए ऐसी सक्रियता पर विशेष ध्यान दिये जाने की जरूरत है, जो, विगोत्स्की के शब्दो मे, "जीवन मे व्यवहार के सभी रूपो का सर्वाधिक शुद्ध मॉडल" बन सके। हमारा आशय स्कूली बच्चो की श्रममूलक सक्रियता से है, जिसका सामाजिक महत्त्व भी है और इस कारण जो व्यक्तित्व के निर्माण पर सर्वाधिक प्रभाव भी डालती है।

छात्रो के सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम के मनोवैज्ञानिक पहलू और पालन मे श्रम का महत्त्व

हर आयु वर्ग की विशिष्ट प्रमुख सक्रियता का विकास अपने मे कितना भी महत्त्वपूर्ण क्यो न हो, यह बात सदा ध्यान मे रखनी चाहिए कि अकेली श्रममूलक सक्रियता ही, जैसा कि ल० स० विगोत्स्की ने कहा था, बच्चे को किसी एक सक्रियता के सकीर्ण दायरे म सीमित न रखकर अपनी क्षमताओ को कई सक्रियताओ म आजमाने की सभावना देती है। बच्चो की सभी सक्रियताओ को एक निश्चित लक्ष्योन्मुखता प्रदान की जानी चाहिए। कवल श्रम का सामाजिक महत्त्व ही बच्चा के विश्व दृष्टिकोण को बनाता है। बच्चे क व्यक्तित्व की अभिपुष्टि सबसे पहले सामाजिक श्रम मे अपनी अभिपुष्टि क रूप मे ही हो सकती है। अत यह आवश्यक है कि विभिन्न आयु वर्गो के बच्चा को सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम सक्रियताओ मे शामिल करने मे एक निश्चित क्रमबद्धता का पालन किया जाये। सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओ न इस सक्रियता के गठन के मनोवैज्ञानिक सिद्धात खोजे है।

सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम सक्रियता की प्रणाली म स्कूल द्वारा आयोजित और स्पष्ट सामाजिक महत्त्ववाले श्रम रूप निर्णायक भूमिका अदा करते हैं। उल्लेखनीय है कि अपने ही लिए किया जाने वाला मामूली काम भी समुदाय म व्यक्तिगत ही नहीं सामाजिक अर्थ भी ग्रहण कर लेता है क्योकि उससे छात्रो और समुदाय के बीच विविध सबध बनते है और बच्चे मे रोजमर्रा के काम स्वय करने की आदत पडती है।

सामूहिक श्रम म बच्चा सामान्य, किंतु लोगो के लिए आवश्यक काम को आदर की दृष्टि से देखना बडो की मदद के बिना काम चला

ना और अपने पैरो पर खडा होना सीखता है। ये सब बात छात्रो को सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम सक्रियता के लिए मानसिक रूप से तैयार करने म बडा महत्त्व रखती हैं।

सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम सक्रियता परस्पर सहायता की भावना उत्तरदायित्व के बोध तथा परस्पर अपेक्षाशीलता के विकास म सहायक होती है। वह बच्चो मे सामाजिक सपत्ति की सुरक्षा की चिंता करना और अपने श्रम तथा साथियो के श्रम के परिणामो म रुचि लेना सिखाती है।

ऐसी श्रम सक्रियता के दौरान छात्र मात्र कामगर नही होता, बल्कि उत्तरदायित्वपूर्ण सगठनकर्त्ता भी होता है। वह अपने को स्वावलबी महसूस करता है और समुदाय, साथियो तथा वयस्को के साथ सबधो की नयी प्रणाली म सक्रिय रूप से सम्मिलित होता है। इस प्रक्रिया मे उसमे सगठनात्मक योग्यताए और दक्षताए पैदा होती हैं और, जो सबसे खास बात है उत्तरदायित्व तथा कर्तव्य की चेतना, साझे कार्य के निमित्त अपने निजी हितो की बलि देने की भावना और सामाजिक सक्रियता की आवश्यकता का बोध जन्मते है।

छात्र के सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम का पालन के लिए इसलिए भी काफी बडा महत्त्व है कि उसके दौरान उसे अपने बारे म अपने साथियो की ही नही अधिक व्यापक सामाजिक हल्के की भी राय मालूम होती है। उत्पादक कामगर की स्थिति निजी उत्तरदायित्व तथा परस्पर नियत्रण को अतर्गुफित करके और सामूहिकतावाद की भावनाए पैदा करके छात्र के मानस पर गभीर प्रभाव डालती है। उत्पादक सामूहिक श्रम छात्र को समाज का समानाधिकारपूर्ण सदस्य बना देता है। समाज के लिए आवश्यक भौतिक सपदा के निर्माण म भाग लेने की चेतना उसे हर्ष और गहन नैतिक सतोष प्रदान करती है आगे भी यो ही सक्रिय रहने की प्रेरणा देती है, काम से प्रेम करना और भावी उत्पादक सक्रियता के लिए नैतिक रूप से तैयार रहना सिखाती है।

स्कूल का कार्य चूकि उदीयमान पीढी का पालन करना है अत उसे जीवन की यथार्थ अपेक्षाओ को अवश्य ध्यान मे रखना चाहिए और छात्रो को घरेलू कामकाज समेत सभी तरह की श्रम सक्रियता के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। घरेलू कामकाज को बच्चे की श्रम

सक्रियता की सामान्य प्रणाली मे स्थान दिया जाना बहुत जरूरी है क्योंकि बच्चो की ज्यादातर श्रम सक्रियता घरेलू कामकाज से ही सबध रखती है।

किंतु श्रम सक्रियता के सभी रूपो का लक्ष्य एक ही होने के बावजूद यह नही कहा जा सकता कि उन सबका सामाजिक प्रभाविता और सामाजिक मूल्याकन भी एक ही जैसे होते है। वास्तव मे इस दृष्टि से उनमे बडा अतर पाया जाता है। श्रम सक्रियता के विविध रूपो के बीच सोपानात्मक सबध और उनका सुविचारित समन्वय तथा एकीभूत प्रणाली मे अन्योन्यक्रिया ही बच्चे के व्यक्तित्व के निर्माण पर गभीर मनोवैज्ञानिक प्रभाव डाल सकते है।

वैज्ञानिक और प्राविधिक क्राति के वतमान युग मे मनुष्य के व्यक्तित्व का लक्ष्यप्रेरित निर्माण समाज के विकास की प्रवृत्तियो को ध्यान मे रखे बिना और उन अपेक्षाओ को समझे बिना नही किया जा सकता, जो मनुष्य से २०-३० वर्ष बाद की जायगी। इन अपेक्षाओ मे मनुष्य की चेतना के मुख्य रूपो (नैतिक, कलात्मक वैज्ञानिक आत्मिक आदि) का एक निश्चित स्तर पर पहुचना और कुछ निश्चित सबधो का बनना शामिल हैं। उनमे एक प्रमुख स्थान सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम करने और सामाजिक सपर्क के सर्वाधिक बहुमुखी साधनो को इस्तेमाल मे लाने की अभिक्षमता के विकास को प्राप्त है। वैज्ञानिक और प्राविधिक क्राति श्रम का रूप बदल देती है और मनुष्य को श्रम के लिए भिन्न ढग से प्रशिक्षित किये जाने की अपेक्षा करती है। फलस्वरूप बच्चो मे श्रम के प्रति और सामाजिक दृष्टि से उपयोगी सक्रियता मे सहभागिता के प्रति नये दृष्टिकोण के निर्माण के अधिकतम कारगर तरीके ढूढे जाने चाहिए। यह आवश्यक है कि श्रम शिक्षा को व्यक्तित्व के निर्माण के सभी पहलुओ से सबध रखनेवाला मुख्य कारक माना जाये।

समाजवादी समाज मे बच्चो की सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम सक्रियता के सगठन के लिए सभी आवश्यक परिस्थितिया मौजूद है। ऐसी सक्रियता के बिना बच्चो को समाज के साथ सबधो की गुणात्मक रूप से नयी प्रणाली मे यथार्थत सम्मिलित करने की कल्पना भी नही की जा सकती। इस सक्रियता का स्वरूप और लक्ष्य ऐसा होने चाहिए कि

बच्चे के व्यक्तित्व पर यथेष्ट गहन मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड सके।

बच्चे समाज का अभिन्न अग होते हैं। इसलिए वे शुरू से ही वयस्को का सग पाने, उनकी जैसी रुचिया रखने, काम करने, आदि के लिए लालायित रहते है। इस सयुक्त जीवन का एक सार्विक रूप सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम है, जिसमे भाग लेना बच्चे को एक निश्चित हैसियत प्रदान करता है।

विभिन्न आयु कालो मे सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम सक्रियता का स्वरूप पैमाना, कार्य भूमिका और प्रभाव की मात्रा भिन्न भिन्न होते है। किंतु मानसिक विकास के सभी चरणो मे यह सक्रियता बच्चा की चेतना और आत्मचेतना के विकास को निर्धारित करती है। स्कूलपूर्व अवस्था से ही, जब बच्चा खेल, मॉडलिंग चित्रकारी, अपने कामो, आदि मे स्वय कार्य करने की कोशिश करने लगता है (' मैं खुद ') उसमे सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम सक्रियता के अकुर पनपने लग जाते है। ऐसे मे सबसे सरल श्रम सक्रियता का भी विशेष सगठन और उसकी सामाजिक दृष्टि से उपयोगी अभिमुखता मैं खुद अपने लिए' की मनोवृत्ति को मैं खुद मगर दूसरो के साथ, दूसरो के लिए' की मनोवृत्ति मे बदल डालते है।

प्राथमिक कक्षाओ के बच्चे का सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम के प्रति रवैया अनिवार्य शैक्षिक सक्रियता के दौरान भी, जो कि अपने सगठन की दृष्टि से ठेठ श्रम सक्रियता जैसी होती है और अन्य राज मर्रा के कार्यों के दौरान भी विकसित होता है।

किशोर सामाजिक दृष्टि से उपयोगी ऐसी श्रम सक्रियता म भाग लेने को लालायित रहता है, जिसकी बदौलत वह ज्यादा से ज्यादा लोगो से घुल मिल सकता है और जो उसकी सृजनात्मक क्षमताओ के प्रस्फुटन मे सहायक हो सकती है। किशोरो की श्रम सक्रियता एक ऐसे दौर म नये कार्यभार उपस्थित करती है और व्यवहार के नये अभिप्रेरको को जन्म देती है जब छात्र माध्यमिक शिक्षा पूरी कर रहे होते हैं और शीघ्र ही नागरिक तथा स्वतत्र कामगर की सामाजिक स्थिति पानेवाले होते हैं। किशोर छात्रो की सक्रियता जैसा कि व्ला० इ० लेनिन ने कहा था भावी' लोगो की चिंता से प्रेरित होनी चाहिए। इस सक्रियता के सगठन मे प्रबल नैतिक प्रयासो और ऐसी स्थितियो के

प्रभाव को अवश्य ध्यान मे रखा जाना चाहिए, जो छात्रो से गभीर आत्मिक तथा शारीरिक प्रयासो की, दृढसकल्प, उत्तरदायित्व के बोध तथा योग्यता के प्रदर्शन की और साथियो के लिए, दूसरो के लिए अपनी निजी सुविधाओ की बलि देने की अपेक्षा करती है।

स्कूल मे बच्चो की सक्रियता का सगठन ऐसे किया जाना चाहिए कि उनकी क्रियाशीलता उत्तरोत्तर बढती जाये और वे भविष्य मे स्कूल के बाहर की जानेवाली सामाजिक दृष्टि से उपयोगी स्वतत्र सक्रियता का अनुभव अर्जित कर सके।

छात्रो की यह सक्रियता, जिसमे उत्पादक श्रम भी शामिल है वयस्को के श्रम की समानार्थी नही है। वह पेशेवर श्रम नही है, यहा तक कि तब भी, जब वह सामाजिक सपदा का सृजन करती है। वह बच्चे के जीवन निर्वाह का साधन नही होती।

सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम बच्चो द्वारा वयस्को के परस्पर सबधो से परिचित होने का एक साधन है। छात्र आर्थिक रूप से वयस्को पर निर्भर होता है, किंतु सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम मे भाग लेकर वह अपने को समाज का सदस्य अनुभव करता है और समाज द्वारा वयस्को के मापदडो ' से मापा जाता है। छात्र की सामाजिक दृष्टि से उपयोगी किसी विशिष्ट सक्रियता का मनोवैज्ञानिक महत्त्व इस बात मे है कि उसमे भाग लेकर वह समाज मे एक निश्चित स्थान प्राप्त कर लेता है।

सामाजिक दृष्टि से उपयोगी सक्रियता मे सम्मिलित होकर बच्चे अपने को सामाजिक श्रम मे, सारी जनता के लिए महत्त्व रखनेवाले गभीर आवश्यक कार्य मे सहभागी महसूस करते है। उससे उन्हे अपने महत्त्व, नागरिकत्व और सामाजिक उपयोगिता का अहसास होता है। इसके साथ ही नये सबध बच्चो पर नये दायित्व थोपते है और उनके व्यवहार से ऊची अपेक्षाए करते हैं। छात्रो की सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम सक्रियता अपने रूप की दृष्टि मे श्रम है। किंतु अतर्वस्तु की दृष्टि मे वह एक ऐसा क्रियाकलाप है जिसके जरिये उसका यानी छात्र का समाज मे अपने समवयस्को के बीच और वयस्को के बीच स्थान निर्धारित होता है और उसके व्यक्तित्व के निर्माण मे योग मिलता है।

श्रम का सामूहिक स्वरूप पालन मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। श्रम की प्रक्रिया मे बच्चो और वयस्को के बीच निश्चित प्रकार के परस्पर सबध बनते हैं और विशद परस्पर सबधो की प्रणाली म ही एक व्यक्ति के तौर पर मनुष्य का सर्वाधिक सक्रिय विकास होता है।

§३ बाल समुदाय की मनोवैज्ञानिक विशेषताए

बाल समुदाय और पालन मे उसका योगदान

व्यक्तित्व के निर्माण की एक सबसे मुख्य शर्त और वैचारिक, राजनीतिक नैतिक, श्रम सबधी तथा सौदर्यात्मक पालन का एक सबसे कारगर साधन बाल समुदाय है।

बाल समुदाय मे अन्य समुदायो जैसे सामान्य लक्षण भी होते है और अपने कुछ पृथक विशिष्ट लक्षण भी।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बाल समुदाय एक ऐसा सगठन है, जिसम बच्चे के आरभिक सामाजिक सबध बनते हैं और उसका मानसिक विकास होता है। बाल समुदाय निर्माणाधीन व्यक्तित्वो का समुदाय है। इसी से वह पालन की प्रक्रिया म विशेष स्थान रखता है।

बाल समुदाय की एक खास विशेषता यह है कि उसके लक्ष्यो का निर्धारण वयस्क लोगो द्वारा किया जाता है।

बाल समुदाय के सगठन मे स्वय बच्चो की आवश्यकताओ और वयस्को द्वारा निर्धारित पालन के लक्ष्यो के सहसबध विशेष महत्त्व रखते है। सामाजिक महत्त्व के कार्यों म बच्चो को सक्रिय रूप से सहभागी बनाते हुए बाल समुदाय सपर्क ससर्ग के ऐसे बहुविध रूप मुहैया करता है जो व्यक्तित्व के विकास के लिए व्यापक सभावनाए प्रस्तुत करते हैं। स्वय बच्चो की नजर म समुदाय के पालन कार्य को उसके सामाजिक दृष्टि से उपयोगी कार्य की तुलना मे गौण रहना चाहिए। अन्यथा उसका पालन सबधी कोई प्रभाव न पड पायगा।

समाज का पालन म सबधित एक मुख्य लक्ष्य उदीयमान पीढ़ी

का उत्पादन सबंधी श्रम के लिए तैयार करना है। इसलिए बाल समुदाय म बच्चा सामाजिक सपर्क के मुख्य रूपो तथा सामाजिक श्रम की शिक्षा पाता है और उसमे सामाजिक दृष्टि से आवश्यक सक्रियता के निष्पादन की अभिक्षमता विकसित होती है।

बाल समुदाय की सामाजिक और मनोवैज्ञानिक विशिष्टता यह है कि वयस्को द्वारा सगठित बच्चो का यह सगठन उसमे समाज के सबधो का माडल बनाये जाने की समावना देता है। इसलिए समुदाय के अदर बच्चो के परस्पर सबध कैसे है, इसका उनके व्यक्तित्व के निर्माण के लिए निर्णायक महत्त्व होता है।

समाज के अतर्गत बाल समुदाय एक ऐसा विशिष्ट परिवेश है जिसमे बच्चे का व्यक्तित्व बनता है। अत उसका निर्माण और सगठन सही ढग से किया जाना चाहिए। समुदाय ही बच्चे के व्यक्तित्व के स्थायी नैतिक गुणो के सक्रिय, उद्देश्यपरक निर्माण के लिए आवश्यक परिस्थितिया बनाता है। सोवियत मनोवैज्ञानिक साहित्य मे यह प्रस्थापना काफी प्रचलित है कि बच्चे द्वारा पूर्ववर्ती पीढियो द्वारा सचित अनुभव ज्ञान और धारणाओ के आत्मसात्करण की प्रक्रिया एक ऐसी विशिष्ट प्रक्रिया है, जो जिन परिस्थितियो मे वह घटती है उनकी दृष्टि मे भी और अपने नियामको की दृष्टि मे भी वैयक्तिक अनुभव के निर्माण की प्रक्रिया से काफी भिन्न है। यह प्रक्रिया बच्चे की उस सक्रिय के दौरान घटती है, जो अपने इर्द गिर्द के लोगो के साथ उसके सपर्क समग्र का फल होती है।

बच्चे विभिन्न बाल सगठनो की बहुविध सयुक्त सक्रियताओ मे भाग लेते हैं। किंतु बच्चो के परस्पर सबधो के निर्माण पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव की दृष्टि से सभी सगठन एकसमान नही होते।

उन्नत बाल समुदाय ऐसी कुछ निश्चित सक्रियताओ पर ही आधारित हो सकता है, जो बच्चे के मानस के विकास के सर्वथा निश्चित आयुगत चरणो मे ही अस्तित्व मे आती हैं।

हर बाल समुदाय की सामाजिक दृष्टि से उपयोगी सक्रियता के साझे उद्देश्य तथा साझे अभिप्रेरक होते हैं और परिणामो म रुचि भी साझी होती है। यदि समुदाय उन्नत किस्म का है तो इसका अर्थ है कि उसके सदस्यो की क्रियाशीलता और सामूहिकता के परस्पर

सहायता की भावना का स्तर बहुत ऊचा है और लोगो से उनके सबध बहुमुखी और बहुविध हैं।

किशोरावस्था इस तरह के समुदाय सगठित करने के लिए सबसे उपयुक्त अवस्था है। इसका कारण यह है कि किशोरावस्था तक बच्चे की सामाजिक स्थिति मे गुणात्मक परिवर्तन आ जाते है, अन्य लोगो के साथ उसके सबध बदल जाते है और वह स्थिति के अनुसार उनका नियमन करना और अन्य लोगो के दृष्टिकोण को ध्यान मे रखकर अपने कार्यो का मूल्याकन व सचालन करना सीख जाता है।

किशोर के सामाजिक सपर्कों का मनोवैज्ञानिक सार यह है कि इस आयु मे वह समाज के जीवन के ससर्ग मे आ जाता है और वह अपने इर्द-गिर्द के लोगो के बीच अपने को जताने की आवश्यकता महसूस करने लग जाता है। १०-१६ वर्ष के बच्चे की ये विशेषताए उसे सामाजिक दृष्टि से उपयोगी सक्रियता के दौरान बहुविध सबधो के प्रति बहुत सवेदनशील बना देती हैं।

इस आयु मे सामाजिक दृष्टि से उपयोगी सक्रियता प्रमुख सक्रियता बन जाती है। वह किशोर की मुख्य मानसिक विशेषताओ के अनुरूप निष्पन्न होती है।

उन्नत बाल समुदाय एकाएक पैदा नही हो जाता। उसका निर्माण एक दीर्घ प्रक्रिया है जिसकी शुरुआत स्कूलपूर्व अवस्था मे ही हो जाती है।

इस सिलसिले मे दो परस्पर सबद्ध प्रश्न पैदा होते है

क) उन्नत बाल समुदाय का निर्माण आरभिक स्कूली अवस्था मे बननेवाले सामूहिकतापरक सबधो की पद्धति पर कहा तक निर्भर है?

ख) किशोरावस्था मे उन्नत बाल समुदाय का निर्माण किन तरीको से और किन परिस्थितियो मे होता है?

बाल समुदाय के विकास का स्तर बच्चो के परस्पर सबधो के स्वरूप और विकास-स्तर से निर्धारित होता है। किंतु जहा तक बच्चो के विशद सबधो के निर्माण के आधार का सवाल है, तो वैसा आधार बच्चो की सक्रियता का लक्ष्योद्दिष्ट सगठन ही बन सकता है।

सामाजिक दृष्टि से उपयोगी सक्रियता की पालन सबधी क्षमताए विशेषत किशोरावस्था मे सामूहिकतावादी गुणो के विकास मे और

साझे ध्येय व लोगो के प्रति सही रवैये के निर्माण मे महत्त्वपूर्ण योग देती है।

सामूहिकतावाद की भावना के पोषण के सर्वाधिक कारगर तरीके निम्न हैं १) आरभिक स्कूली अवस्था से ही बच्चो को उनकी सामर्थ्य के भीतर स्थित सामाजिक दृष्टि से उपयोगी बहुविध सक्रियताओ मे शामिल करना। इस आयु मे बच्चे के मनोविकास मे ये सक्रियताए प्रमुख नही होती। फिर भी वे उनके व्यक्तित्व के निर्माण मे महत्त्वपूर्ण भूमिका अवश्य अदा करती हैं, क्योकि उनमे बच्चे के सपर्क के दायरे को बढाने और सृजन प्रतिभा को उजागर करने की प्रच्छन्न शक्ति निहित होती है।

२) स्कूली बच्चो की सभी सक्रियताओ का, जिनमे पढाई, कलात्मक कार्यकलाप और खेलकूद भी आ जाते है, सगठन समाजोपयोगिता के सिद्धात के आधार पर करना और उन्हे सारगर्भित तथा लक्ष्यपरक बनाना।

३) सामाजिक दृष्टि से उपयोगी विभिन्न सक्रियताओ की प्रणाली मे सभी आयु वर्गो के बच्चो के पालन के एक सबसे प्रभावी कारक – श्रम सक्रियता के सोद्देश्य सगठन – पर विशेष ध्यान देना। श्रम शिक्षा का लक्ष्य और कार्यभार मेहनत की आदत डालना दक्षताए विकसित करना और वयस्को की श्रम सक्रियता के लिए तैयार करना ही नही होना चाहिए। ऐसी बात नही कि समाज को कार्यकुशल लोग नही चाहिए। किंतु समाजवादी समाज मे पालन की प्रक्रिया मे जो मुख्य चीज है, वह है बच्चो मे श्रम के प्रति प्रेम और सृजनात्मक रवैया श्रम के सबध मे मार्क्सवादी सामाजिक मानसिक दृष्टिकोण पैदा करना।

सामूहिकतावादी गुणो के सवर्धन का मनोविज्ञान

पालन मनोविज्ञान की एक सबसे बडी समस्या है – बाल्यकाल मे सामूहिकतावादी गुणो के विकास की विधियो की खोज।

सामूहिकतावाद समाजवादी सामाजिक परस्पर सबधो की सारी प्रणाली की एक अगभूत विशेषता है।

सामूहिकतावादी गुणो के विकास मे सारी शिक्षा प्रणाली

की सभी बुनियादी गतिविधिया और विभिन्न बाल सगठनो के कार्य कलाप योग देते हैं।

यथा पायनीयर टोली और छात्र उत्पादन टोली समुदाय के प्रति एक खास तरह का रवैया अपनाने मे बच्चो की मदद करती है। किंतु साथीपन व सबध कामकाजी निर्भरता के सबध और साझा उत्तरदायित्व फिर भी अपने आप मे वह नही है, जिसे हम समुदाय के सदस्य बच्चो के व्यक्तित्व के सामूहिकतावादी गुणो की सज्ञा देते हैं।

जैसा कि बहुत से स्कूलो और अन्य बाल सस्थाओ को आधार बनाकर किये गये विशेष अध्ययन दिखाते हैं कुछ बच्चो मे सामूहिकतावादी गुणो के बहुत धीरे पनपने का एक गभीर कारण उनका अपने ही समुदाय के दायरे मे जरूरत से ज्यादा सीमित रहना है। **सामूहिकतावाद सामाजिक ध्येय के प्रति सृजनात्मक रवैये का परिचायक है।** किंतु अपने ही समुदाय के साझे ध्येय के प्रति नही, अपितु सामान्यतया साझे ध्येय के प्रति। जब ऐसी समझ होती है, तभी ऐसे व्यक्ति का निर्माण होता है जिसके लिए सामाजिक ध्येय के लिए कार्य करना आतरिक आवश्यकता है। ऐसी आवश्यकता सकीर्ण समुदाय के दायरे मे पैदा नही की जा सकती। जो पालन एक ही समुदाय के उद्देश्यो तक सीमित होता है वह इन उद्देश्यो के सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने पर भी अपने मे गुटबदी के विकास का खतरा छिपाये रहता है। यह सयोग की बात नही है कि किसी प्रतियोगिता मे शामिल होकर कुछ बाल समुदायो के सदस्य अपने समुदाय को जिताने के लिए एडी चोटी का जोर लगाने लग जाते है चाहे इससे अन्य समुदायो को और ध्येय को भी हानि क्यो न पहुचे। ऐसा विशेषत तब होता है, जब बच्चो को साझे ध्येय के प्रति उत्तरदायी होना नही सिखाया जाता और किसी भी कीमत पर पहला आना ही प्रतियोगिता का अभिप्रेरक बन जाता है। यह अभिप्रेरक अपने गुट या समूह के स्वार्थ का प्रतीक है और सामूहिकतावाद के पोषण मे किसी प्रकार मदद नही करता। कुछ बच्चे अपने समुदाय मे तो साथीपन की भावना और उत्तरदायित्व का प्रदर्शन करते है, किंतु ज्यो ही किसी अन्य समुदाय का प्रश्न उठता है उनके सामूहिकतावादी गुण लोप हो जाते हैं।

वास्तविक सामूहिकतावादी गुणो के सवर्धन के लिए अधिक व्यापक

कायभारो के साथ, सारे समाज के जीवन के साथ अपने समुदाय की सक्रियता के उद्देश्यो के सबधो की चेतना का होना बहुत जरूरी है। केवल तभी साझे ध्येय और कार्य के लिए व्यक्तिगत उत्तरदायित्व की भावना पैदा होगी। अत शिक्षा व पालन का एक सबसे महत्वपूर्ण कार्यभार यह है कि ऐसे बहुविध अतर्सामुदायिक सबध बनाये जाये, जिनसे विशेषत सगठित समाजोपयोगी सक्रियता पर अवलबित समाजवादी परस्पर सबधो की प्रणाली का आधार तैयार हो सके।

अतर्सामुदायिक सबधो के सदर्भ मे बच्चे को एक साथ उन बहुत से कार्यकलापो मे शामिल करना विशेष महत्त्व रखता है, जिन्हे बच्चो को सार्वजनिक पैमाने पर सामाजिक महत्त्व के कार्यभारो की पूर्ति की ओर लक्षित करनेवाले नियमित अथवा अस्थायी बाल सगठनो के दायरे मे आयोजित किया जाता है।

§४ "समस्याजनक" बच्चो की मानसिक विशेषताए

जो व्यवहार समाज के नैतिक मानको और अपेक्षाओ के अनुरूप नही होता, उसे समाज उदासीन व्यवहार कहा जाता है। असगत व्यवहार के विपरीत जो कि किसी शारीरिक विकार से जुडा होता है, समाज उदासीन व्यवहार सूक्ष्म परिवेश के नकारात्मक प्रभाव असामान्य पारिवारिक सबधो पारिवारिक तथा स्कूली पालन की कमियो, त्रुटियो, आदि की उपज होता है।

व्यक्तित्व के नैतिक पहलू के विकास की विशेषताओ के गहन अध्ययन के आधार पर सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओ ने अकाट्य रूप मे दर्शाया है कि बच्चे का समाज उदासीन व्यवहार 'जन्मजात क्रियातत्र' पर निर्भर नही होता। तथाकथित "समस्याजनक' बच्चे शैक्षिक दृष्टि स उपेक्षित बच्चे मात्र है, जिनके व्यक्तित्व की नैतिक विकृति अध्यापको और प्रतिपालको की गलतियो का परिणाम होती है। (यहा आशय उन बच्चो से नही है, जो तत्रिका तत्र के किसी विकार से ग्रस्त है अथवा बौद्धिक दृष्टि से पिछडे हुए है बल्कि उन बच्चो से है जो मानसिक और शारीरिक तौर पर स्वस्थ है।) 'समस्याजनक बच्चो की ठेठ विशेषताए सर्वाधिक स्पष्टता के साथ किशोरावस्था मे उभरती है, जब बच्चे की सामाजिक स्थिति म परिवतन आता है

जिससे न केवल उसकी सक्रियता नया मोड लेती है, बल्कि स्वय उसके प्रति रुख भी बदलता है। मानसिक विकास का यह दौर जटिल इसलिए है कि एक ओर तो किशोरावस्था बचपन का ही एक हिस्सा है, दूसरी ओर हमारा वास्ता यहा ऐसे व्यक्ति से पडता है जो वयस्क जीवन की देहरी पर खडा है और स्वतत्रता, आत्मप्रतिष्ठापन के लिए, वयस्को से अपने अधिकारो और अपनी प्रच्छन्न शक्तियो की मान्यता पाने के लिए आतुर है। ल० स० विगोत्स्की ने कहा था कि "समस्याजनक" किशोर के व्यक्तित्व की सरचना की जटिलता जन्मजात नही, अपितु जीवन के प्रभावो का सबधो के स्वरूप का परिणाम होती है।

प्रचलित व्यवहार मे 'समस्याजनक' बच्चे उन बच्चो को कहा जाता है जिनके व्यक्तित्व को सुधारने की जरूरत होती है। उनमे आज्ञा न माननेवाले स्वेच्छाचारी और जिद्दी बच्चो को भी शामिल किया जाता है। बहुत से बच्चे अति शरारती, अनुशासन न माननेवाले और ढीठ भी होते है। इस प्रकार के विचलनो को आदत और चरित्र का हिस्सा बनने से रोकने के लिए सबसे पहले उनके वास्तविक कारण मालूम करना और ऐसे हर बच्चे के प्रति व्यक्तिगत उपागम बरतना बहुत जरूरी है। ऐसे बच्चो की क्रियाशीलता का लक्ष्यप्रेरित सगठन, उनके उपक्रमो को प्रोत्साहित करना उनकी गरिमा का सम्मान और स्वतत्रता के उनके अधिकार का आदर किया जाना चाहिए। कुछ बच्चे ऐसे होते है जिनके व्यवहार की विशेषता है मेहनत करने की इच्छा और आदत का अभाव यानी जो आलसी है।

कुछ बच्चो मे झूठ बोलना जैसा अवगुण होता है। झूठ बोलना दड के भय, अपनी किसी गदी हरकत को छिपाने की कोशिश और कभी कभी आत्मप्रतिष्ठापन तथा दूसरे का ध्यान आकृष्ट करने की इच्छा का भी परिणाम हो सकता है। साथीपन की गलत धारणा और साथी की हरकत को छिपाने की इच्छा से भी झूठ बोला जाता है। अध्यापक के लिए जरूरी है कि वह बच्चे के झूठ की जड म जाने की कोशिश करे। यह भी जरूरी है कि सच्चाई विश्वास, परस्पर आदर और अपेक्षाशीलता का वातावरण बनाया जाये। तभी बच्चे को झूठ बोलने म निहित बुराई और कायरता तथा ढाग के साथ उसके सबध को दिखाया जा सकता है।

कुछ बच्चे अपनी कोई आवश्यकता तुष्ट न होने के कारण घमड आत्मकता, बडबोलापन अथवा जरूरत से ज्यादा तुनुकमिजाजी दिखाते हैं। फलस्वरूप आकाक्षाओ के स्तर (जो या तो अतिरजित आत्ममूल्यान पर आधारित होता है अथवा अपने मे विश्वास की कमी पर) और समुदाय मे बच्चे की वास्तविक स्थिति के बीच एक तरह का द्वद्व पैदा हो जाता है। ऐसी हालत देर तक बन रहने का बच्चे के अन्य लोगो स्वय अपने और काम के प्रति रवैय पर प्रतिकूल असर पडता है। अत ऐसे विकास को रोकने, बच्चे के आतरिक द्वद्व को खत्म करने के लिए अध्यापक को समय रहते उपाय कर लेने चाहिए। "समस्याजनक" बच्चो से बरताव मे सही व्यक्तिगत उपागम बहुत जरूरी है जिसकी मुख्य शर्ते है क) बच्चे पर ध्यान और उसके प्रति सदाशयतापूर्ण रवैया, ख) उसके अच्छे गुणो पर भरोसा करना और ग) उसके नैतिक सामर्थ्य और अतर्निहित शक्तियो मे जताकर विश्वास दिखाना।

सबसे अधिक कठिनाई उन बच्चो के मामले म पैदा होती है जो शैक्षिक दृष्टि स उपेक्षित होते है जैसे किशोर अपराधी। उनका व्यवहार अधिकाशत आवेगात्मक होता है। सामाजिक दृष्टि से नकारात्मक आवश्यकताए, अतिवर्धित इच्छाए मैत्री साथीपन कर्त्तव्य तथा इज्जत की विकृत धारणा विद्रूपित आत्मिक सज्ञानात्मक और सौंदर्यात्मक आवश्यकताए और पढाई मे रुचि का अभाव ऐसे किशोरो की ठेठ विशेषताए है। जैसे कि मनोवैज्ञानिक अध्ययन दिखाते हैं किशोर अपराधी बौद्धिक विकास की दृष्टि मे बिल्कुल सामान्य होते हैं, अत सोद्देश्य ढग से उन्हे बहुस्तरीय और बहुमुखी सक्रियताओ मे भाग लेने के लिए प्रेरित करके उनकी शिक्षा व पालन म छूटी कमियो को दूर किया जा सकता है।

किशोर अपराधियो के मनोवैज्ञानिक अध्ययनो से पता चला है कि उनमे से अधिकाश का कानून विरोधी आचरण वयस्कता के दावे अपने अधिकारो की गलत समझ और वयस्को से मान्यता पाने की आकाक्षा का परिणाम होता है।

किशोर के व्यक्तित्व के नैतिक विरूपीकरण का कारण मुख्यत पारिवारिक पालन की कमिया होती हैं जो फिर स्कूली पालन की कमियो की वजह से और भी गभीर बन जाती है।

जब परिवार की असतोषजनक स्थिति के बारे म कहा जाता है, जिसका कि बच्चे पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है, तो सामान्यत कई कारणो का उल्लेख किया जाता है और उसमे भी सबसे अधिक ध्यान अधूरे विशृखलित परिवारो (केवल मा या केवल पितावाले परिवारो) पर ही दिया जाता है। किंतु वास्तविकता तो यह है कि अधिकाश किशोर अपराधियो का पालन औपचारिकत पूर्ण परिवारो म, सामान्य स्थितियोवाले परिवारो मे ही हुआ होता है। निर्णायक कारक न परिवार का पूरा होना है और न उसकी स्थिति ही, अपितु वे परस्पर सबध है जो परिवार के सदस्यो के बीच वयस्को के बीच, वयस्को और बच्चो के बीच होते हैं। परिवार मे परस्पर सबधो का ठीक न होना माता पिता का गलत मिसाल पेश करना उनका पाखड, अशिष्टता बेईमानी ही उस अवाछित घृणित सूक्ष्म परिवेश का निर्माण करते है, जो समस्याजनक" किशोरो के आविर्भाव का एक सबसे महत्त्वपूर्ण कारण है। ऐसे परिवारो मे किशोरो की स्थिति बहुत ही गभीर असह्य होती है। बच्चे के व्यक्तित्व को कदम-कदम पर अपमानित किया जाता है। ऐसे मे किशोरो की गुडागर्दी असभ्यता प्राय आत्मरक्षा का अपने व्यक्तित्व के हनन से बचने का एक साधन सा बन जाती है। ऐसे परिवारो मे मा-बाप बच्चो का ठीक से पालन करना या तो नही जानते (बहुतो को तो इसका अहसास भी नही होता है) या फिर कुछ कारणो से वे ऐसा करने मे असमर्थ होते हैं (बीमारी व्यस्तता आदि)। कुछ परिवार ऐसे भी होते हैं जो देखने मे तो ठीक-ठाक लगते है, किंतु जिनमे मा-बाप बच्चे के मनो जगत के प्रति उदासीन रहते है (यह भी बच्चे के आत्मसम्मान और गरिमा के हनन का एक रूप है)।

पारिवारिक पालन की कमिया जो नकारात्मक प्रवृत्तिया पैदा करती हैं उन्हे स्कूल द्वारा सुधारा जाना चाहिए। खेद की बात है कि कभी-कभी ये कमिया कुछ अध्यापको के औपचारिक रवैये, निषेधात्मक रवैये के कारण और भी गभीर बन जाती है। ऐसा रवैया किशोरो को अपना रास्ता और अपनी रुचि के अनुकूल सक्रियता चुनने की सभावना से वचित कर देता है।

ऐसे म अध्यापको के साथ सबध टकरावपूर्ण बन जाते है, जो

जिक दृष्टि से उपयोगी ऐसी श्रम सक्रियता का सगठन आवश्यक है, जो उत्तरोत्तर सघन और जटिल बनती जाती है। ऐसी सक्रियता की गति और तनाव सभी शक्तिया जुटाते उत्तरदायित्व और उत्साह का वातावरण बनाते है। स्कूल मे विभिन्न समारोहो और आयोजना की तैयारी अतर्वस्तु और सगठन के तरीको से किशोरो को आकृष्ट करके समुदाय मे ऐसा माहौल पैदा कर देती है, जो परस्पर निर्भरता, परस्पर उत्तरदायित्व के सबधो के विकास मे, किशोरो के आपसी तथा वयस्को के साथ सपर्क के नये रूपो के विकास मे योग देता है।

इस प्रणाली मे "समस्याजनक" किशोरो के शामिल होने का मतलब है पुराने सबधो का टूटना और गुणात्मक रूप से नये सबधो का बनना। किंतु यह टूटन किशोर प्रत्यक्ष अनुभव नही कर पाता, चूकि वह स्वय उसके लिए टूटन नही बनती । किशोर इस परिवर्तन को एक आवश्यकता के तौर पर लेने लगता है।

बहुत से समस्याजनक किशोरो को सुधारने मे जोशीलापन, लक्ष्य की लगन, प्रभाव प्रतिष्ठा की चाह और अपनी सामाजिक अपूर्णता की अर्धचेतना जैसी उनके व्यक्तित्व की विशेषताओ से लाभ उठाया जा सकता है। उनके द्वारा किये जा रहे श्रम कार्यो के सामाजिक महत्व को उजागर और उनके श्रम को छोटे छोटे समूहो मे सगठित करने से, जिनमे उन्हे कभी-कभी साथियो की देखरेख का जिम्मा भी सौपा जाता है, उन्हे समुदाय की सक्रियता मे कारगर ढग से सहभागी बनाने मे मदद मिलती है।

सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम सक्रियता बहुत से 'समस्याजनक" किशोरो मे जीवन मे रुचि और सकारात्मक भावनाए जागृत करती है और भविष्य के प्रति सचेत बनाती है।

उल्लेखनीय है कि समस्याजनक' किशोरो की सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम सक्रियता का सार, मुख्य अतर्वस्तु और सगठन के सिद्धात व तरीके वैसे ही होते है, जैसे कि सामान्य किशोरो की श्रम सक्रियता के। केवल ऐसी सक्रियता का लक्ष्यप्रेरित निर्माण ही "समस्या जनक किशोर के समाज उदासीन व्यवहार का जडोच्छेदन करता है और उनमे स्थायी नैतिक व सकल्पात्मक गुणो के विकास को प्रेरणा देता है।

§५ नैतिकता के निर्माण के मनोवैज्ञानिक आधार

नैतिक चेतना और व्यवहार के निर्माण की एकता

व्यक्तित्व का निर्माण मनुष्य द्वारा चेतना और व्यवहार के सामाजिक रूपों को आत्मसात् किये जाने की प्रक्रिया में होता है। नैतिक चेतना का अर्थ है मनुष्य की चेतना में नैतिकता के नियमों तथा मानकों का जो कि लोगों के परस्पर संबंधों का नियमन करते हैं और सामाजिक ध्येय तथा समाज के प्रति उसके रवैये का प्रतिबिंबन। किंतु नैतिक धारणाओं का आत्मसात्करण नैतिक चेतना के जन्म और विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हुए स्वयं ही नैतिक व्यवहार का निर्माण सुनिश्चित नहीं कर देता। मनोवैज्ञानिक अध्ययन और शिक्षावैज्ञानिक अनुभव दिखाता है कि नैतिक नियमों से भली भांति परिचित होने के बावजूद बच्चे बहुत बार अपने व्यवहार में उनका पालन नहीं करते। इसका कारण सामान्यतः यह होता है कि कतिपय अध्यापक नैतिक ज्ञान की शक्ति में आंख मींचकर विश्वास कर लेते हैं, जिसके फलस्वरूप पालन की प्रक्रिया वस्तुतः शाब्दिक, मौखिक प्रभाव तक सीमित होकर रह जाती है। शब्द के निर्विवाद महत्त्व के बावजूद ऐसा नहीं होने दिया जाना चाहिए कि शाब्दिक अथवा मौखिक विधियां छात्रों की सामाजिक दृष्टि से उपयोगी ठोस सक्रियता पर हावी हो जायें।

नैतिक ज्ञान और संकल्पनाओं को विश्वासों में परिवर्तित करने के लिए आवश्यक है कि उन्हें व्यवहार के अभिप्रेरकों तथा तदनुरूप नैतिक आदतों की प्रणाली के रूप में अंकित किया जाये। अ०स० मकारेंको ने लिखा था, 'व्यवहार कैसा हो, इसकी चेतना और जैसे व्यवहार की आदत है, उसके बीच विरोध दिखायी देता है। उनके बीच एक खाई सी है और इस खाई को अनुभव से पाटा जाना चाहिए।' किंतु जरूरी है कि यह अनुभव, यानी बच्चों की व्यावहारिक सक्रियता उनके संवेगों से जुड़ी हुई हो। जैसा कि ल०स० विगोत्स्की ने कहा था, " संवेगों का तंत्र एक ऐसी विशेष युक्ति अथवा सूक्ष्म उपकरण जैसा है, जिसके जरिये व्यवहार को आसानी से प्रभावित किया जा सकता है।" अध्यापक के शब्दों, साहित्य और कला की रचनाओं

प्रातिद्वारिया योद्धाओ और मेहनतकशो के शौर्यपूर्ण क्रिया की सब गात्मक सारवस्तु सभी समझ जाते हैं। सवेग देशप्रेम, अन्तर्राष्ट्रीयता वाद मानवतावाद कर्तव्य उत्तरदायित्व साथीपन, प्रतिष्ठा, ईमान, आदि नैतिक भावनाओ के जन्म और विकास मे बहुत बडी भूमिका अदा करते है। किंतु नैतिक विश्वासो के निर्माण की भाति नैतिक भाव नाओ का पालन भी छात्रो द्वारा अपनी सक्रियता के दौरान उनके आत्मसात्करण और उन्हे अनुभव किये जाने से जुडा होता है। बच्चे को अगर एक बार भी अपने किसी नैतिक कर्म से संतोष मिल जाता है तो वह अपनी इस अनुभूति को बार-बार दोहराना चाहेगा। नैतिक धारणाओ पर आधारित और नैतिक सवेगो से ओत प्रोत सक्रियता का सोद्देश्य सगठन ही नैतिक व्यवहार के निर्माण की बुनियाद है।

नैतिक व्यवहार उस व्यवहार को कहते हैं, जो समाज द्वारा निर्धारित और नैतिक मानकों तथा संबंधो के कुछ निश्चित नियमों द्वारा प्रतिबंधित तथा सचालित होता है।

व्यवहार की इकाई जो कि अन्य लोगो तथा समाज के प्रति बच्चे के रवैये को व्यक्त करती है कर्म अथवा हरकत है। कर्म व्यवहार का एक अग और नैतिक अभिप्रेरको की क्रिया का फल होता है। उसमे मनुष्य का व्यक्तित्व उसके गुण और आवश्यकताए प्रतिबिंबित होते हैं।

नैतिक व्यवहार के निर्माण के लिए नैतिक आदतो – मेहनत की आदत साथियो की मदद करने की आदत और दूसरी महत्त्वपूर्ण आदत जो कि व्यक्ति के नैतिक गुणो के विकास मे योग देती है – के पालन पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। क्रियाओ के बारबार दोहराये जाने की प्रक्रिया मे निर्मित होते हुए – आरभ मे बडो के अनुकरण के रूप मे और फिर उनकी अपेक्षाओ के प्रभाव से समुदाय के मत के प्रभाव से तथा सामूहिक सक्रियता के जरिये – नैतिक आदत व्यक्ति की आवश्यकताए बन जाती है।

व्यक्तित्व के नैतिक पहलू का निर्माण, जो कि चेतना व्यवहार, भावनाओं और आदतो के निर्माण की एकीभूत प्रक्रिया है सर्वाधिक सफलता के साथ पालन की विशेषत सगठित प्रणाली से सपन्न होता है जिसमे न केवल नैतिक शिक्षा और व्यावहारिक सक्रियता का सुमेल

होता है, अपितु इस सक्रियता मे बच्चो के आपसी, समुदाय तथा समाज के साथ नैतिक संबधो को उभारा और समन्वित किया जाता है। ऐसी हालत मे बच्चे नैतिक नियमो की समष्टि को आत्मसात ही नही करते, वरन अपनी सक्रियता के दौरान, अन्योन्याश्रित तथा उत्तरदायित्वपूर्ण सामूहिक संपर्को के दौरान नैतिक व्यवहार और उन नैतिक आदतो का व्यक्तिगत अनुभव भी अर्जित करते है, जो व्यवहार के अभिप्रेरको और नैतिक विश्वासो मे बदल जाते है। अपनी बारी म बच्चो का सामाजिक व्यवहार और परस्पर सबद्ध नैतिक शिक्षा के साथ मिलकर उनकी नैतिक चेतना के निर्माण के लिए आवश्यक आधार का काम करते है। नैतिक अपेक्षाओ का अवबोध, अपने नैतिक आदर्शो का निर्धारण और उन्हे व्यवहार के अभिप्रेरको मे परिवर्तित करके बच्चे फिर अपने अनुभव का विश्लेषण और सामान्यीकरण करने लगते है। बच्चे म नैतिक मूल्यो की चेतना और उन्हे क्रमबद्ध करने की प्रवृत्ति किशोरावस्था मे ही पैदा हो जाती है। फिर बडी कक्षाओ तक पहुचते पहुचते उनके अपेक्षाकृत स्थायी नैतिक विश्वास लक्ष्य और भविष्य की योजनाए भी प्रकट हो जाते है।

पालन के मनोवैज्ञानिक क्रियातंत्र

बच्चे के व्यक्तित्व के निर्माण की प्रक्रिया के नियमन के रूप म पालन के अपने गहन मनोवैज्ञानिक क्रियातंत्र होते है। उनका अध्ययन ही पालन मनोविज्ञान का सर्वोपरि लक्ष्य है।

ज्ञात है कि हर ऐतिहासिक युग मे समाज पालन की प्रणाली के सामने कुछ निश्चित ध्येय कुछ आदर्श रखता है। समाजवाद के युग म ये ध्येय और ये आदर्श है भौतिकवादी विश्व-दृष्टिकोण का निर्माण वैचारिक और राजनीतिक परिपक्वता का विकास और सच्चे नैतिक मूल्यो की रचना। सोवियत समाज म पालन की प्रणाली का गठन इन ध्येयो नैतिक आदर्शो को ध्यान म रखकर ही किया गया है।

मानसिक विकास की एक खास विशेषता जैसा कि ल० स० विगोत्स्की न भी कहा था यह है कि एक आदर्श के रूप म एक निश्चित प्रतिमान के रूप म इस विकास का परिणाम बच्चे के सामाजिक

परिवार में पहले से ही मौजूद रहता है। विभिन्न रूपों में (साहित्यिक रचनाओं के नायकों, क्रांतिकारियों, योद्धाओं, श्रम वीरों और आधुनिक नायकों, आदि के रूप में, जिनमें से कुछ बच्चे के इर्दगिर्द के लोगों में भी हो सकते हैं) पेश किये गये सामाजिक प्रतिमान, जीवन, श्रम और व्यवहार के आदर्श न केवल बच्चों के विकास की प्रक्रिया का निदेशन व समन्वयन करते हैं, बल्कि उसका स्रोत भी होते हैं। किंतु पालन की प्रक्रिया के संगठन के लिए सामाजिक दृष्टि से मूल्यवान प्रतिमानों, आदर्शों की विद्यमानता ही पर्याप्त नहीं है। समाज द्वारा निर्धारित पालन के लक्ष्यों को स्पष्ट और सुनिश्चित बनाना भी जरूरी है, जिसमें कि समाज की अपेक्षाओं को और बच्चे के मानसिक विकास के विभिन्न आयुगत चरणों की विशेषताओं तथा नियमों को ध्यान में रखा गया हो।

सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओं के अनुसंधान दिखाते हैं कि बच्चे के व्यक्तित्व के नैतिक पहलू के निर्माण की मुख्य प्रेरक शक्ति के रूप में समाज में विद्यमान नैतिक प्रतिमानों का आत्मसात्करण कई चरणों में संपन्न होता है। प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों के आदर्शों का स्वरूप ठोस और अस्थिर होता है। किंतु किशोरों और तरुणों के मामले में आदर्श अधिक संश्लिष्ट, सामान्यीकृत और स्थिर हो जाते हैं। किशोरावस्था और तरुणावस्था में "निकटवर्ती" आदर्श प्राय: दत्त प्रतिमानों के आत्मसात्करण का साधन बन जाते हैं। आदर्श प्रतिमान से अपनी तुलना करने की, उसका सचेतन अनुकरण करने की प्रवृत्ति पैदा होती है। मनोविज्ञानवेत्ता जिसे व्यक्ति के मानसिक गुणों की प्रणाली के अर्थ में लेते हैं और जिसके जरिये बाह्य सामाजिक परिवेश का व्यक्ति पर असर पड़ता है, उस 'आंतरिक परिवेश' का महत्त्व बढ़ जाता है। यदि आरंभ में बच्चे का विकास मुख्यतया सामाजिक परिवेश की अपेक्षाओं से अभिप्रेरित होता है, तो आगे चलकर वह आत्मसात्कृत सामाजिक अपेक्षाओं और सामाजिक प्रतिमानों के आधार पर परिवेश से और स्वयं अपने से भी खुद कुछ अपेक्षाएं रखने लग जाता है, जो फिर उसके विकास के स्रोत तथा उद्दीपक बनते हैं और उसके रवैये तथा व्यवहार का निर्धारण करते हैं। सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओं ने मालूम किया है कि वयस्कों से, समाज से आनेवाली

अपेक्षाओ के "स्वय अपने से ' अपेक्षाओ म बदलने की प्रक्रिया वाह्य, परायी अपेक्षाओ के विवशतावश स्वीकरण से उनके स्वैच्छिक, सचेत स्वीकरण की ओर और अतत वाह्य नैतिक अपेक्षाओ के निजी, "स्वय अपन से" अपेक्षाओ मे परिवर्तन की ओर बढती है।

सामाजिक अपेक्षाओ, सामाजिक प्रतिमान और आदर्श के बच्चे क व्यवहार क प्रतिमान मे बदलने का एक नियातन अनुकरण है। दूसरा नियातत्र है **व्यवहार के नियमो व मानको का लक्ष्यप्रेरित समावेश और बाल समुदाय के कार्यकलाप की प्रक्रिया मे उनकी पूर्ति पर निगरानी।** इसमे नियम को एक सामान्यीकृत प्रतिमान के तौर पर लिया जाता है और महत्त्व नियमो के औपचारिक रूप को नही, अपितु उस अभिन्न सबध को दिया जाता है, जो इन नियमो और बच्चे द्वारा प्रतिमान के आत्मसात्करण के निजी अभिप्रेरको के विकास के बीच मौजूद है। प्रतिमान का आत्मसात्करण बच्चे से सक्रिय क्रियाओ की अपेक्षा करता है और इसलिए उसे इन क्रियाओ के निष्पादन मे समर्थ हान के लिए सगठन और नियत्रण के साधनो का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए। ऐसे विभिन्न साधनो के बिना अनुरोध स्मरण अपेक्षाए आदि, चाहे बच्चा उनके औचित्य को कितना भी स्वीकार क्यों न करता हो निरर्थक ही सिद्ध होगे। नियत्रण-सरचना मे सामग्री का सोद्देश्य सगठन, सुव्यवस्थित और क्रमसगत जाच नियत्रण के मुद्दो को निर्दिष्ट करना, नियत्रण के प्रतिमान मानदड और कसौटिया दिखाना और मानदडो तथा कसौटियो क इस्तेमाल की विधि बताना शामिल हैं।

हरकता का अभिविन्यासात्मक आधार नैतिक मानक कर्त्ता की यथार्थ मन्यिता म ही काम करता है। **व्यवहार की इकाई के रूप मे हरकत की वस्तु सदा दूसरा व्यक्ति, समुदाय अथवा समाज होता है** (जैसे क्रिया की वस्तु कोई चीज होती है)। सामाजिक अपेक्षाओ का बच्चे के निजी विश्वासो मे परिवर्तन के नियातत्र यानी आभ्यतरीकरण की प्रक्रिया का सार ल० स० विगोत्स्की अ० न० लेओन्तयेव आदि सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओ ने अपनी रचनाओ मे दिखाया है जिनका कहना है कि 'आभ्यतरीकरण की प्रक्रिया का यह अर्थ नही कि वाह्य सक्रियता पहले से विद्यमान आतरिक चेतना के धरातल

पर अतरित हो जाती है यह ऐसी प्रक्रिया है, जिसमे आतरिक धरातल पहली बार पैदा होता है।" बच्चे का विशेषत सगठित बहुविध सक्रियताओ मे, जिनमे बहुस्तरीय सबध बनते हैं, शामिल होना सामाजिक व्यवहार के रूपो को उसकी चेतना मे अकित कर देता है और उन नैतिक प्रतिमानो के अनुसार कार्य करने की आवश्यकता पैदा करता है जो बच्चो की सक्रियता को प्रोत्साहित और उनके परस्पर सबधो का नियत्रण करनेवाले अभिप्रेरको की भूमिका अदा करते हैं। ऐसे मे "पालन की कला ' का सार ही इसमे निहित है कि सक्रियता के सफल परिणाम को उचित समय पर अधिक ऊचा महत्त्व प्रदान किया जाये, ताकि व्यक्ति के जीवन का नियमन करनेवाले अधिक ऊचे प्रकार के अभिप्रेरको की ओर सक्रमण सुनिश्चित हो सके।

उदाहरणार्थ स्कूली आयु के बच्चे का इस पूर्ण अवबोध होता है कि वयस्क आदमी के महत्त्वपूर्ण और सामाजिक रूप से उत्तरदायित्वपूर्ण जीवन नाम की भी कोई चीज होती है। किंतु सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम सक्रियता मे शामिल होने से ही ये "अवबोधित" अभिप्रेरक वस्तुत सक्रिय अभिप्रेरको मे तब्दील होते है। ' सक्रिय" नैतिक अभिप्रेरको के निर्माण के लिए बच्चो की सक्रियता का ऐसा सगठन किया जाना चाहिए कि उनके स्वत कार्य के लिए, सक्रिय रूप से सोचने, विभिन्न सामाजिक कार्यो की योजना बनाने उन्ह क्रियान्वित करने और परिणामो पर विचार करने के लिए अनुकूलतम परिस्थितिया बन सके। इस दृष्टि से स्कूली छात्र की सगठनात्मक और सामाजिक सक्रियता और आत्मानुशासन विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण बन जाते है। इस सक्रियता और आत्मानुशासन की प्रक्रिया मे ही बच्चो के यथार्थ परस्पर सबध बनते हैं जो नैतिक वैचारिक और राजनीतिक पालन का एक सबसे महत्त्वपूर्ण कारक हैं।

पालन की मनोवैज्ञानिक विधिया

मनोविज्ञान पालन की युक्तिया साधनो और विधिया के मनोवैज्ञानिक पहलू की जाच म इस तथ्य को आधार मानकर चलता है कि

बच्चे पर प्रभाव पडता ही नही, वह खुद भी प्रभाव डालता है और नानाविध सबधो म सक्रिय सहभागी होता है। इस प्रकार के उपागम मे निम्न बाते ध्यान म रखनी होती है १) विभिन्न आयु-वर्गो के बच्चो की मानसिक और वैयक्तिक विशेषताए २) बच्चा जिन समुदायो मे शामिल होता है, उनकी विशेषताए और उनकी सक्रियता का स्वरूप व अन्तर्वस्तु, और ३) पालन की प्रक्रिया की ठोस परिस्थितिया।

बच्चो म व्यवहार और चेतना की एकता का विकास प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रभाव की विविध विधियो स किया जाता है। उनमे एक प्रमुख स्थान नैतिक शिक्षा का है, जिसमे वैयक्तिक और सामूहिक वार्ताए, व्याख्यान, वाद विवाद, दर्शको और पाठको की गोष्ठिया, आदि विभिन्न तरीके इस्तेमाल किये जाते है जो बच्चो को नैतिक सवाल उठान व हल करने, अपना मत व्यक्त करने, साथियो के विचारो मे रुचि लेने, आदि क लिए प्रेरित करते है।

सामाजिक दृष्टि स उपयोगी सक्रियता के विविध रूपो के सगठन की विधियो पर और सामाजिक व्यवहार, नैतिक आदते आदि सिखान की विधियो पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। एसी विशेष स्थितिया, चाहे व कृत्रिम ही क्यो न हो बनायी जानी चाहिए, जिनमे कि "व्यवहार का व्यायाम' होता है (अ० स० मकारको), बच्चे नैतिक व्यवहार का अभ्यास करते है और इस तरह मेहनत प्रेम सामाजिक क्रियाशीलता उत्तरदायित्व वहन और अन्य मूल्यवान गुण सीखते है।

अध्यापक को नही भूलना चाहिए की बच्चा खास तौर स किशोर ढोग पाखड और झूठ स बेहद नफरत करता है। जिसन एक बार भी किशोर को धोखा दे दिया, उसकी किसी भी बात का वह फिर कभी विश्वास नही करेगा।

बच्चा के साथ अध्यापक के सामान्य सबधो का निर्माण बहुत हद तक बच्चो की सक्रियता तथा व्यवहार क मूल्याकन की विधियो पर पुरस्कार व दड की विधिया पर निर्भर होता है। शाबाशी और सकारात्मक मूल्याकन बच्चो मे नयी स्फूर्ति भरत है उन्हे आत्मपरिष्कार के लिए प्रेरित करत है। किन्तु शाबाशी या प्रोत्साहन चयनात्मक नही

होने चाहिए। कुछ स्कूलो मे बच्चो को केवल अच्छा पढन के लिए पुरस्कृत किया जाता है जबकि अन्य उपलब्धियो, विशेषत सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम, खेलकूद, सृजनात्मक सक्रियता, आदि क्षेत्रा मे प्राप्त उपलब्धियो की ओर यदा कदा ही ध्यान दिया जाता है। अन्य लोगो खासकर वयस्को के मूल्याकनो और अपनी सक्रियता के परिणामो के आधार पर बच्चे का **आत्ममूल्याकन** बनता है, जो बडे किशोरो और तरुणो की निगाह मे बहुत महत्त्वपूर्ण बन जाता है। आत्ममूल्याकन बच्चे के व्यक्तित्व के विकास का काफी बडा कारक और व्यवहार का नियामक है। आत्ममूल्याकन उचित और यथार्थ अभिक्षमताओ के अनुरूप होना चाहिए। ऐसा आत्ममूल्याकन अपनी सामर्थ्य तथा शक्ति को आलोचनात्मक ढग से आकने और आत्मविकास का समुचित सगठन करने की सभावना देता है। अपनी यथार्थ क्षमताओ को बढा चढाकर अथवा घटाकर आकने से नैतिक विकास म बाधा पडती है।

छात्र का आत्ममूल्याकन चूकि उसकी महत्त्वाकाक्षाओ के स्तर और व्यवहार को प्रभावित करता है अत अध्यापक को इस मूल्याकन के स्वरूप पर अवश्य ध्यान देना चाहिए।

भर्त्सना और दड से सबधित विभिन्न उपायो के प्रयोग म बडे व्यवहार-कौशल की जरूरत पडती है। कडी से कडी कार्रवाई करते हुए भी बच्चे की आत्मगरिमा को ठेस नही पहुचायी जानी चाहिए। याद रहे कि प्रोत्साहन की भाति कोई भी दड तब तक कारगर नही हो सकता जब तक कि वह सही न हो, बच्चे के व्यक्तित्व का आदर न करता हो और बाल समुदाय द्वारा समर्थित न हो। साथ ही यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि बच्चे स एसी अपेक्षा नही करनी चाहिए कि वह अनैतिक काम करने स डरकर नैतिक काम करे (ल० म० विगोत्स्की)। छात्र के व्यवहार का समुदाय के व्यवहार और मत से सामाजिक तालमेल स्थापित करने को निर्णायक महत्त्व दिया जाना चाहिए।

दड को सभी रोगो की रामबाण दवा मानना और माध्यम सगठित पालन के जरिये व्यवहार को सुधारने की निरतर कोशिश करने के बजाय दड म काम लेना सर्वथा अनुचित है।

दडात्मक उपाय व गैरजिम्मेदाराना उपयोग का एक ज्वलत उदाहरण कुछ स्कूलो मे फैशनो के विरुद्ध चलाया जानेवाला अभियान है। वास्तव मे इसके बजाय बच्चो मे सुरुचि जागृत की जानी चाहिए और इसमे सर्वाधिक सफल माडलो का प्रदर्शन, वाद विवाद, खुली बहस, गोष्ठिया, आदि अधिक सहायक हो सकती है।

पालन कार्य की प्रभाविता की कसौटी बच्चो का यथार्थ व्यवहार है। इसके मूल्याकन मे भी निर्णायक विभिन्न कार्रवाइयो का आयोजन और उनमे छात्रा के भाग लेने का स्वरूप और स्तर नही होता, बल्कि वे सबध होते है, जो सक्रियता के दौरान उभरते हैं। इसलिए पालन सबधी प्रभावो की विधियो मे मुख्य कडी बच्चो की ऐसी बहुविध सक्रियताओ का आयोजन है, जो उनके बीच समाज के नैतिक मानको के अनुरूप नाना प्रकार के सबध बनाती हैं।

§६ पालन सबधी प्रभावो की कारगरता

विज्ञान के विकास के आधुनिक स्तर पर पालन की प्रक्रिया का सगठन हर अध्यापक से न केवल बच्चो को व्यक्तिगत तौर पर जानने और उनके मानसिक विकास और व्यक्तित्व के गुणो के निर्माण मे आनेवाले परिवर्तनो का अनुमान लगा लेने की अपितु पालन सबधी प्रयासो के परिणामो का तुरत अध्ययन और अतिपुष्टि की व्यवस्था करने की भी अपेक्षा करता है।

कुछ वस्तुपरक कारणो से अध्यापक छात्रो के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के सभी साधनो का उपयोग नही कर सकता। किंतु पालन सबधी प्रभावो का सगठन करते हुए उसे बच्चे के व्यक्तित्व के विकास के नियमो और उसकी आयुगत तथा वैयक्तिक अभिक्षमताओ तथा सभावनाओ के ज्ञान का अवलब अवश्य लेना चाहिए। अध्यापक को नही भूलना चाहिए कि बच्चा एक ऐसा अविभाज्य व्यक्तित्व है जिसके अपने अभिप्रेरक और आवश्यकताए हैं। अध्यापक को उसे उसकी गतिशीलता, परिवर्तनशीलता मे देखना चाहिए। तभी वह उसके भावी विकास और व्यक्तित्व की प्रवृत्तियो का पूर्वानुमान लगा सकेगा। इसमे

वैयक्तिक उपागम की विशेष भूमिका है, जो एक ओर तो हर बच्चे के विकास की अनन्यता को ध्यान में रखता है और, दूसरी ओर, उसके व्यक्तित्व की मानसिक विशेषताओं के अनुरूप पालन के सामान्य लक्ष्य निश्चित करने की संभावना देता है। वैयक्तिक उपागम का अर्थ है बच्चे की आवश्यकताओं के स्वरूप, रुचियों, अन्य लोगों के प्रति, अपने प्रति तथा समुदाय के कार्यों के प्रति रवैये, आदि का पता लगाना और तदनुरूप आवश्यक कदम उठाना।

अध्यापक के लिए सबसे आसान विधि प्रेक्षण है, जो उसे बच्चों की जीवन सक्रियता की सहज परिस्थितियों में उनका अध्ययन करने की संभावना देता है। प्रेक्षण नियमित रूप से, सभी तरह की स्थितियों में और विशेष कार्यक्रम के आधार पर किया जाना चाहिए। उससे प्राप्त तथ्यों का, जो बच्चे की सक्रियता के विभिन्न पहलुओं व्यवहार की विशेषताओं और मनःस्थितियों से संबंध रखते हैं सामान्यीकरण आम तौर पर मनोवैज्ञानिक विवरण के रूप में किया जाता है।

मनोवैज्ञानिक विवरण एक विशिष्ट विधि और एक प्रकार की अनुस्मृति है जो बच्चे के नैतिक विकास की झलक देती है। उसका लक्ष्य व्यक्तित्व का सभी पहलुओं से और उसकी सभी अभिव्यक्तियों में अध्ययन करना हो सकता है। ऐसी स्थिति में एक विशेष योजना अथवा कार्यक्रम के अनुसार सभी मुख्य कार्यों के प्रति बच्चे के रवैये, उन कार्यों की पूर्ति के स्वरूप बच्चे के व्यवहार की विशिष्टताओं, अन्य लोगों से संबंधों अभिक्षमताओं रुचियों आदि को अभिलिखित कर लिया जाता है। इससे बच्चे के विकास के मजबूत और कमजोर पहलू मालूम करने और व्यक्तित्व सुधार के तरीके व पालन की विधियां निर्धारित करने में मदद मिलती है। किंतु एक अन्य प्रकार के मनोवैज्ञानिक विवरण की भी आवश्यकता होती है जिसे समस्यामूलक विवरण कहते हैं। उसे अध्ययन के विषय के सही सही निर्धारण के आधार पर तैयार किया जाता है और उसका संबंध बच्चे के व्यक्तित्व, सक्रियताओं व्यवहार अन्य लोगों से संबंधों आदि के अलग अलग पहलुओं से ही होता है।

विस्तृत और पालन की प्रक्रिया में आवश्यक अल्पकालिक समस्या

मूलक विवरण लबे समय तक नियमित रूप से तैयार किये जान से बच्चे के व्यक्तित्व के निर्माण का सही सही चित्र पाना, पालन प्रक्रिया को वाछित मोड देना, शैक्षणिक प्रभावो म सशोधन करना और इस तरह सारे ही मानसिक विकास की प्रक्रिया का नियमन करना सभव हो जाता है।

पालन की प्रक्रिया मे प्रत्यक्ष भाग लेनेवाला अध्यापक प्रयोगात्मक वार्तालाप जैसी मनोवैज्ञानिक अध्ययन विधि भी सफलतापूर्वक इस्तेमाल कर सकता है। किसी विशेष लक्ष्य को सामने रखकर किये गये वार्तालाप बच्चे के अभिप्रेरको मबधो दृष्टिकोणो तथा विश्वासो की विशेषताओ का पता लगाना सभव बनाते है। लक्ष्य और बच्चे की वैयक्तिक विशेषताओ क अनुसार वार्तालाप की अतर्वस्तु और रूप मे परिवर्तन करने के साथ साथ यह भी आवश्यक है कि प्रश्न प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनो प्रकार के हो। उदाहरण के लिए तुम्ह श्रम पसद है? —यह पूछन के बाद ३-४ तटस्थ प्रश्न पूछे जाये और फिर अप्रत्यक्ष प्रश्न किये जाये 'तुम्हारी राय मे भावी समाज म श्रम कैसा होगा? "क्या मशीन पूरी तरह मानव श्रम का स्थान ल लेगी? आदि।

अध्यापक के लिए आपरिवर्तित समाजमितीय विधियो के इस्तेमान का कितना महत्त्व है यह सभी जानते है। उनकी मदद से बच्चो के परस्पर सबधो की सरचना मालूम की जाती है। इस प्रकार के अध्ययन बाल समुदाय के साथ काम के आरभिक चरण म बडे उपयोगी सिद्ध होत है। मिसाल के लिए डस्क पार्टनर का चयन जैसे मामूली से प्रश्न पर पूछताछ करक बच्चो के एक दूसरे क प्रति रुझान, घृणा अथवा उदासीनता का पता लगाया जा सकता है।

पालन मनोविज्ञान म बच्चे के मानसिक विकास और व्यक्तित्व के निमाण की विशेषताओ से सबधित तथ्यो को लिखकर दर्ज कर लन का भी बडा महत्त्व है। प्रविष्टिया दैनन्दिनी क रूप म सक्षिप्त सभी महत्त्वपूण तथ्यो से युक्त और ऐसी होनी चाहिए कि उनम छात्र क वैयक्तिक गुणो के परिवर्तन तथा विकास की प्रवृत्तिया का अनुमान लग सके।

न० क० क्रूप्स्काया अ० स० मकारेंको, व० अ० सुखोम्लीन्स्की और बहुत से अन्य लब्धप्रतिष्ठ सोवियत शिक्षाशास्त्रियों तथा अध्यापकों का अनुभव बताता है कि मनोवैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर छात्रों के व्यक्तित्व का अध्यवसायपूर्ण और नियमित अध्ययन शिक्षा और पालन के लिए कितना अधिक व्यावहारिक महत्त्व रखता है।

अध्याय १०

अध्यापक के व्यक्तित्व का मनोविज्ञान

सोवियत शिक्षा प्रणाली म अध्यापक का सर्वोच्च स्थान है। राज्य और समाज ने उस उदीयमान पीढी की शिक्षा और कम्युनिज्म की भावना म पालन का सम्मानजनक और उत्तरदायित्वपूर्ण काय सौपा है।

सोवियत सघ की कम्युनिस्ट पार्टी की २६वी काग्रेस ने युवा पीढी की शिक्षा और पालन मे स्कूल की भूमिका पर जोर देत हुए उल्लेख किया था कि माध्यमिक स्कूल को अपने छात्रो का सामाजिक वैज्ञानिक और तकनीकी विकास की आधुनिक अपेक्षाओ के अनुरूप सामान्य शिक्षा प्रदान करनी चाहिए। उसे युवा समुदाय म मार्क्सवादी लेनिनवादी विश्व-दृष्टिकोण और सोवियत देशानुराग तथा समाजवादी मातृभूमि की रक्षा के लिए तत्परता जैसी उदात्त भावनाओ का सपोषण करना चाहिए। स्कूल का कार्य है कि वह छात्रो का शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक तथा सौदर्यात्मक सभी तरह का सामजस्यपूर्ण विकास सुनिश्चित करे और उन्ह वयस्क जीवन के लिए सचेतन रूप से पेशे के चुनाव के लिए, श्रम और समाज निर्माण म सक्रिय भाग लेने के लिए तैयार करे।

इसलिए अध्यापक की शिक्षा सक्रियता का मुख्य लक्ष्य है छात्रो को ज्ञान विज्ञान के मूलतत्वो की जानकारी से सज्जित करना उनमे कम्युनिस्ट विश्व-दृष्टिकोण, आत्मचेतना और अपने व्यवहार अपने आचरण, जीवन दिशा, आकाक्षाओ और कार्यो का वर्गीय दृष्टि से मूल्याकन करने की प्रवृत्ति सवर्धित करना, उनकी सामाजिक सक्रियता ज्ञान की पिपासा और स्वत ज्ञानार्जन की चाह को प्रोत्साहन देना और शिक्षा को समाजोपयोगी सक्रियता से सबद्ध करने की अदम्य लालसा जागृत करना।

अध्यापन कार्य एक सबसे कठिन कार्य है। इसके सफल निष्पादन के लिए आवश्यक है कि अध्यापक प्रकृति और समाज विषयक मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धात का गहन ज्ञान रखने के साथ-साथ चरित्रवान और दृढ कम्युनिस्ट हो, बल्कि वह १) अपने विषय म, २) सनान सिद्धात तथा शिक्षाविज्ञान मे ३) विभिन्न सकल्पनाओ के बीच जो सूत्र और सबध होते है उन्ह उदघाटित करन मे, ४) विभिन्न विषयो मे सबधित छात्र व नान को वैज्ञानिक दृष्टिकोणो की एक अविभाज्य प्रणाली म गूथन म, और ५) छात्र की सज्ञानमूलक सक्रियता, सामाजिक क्रियाशीलता व स्वावलबन के विकास के लिए जन सूचना व सप्रेषण के विभिन्न साधनो (साहित्य, सिनेमा, रडियो, टेलीविजन आदि) का उपयोग करन म पारगत हो।

§१ अध्यापकीय योग्यताए और दक्षताए

शिक्षण और पालन की प्रक्रिया का वैज्ञानिक ढग से सचालन करने के लिए अध्यापक को अपने अध्यापन विषय उसम हुई नवीनतम प्रगतियो और अन्य ज्ञान-शाखाओ जीवन तथा व्यवहार के साथ उसके सबध को ही भली भाति नही जानना चाहिए अपितु अपना नान बच्चो को अतरित करने मे प्रवीण भी होना चाहिए। इसके बिना अच्छा अध्यापक नही बना जा सकता।

स्कूल म पढाये जानेवाले हर विषय की, ज्ञान विज्ञान के हर क्षत्र की अपनी विशेषताए अपनी कठिनाइया और अपनी मुख्य सज्ञान विधि होती है। अत हर विषय के अध्यापन की विशिष्ट, सुविकसित विधिया होनी चाहिए। इन विधियो का ज्ञान होने से अध्यापक यह सुनिश्चित कर सकता है कि छात्र विनान के मूलतत्त्वो को और प्राकृतिक परिघटनाओ तथा सामाजिक जीवन के परस्पर सबधो को भली भाति समझ व आत्मसात कर लेगा और प्राप्त ज्ञान का व्यवहार म और अपने व्यक्तित्व के निर्माण व विकास के लिए कुशलतापूर्वक इस्तेमाल करेगा।

शिक्षण और पालन की प्रभाविता सबसे पहले छात्र के ज्ञान व

सोद्देश्य बौद्धिक क्रियाओ की आतरिक एकता पर और वस्तुजगत व लागो व प्रति और कार्य के कर्त्ता के रूप मे स्वय अपने प्रति भी बच्चे व सही ढग से बने हुए दृष्टिकोणो पर निर्भर होती है। अत अध्यापक का कार्य छात्र को ज्ञान का अतरण मात्र नही हो सकता। उसे छात्रो की बौद्धिक सक्रियता का सचालन, सशोधन और निदेशन भी करना चाहिए। ऐसी हालत म ही वह एक व्यक्ति के रूप मे बच्चे का सर्वांगीण विकास और पालन सुनिश्चित कर सकता है।

शिक्षण की प्रक्रिया मे छात्रो की बौद्धिक सक्रियता के निदेशन की प्रभाविता सूचना के स्रोतो (छात्रो को दिये जानेवाले ज्ञान की अतर्वस्तु) को ही नही अपितु बौद्धिक क्रियाओ की सारी प्रणाली को भी सुव्यवस्थित रूप देने पर निर्भर होती है। बौद्धिक क्रियाओ की इस प्रणाली को ठोस कार्यभारो की पूर्ति मे सहायक होना चाहिए। केवल तभी छात्र शिक्षा सक्रियता के सचेतन और स्वय सोचनेवाले कर्त्ता के रूप मे कार्य कर सकता है।

यही कारण है कि अध्यापक को न केवल अपने क्षेत्र, अपने विषय का अच्छा ज्ञान होना चाहिए, अपितु उसमे इस ज्ञान को छात्रो के सामने प्रस्तुत करने की योग्यता और दक्षता भी होनी चाहिए। उसे जानना चाहिए कि छात्रो को एकाग्रचित्त कैसे बनाया जाता है और उनकी चितन शक्ति तथा सामाजिक महत्त्ववाले मूल्यो का विकास कैसे किया जाता है।

अध्यापक म एसी अध्यापन योग्यता और दक्षता का होना कि जो शिक्षा सक्रियता मे हर छात्र की सहभागिता सुनिश्चित कर सके, छात्र की शिक्षा, बौद्धिक विकास और पालन के फलदायी होने की अनिवार्य शर्त है। अध्यापक के इस प्रकार्य मे ही छात्र के व्यक्तित्व पर उसके व्यक्तित्व के शैक्षिक प्रभाव की शक्ति व्यक्त होती और साकार बनती है। अध्यापन कार्य से सबधित योग्यताओ और दक्षताओ का अर्जन अध्यापक को अपने पेशेवर प्रशिक्षण के दौरान ही कर लेना चाहिए।

किसी एक विषय को ही पढानेवाले अध्यापक मे जिन सामान्य अध्यापकीय योग्यताओ और दक्षताओ का होना जरूरी है उनमे से मुख्य निम्न हैं।

सूचना-सम्प्रेषण संबंधी योग्यताएं और दक्षताएं

वैज्ञानिक सामग्री को अध्यापनयोग्य सामग्री का रूप देना,

मुख्य शैक्षिकीय तत्त्वों (संकल्पनाओं, योग्यताओं, मान्यताओं) का निर्धारण और उनका विकास करने तथा छात्र के ज्ञान का ३ बनाने के तरीकों का निरूपण करना

अपने विषय की दृष्टि से सर्वाधिक उपयुक्त विधियों का न केवल उपयोग अपितु उन्हें परिष्कृत भी करते जाना,

अध्यापन के तकनीकी और श्रव्य-दृश्य साधनों का प्रयोग करना

कार्यक्रमबद्ध शिक्षण के तत्त्वों का प्रयोग करना,

बच्चों से उनके लिए बोधगम्य भाषा में बोलना, अपने विचारों को तर्कसंगत व स्पष्ट ढंग से और संक्षेप में व्यक्त करना

आवश्यकता पड़ने पर विचारों को स्पष्ट करने के लिए सर आरेखों तालिकाओं आदि का सहारा लेना

प्रतिपुष्टि अर्थात छात्रों द्वारा आत्मसात्कृत ज्ञान और योग्यताओं की जांच मूल्यांकन संशोधन और दृढ़ स्मरण सुनिश्चित करना

बच्चों को संग्रहालय प्रकृति कल-कारखाने फार्म आदि लिया ले जाना शैक्षिक वर्कशापों और स्कूल के प्रायोगिक खेतों में व्यावहारिक काम का अनुभव देना।

संगठनात्मक योग्यताएं और दक्षताएं

छात्रों की पढ़ाई और श्रम में सहज स्थायी रुचि जागृत करना उन्हें पढ़ाई के तरीके सिखाना अपने काम की जगह स्वच्छ सुव्यवस्थित रखना और पुस्तकीय सामग्री व उपकरणों से काम लेना सिखाना

व्यावहारिक कृत्यकों की पूर्ति में अपने ज्ञान का उपयोग करना सिखाना

छात्र समुदाय के विकास की दिशा करना उनकी गतिविधि का समुचित नियोजन करना छात्रों को सक्रिय सामूहिक कार्य की पूर्ति के लिए संगठित करना काम की गुणवत्ता मात्रा बताना निगरानी रखना और नियमित मूल्यांकन करना।

विकासकारी योग्यताएं और दक्षताएं

अध्यापन में [illegible] विधियों और विभिन्न [illegible] द्वारा [illegible]

अध्यापन मे छात्रो के शारीरिक व मानसिक विकास के अनुरूप अध्यापनशास्त्र व स्वास्थ्यविज्ञान के अनुरूप बहुविध विधियो का प्रयोग करना ,

शिक्षण की प्रक्रिया मे , बौद्धिक क्रियाओ की प्रणाली के निर्माण तथा परिवेश के साथ सबधो के निर्माण की प्रक्रिया मे छात्रो की बौद्धिक सक्रियता का सचालन करना

शिक्षण की प्रक्रिया मे ऐसी समस्यामूलक स्थितिया बनाना , जिनमे बच्चे से स्वय सोचने , वस्तुओ और यथार्थ की परिघटनाओ के बीच कार्य कारण सबधो का निरूपण करके बताने की अपेक्षा की जाती है

छात्रो के सामने ऐसे प्रश्न समस्याए उठाना , जिनके लिए पूर्वार्जित ज्ञान के प्रयोग , तुलनाओ स्वय निष्कर्ष निकालन और अधिकतम सन्धानमूलक सक्रियता की आवश्यकता होती है

छात्रो का वाक्कौशल विकसित करना।

मार्गदर्शनकारी योग्यताए और दक्षताए

वैज्ञानिक विश्व दृष्टिकोण और प्रकृति व श्रम के प्रति कम्युनिस्ट रवैये के निर्माण म सहायता देना

छात्रो को शिक्षा सक्रियता , ज्ञान विज्ञान तथा उत्पादक श्रम मे गहन रुचि लेने और समाज की आवश्यकता तथा अपने वैयक्तिक रुझानो व क्षमताओ के अनुरूप पेशा चुनने के लिए प्रोत्साहित करना

छात्रो को कम्युनिस्ट समाज के उदात्त नैतिक आदर्शो की भावना मे मानवतावादी सौदर्यात्मक वैचारिक और राजनीतिक शिक्षा देना।

अध्यापक मे उपरोक्त सामान्य अध्यापकीय योग्यताओ व दक्षताओ के अलावा बहुत सी अन्य रचनात्मक सगठनात्मक सप्रेषणात्मक और अन्वेषणात्मक योग्यताए और दक्षताए भी होनी चाहिए ताकि वह छात्रो की शिक्षा , पालन तथा विकास मे पैदा होनेवाली बहुविध समस्याओ को सृजनात्मक ढग से हल कर सके।

विषयाध्यापक की सक्रियता की सरचना की अपनी विशिष्टता होती है जिसे उसके खास योग्यताओ और दक्षताओ की उपज कहा जा सकता है। शिक्षा तथा पालन प्रक्रिया का अधिकतम कारगर बनना काफी हद तक इस विशिष्टता पर निर्भर होता है।

व्यावहारिक क्रियाकलाप मे अध्यापक सत्ता एव व्यक्ति व रूप

सामाजिक प्रगति के सचेतन और सक्रिय वाहक के रूप मे काम करता है। इसलिए उसके वैयक्तिक गुणो, अभिक्षमताओ, नैतिक चरित्र, विश्वासो और व्यवहार-कुशलता का बहुत ही बडा महत्त्व है।

§२ अध्यापक के व्यक्तित्व की पेशा सबधी विशेषताए

अध्यापक के व्यक्तित्व की सरचना मे पेशे की दृष्टि स महत्त्व रखनेवाली कुछ ऐसी बाते होती है, जो उसके व्यक्तित्व के निर्माण, उसके मूल्य-अभिविन्यासो पर, शिक्षण व पालन की प्रक्रिया म उसकी क्रियाशीलता तथा उपक्रमशीलता की निर्धारी मानसिक अभिव्यक्तिया के विकास पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालती है।

अध्यापक के व्यक्तित्व की विशेषताए

यह पाया गया है कि अध्यापक वास्तविक सफलता और अपन कार्य के अपार सामाजिक महत्त्व की मान्यता तभी प्राप्त कर सकता है जब उसमे गहन चेतना नैतिक अकलुषता सिद्धातनिष्ठा और सुसस्कृतता जैसे उच्च मानवीय गुण हो, उसका ज्ञान गहन तथा बहुमुखी हो अध्यापन कार्य मे उसकी प्रगाढ रुचि हो, उसे बच्चो से प्रेम हो और बाल मनोविज्ञान मे तथा शिक्षण और पालन के सिद्धात और व्यवहार म वह पारगत हो।

अध्यापकीय सक्रियता के दौरान अध्यापक अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियो को प्रकट ही नही करता, उनका निर्माण व विकास भी करता है और उमे अपने पशे के सामाजिक व वैयक्तिक महत्त्व का जितना ही ज्यादा अहसास होगा उसका व्यक्तित्व उतना ही सुविक मित तथा सर्वांगीण बन सकेगा। अध्यापक के व्यक्तित्व के निर्माण के लिए उसकी सक्रियता के दौरान अध्यापक समुदाय म बननेवाले अतर्व्यक्ति सबधो का बहुत बडा महत्त्व होता है।

अध्यापक की उच्च क्रियाशीलता और अध्यापन-कौशल काफी हद तक उसके सामाजिक व व्यावसायिक अभिविन्यास पर उसके नागरिक और राजनैतिक गुणो के विकास पर अपन व्यवहार और

कार्यो के लिए उत्तरदायी होने के बोध पर और इसपर निर्भर होते हैं कि कम्युनिस्ट आदर्शो की भावना म वर्धमान पीढी की शिक्षा व पालन की ओर लक्षित अध्यापक समुदाय के सृजनात्मक कार्य मे वह कहा तक भाग लेता है।

अपनी सामाजिक भूमिका सामाजिक दायित्व और सहकर्मियो के साथ वैचारिक एकता का गहन बोध अध्यापक के व्यक्तित्व मे लक्ष्यनिष्ठा, अनुशासनबद्धता सयम, दृढसकल्प कठिनाइयो से न डरना और कामकाजीपन जैसे गुणो के विकास के लिए आवश्यक आतरिक परिस्थितिया उत्पन्न करता है।

अध्यापकीय अभिक्षमताए, उनकी सरचना और विकास

अध्यापक का शिक्षण और पालन मे उच्चस्तरीय कौशल प्राप्त करना उसके वैयक्तिक गुणो और विशेषत उसकी अध्यापकीय अभिक्षमताओ पर निर्भर होता है। मनोविज्ञान मे अध्यापकीय अभिक्षमता शिक्षण व पालन म उच्च परिणाम पाने क लिए आवश्यक गुणो को कहा जाता है।

स्कूल मे पढाये जानेवाले विभिन्न विषयो के अध्यापको की सक्रियता की अतर्वस्तु और सरचना के अध्ययन से स्पष्ट है कि अध्यापकीय अभिक्षमताओ का विकास अध्यापकीय योग्यताओ और दक्षताओ से अभिन्न रूप मे जुडा हुआ है। इन योग्यताओ और दक्षताओ को सीखने और विभिन्न स्थितियो मे प्रयोग मे लाने के दौरान अध्यापकीय अभिक्षमताए ऐसी व्यक्तिपरक (अविभाज्य) निर्मितियो के रूप म प्रकट और विकसित होती है, जो अध्यापक के सारे कार्य की सफलता सुनिश्चित करती है।

अध्यापक की सक्रियता का अध्ययन करके मनोविज्ञानवेत्ता इस निष्कर्ष पर पहुचे है कि अध्यापकीय अभिक्षमताए शिक्षण और पालन की अपेक्षाओ को पूरा करनेवाली अध्यापक के व्यक्तित्व की विशेपताओ का प्रतिबिंब होती है। वे इन अभिक्षमताओ को निम्न कोटियो मे बाटते हैं

१ **शैक्षिकीय अभिक्षमताए,** जो अध्यापक को शिक्षण व सामान्य

नियमो की समझ के आधार पर छात्रो को विभिन्न प्रकार का ज्ञान व दक्षताए सिखाने की विधिया सफलतापूर्वक निर्धारित करने की सभावना देती है। वे सामग्री का सुनियोजन व पुनर्गठन करने, उसे छात्रा के लिए बोधगम्य बनाने, सृजनात्मक ढग से पढाने, बच्चो की चिंतन शक्ति का विकास करने और उनमे स्वतत्र रूप से कार्य करने की आदत डालने मे अध्यापक की मदद करती हैं।

२ **रचनात्मक अभिक्षमताए**, यानी जो छात्र के व्यक्तित्व को उभारने, अध्यापक के कार्य के परिणामो और विभिन्न स्थितियो म छात्र के व्यवहार का पूर्वानुमान लगाने मे सहायक होती है।

३ **प्रत्यक्षज्ञान-अभिक्षमताए**, जो बच्चे की मानसिकता और किसी दत्त क्षण मे उसकी मन स्थिति को ठीक से समझने मे सहायक होती है। इनमे अध्यापक क ध्यान की विशेषताए भी आ जाती हैं।

४ **अभिव्यजनात्मक अभिक्षमताए**, यानी अपने विचारो, ज्ञान, विश्वासो और भावनाओ को शब्दो और हाव भाव द्वारा व्यक्त करने की प्रतिभा।

५ **सप्रेषणात्मक अभिक्षमताए**, जो बच्चो के साथ समुचित परस्पर सबध कायम करने मे सहायक होती है (जैसे व्यवहार कौशल, वैय क्तिक व आयुगत विशेषताओ को ध्यान मे रखना, आदि)।

६ **सगठनात्मक अभिक्षमताए**।

इसके बावजूद कि व्यक्तित्व और सक्रियता को एक दूसरे स अलग नही किया जा सकता और स्वय व्यक्तित्व भी एक अविभाज्य निर्मिति है अध्यापक की मानसिक विशेषताओ सबधो और क्रियाओ की जटिल सहति म से एक मुख्य, कडी फिर भी निर्दिष्ट की ही जानी चाहिए। यह कडी है प्रत्यक्षज्ञान-अभिक्षमताए। ये अध्यापक द्वारा बच्चे को सही ढग स समझा और देखा जाना सुनिश्चित करती हैं। ऐसी अभिक्षमता होने पर ही अध्यापक शिक्षा तथा पालन की प्रक्रिया का सही सचालन कर सकता है, छात्रो की रुचियो को ठीक म समझ व ध्यान म रख सकता है और उनकी आवश्यकताओ की तुष्टि उनके साथ उचित परस्पर सबधो की स्थापना और उनके विकास व शिक्षण का कुशलतापूर्वक नियमन व सगठन कर सकता है।

अध्यापकीय अभिक्षमताएं सफल अध्यापकीय सक्रियता की शर्त ही नहीं, उसका परिणाम भी हैं। ये अध्यापक की मानसिक विशेषताओं, संबंधों और क्रियाओं के सामान्य आधार में प्रकट, निर्मित और विकसित होती हैं। ये उसके सम्मिश्र भावजगत और इच्छा शक्ति की कई विशेषताओं का संश्लेषण होती हैं।

अध्यापकीय सक्रियता की सफलता काफी हद तक अध्यापक के वाक्-कौशल पर भी निर्भर करती है। अध्यापक को हर समय इतनी अधिक नयी-नयी और विविध सूरतों में साबिका पड़ता है कि उसे जल्दी आत्मसात् और अपनी सक्रियता में इस्तेमाल करने के लिए उसकी वाक्-प्रतिभा सुविकसित होनी चाहिए। मनोवैज्ञानिक अध्ययन यह भी दिखाते हैं कि छात्रों के सीमित शब्द-भंडार, अशुद्ध शब्द प्रयोगों और निम्न सांस्कृतिक स्तर का एक कारण अध्यापक की भाषा की अर्थगत और शैलीगत अशुद्धियां होती हैं।

अध्यापक की वाक्-सक्रियता में उसके व्यक्तित्व व चरित्र की विशेषताएं, उसकी मनःस्थिति तथा अभिव्यंजनात्मक अभिक्षमताएं और अन्य लोगों के साथ संबंधों का स्वरूप प्रतिबिंबित होते हैं। इस प्रकार छात्रों पर अध्यापक के व्यक्तित्व का प्रभाव काफी हद तक उसकी वाक्-समृद्धि और संवेगात्मक अभिव्यंजना पर निर्भर होता है।

§३ छात्र के व्यक्तित्व के निर्माण पर अध्यापक के व्यक्तित्व का प्रभाव

प्रगतिशील शिक्षाशास्त्रियों और सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं ने बच्चों के शिक्षण और पालन में अध्यापक के व्यक्तित्व की भूमिका पर सदा ही ज़ोर दिया है।

अ० इ० गेर्त्सेन ने कहा था कि बच्चे पर अध्यापक के ज्ञान का ही नहीं, उसके व्यक्तित्व और उसके आत्मिक गुणों का भी प्रभाव पड़ता है। क० द० उशीन्स्की ने भी यह विचार व्यक्त किया था जिनकी धारणा थी कि शिक्षा में सब कुछ शिक्षक के व्यक्तित्व पर आधारित होना चाहिए और शिक्षा में कोई भी नियमावली और कार्यक्रम शिक्षक के व्यक्तित्व का स्थान नहीं ले सकते।

वास्तव में शिक्षा के अलावा मानव सक्रियता का ऐसा और कोई क्षेत्र नही है, जहा कि कर्त्ता के निजी गुण, विश्व-दृष्टिकोण, विश्वास, धैर्य, आत्मसयम और समुदाय पर असर डालने और अपने पीछे ले चलने की योग्यता सक्रियता के परिणामो के लिए इतना अधिक महत्त्व रखते हो। अध्यापक का व्यक्तित्व बच्चे के मस्तिष्क, भावनाओ और इच्छा-शक्ति पर, उसके जीवन पर अपनी बहुत ही प्रबल छाप छोडता है। छात्र के जीवन पर अध्यापक के व्यक्तित्व का प्रभाव स्कूल की समाप्ति के बाद भी बना रहता है।

अध्यापक के व्यक्तित्व के अपार नैतिक प्रभाव की जड मनुष्य की और अध्यापकीय सक्रियता के दौरान बननेवाले मानवीय सबधो की प्रकृति मे ही निहित है।

समाजवादी समाज मे अध्यापक की सक्रियता और छात्र की सक्रियता दोनो का सामान्य उद्देश्य होता है और दोनो ही मिल-जुलकर, शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच अटूट सबध बनाये रखते हुए सपन्न की जाती है। इसलिए यह अस्वाभाविक नही है कि सोवियत शिक्षा प्रणाली मे अध्यापकीय सक्रियता के परिणाम छात्रो की सफलता से आके जाते है। किंतु इस एकीभूत प्रक्रिया मे अध्यापक और छात्र, दोनो की क्रियाओ के स्वरूप अपने मनोवैज्ञानिक सार की दृष्टि से एकसमान नही है और उनकी अपनी अलग अलग विशिष्टताए होती है। छात्रो की सक्रियता ज्ञान-विज्ञान के मूलतत्वो के सक्रिय अवबोधन व आत्मसात्करण योग्यताओ व दक्षताओ को सीखने और जीवन तथा श्रम के लिए अपने को तैयार करने की ओर लक्षित होती है। इस सक्रियता के परिणाम सबसे पहले छात्रो के ही सज्ञानमूलक प्रयासो तथा स्वावलबन पर स्वयशिक्षा तथा आत्मविकास के लिए उनकी तैयारी व अभिक्षमता पर और दृढ निश्चय पर निर्भर होते है। किंतु ये गुण सभी छात्रो म पर्याप्त मात्रा म नही पाये जाते। इसलिए अध्यापक द्वारा उनकी हर कदम पर सहायता करना उनका अध्यापक के निरतर ससर्ग म आना बहुत जरूरी हे।

अध्यापक का कार्य शिक्षा सक्रियता क निदेशन व सचालन की ओर बच्चो द्वारा ज्ञान का आत्मसात्करण किये जाने और उनके मन म दृढ विश्वासो के बीज बोये जाने की ओर लक्षित होता है।

शिक्षा सक्रियता की अतर्वस्तु और अध्यापक व छात्रो के परस्पर सबधो की अतर्वस्तु के अनुरूप छात्रो की ग्रहणशीलता और फलस्वरूप सज्ञानात्मक क्रियाशीलता भी बदलती जाती है। यदि अध्यापक और छात्रो के बीच अच्छे सबध होते है तो अध्यापक से पायी जानेवाली सूचना छात्र के लिए व्यक्तिगत महत्त्व ग्रहण कर लेती है।

शिक्षण की प्रक्रिया मे अध्यापक और छात्रो के बीच सबध कैसे हो कि उनसे छात्रो को उनकी शिक्षा सक्रियता मे और अध्यापक को छात्रो की शिक्षा व पालन मे मदद मिल सके? समीचीन सबध केवल उन्हे कहा जा सकता है, जो बच्चे के प्रति आशावादी, मानवतावादी दृष्टिकोण पर आधारित हो। तभी अध्यापक और छात्रो के बीच परस्पर आदर की भावना और वे स्वस्थ परस्पर सबध हो सकते है जो अध्यापकीय सक्रियता की सफलता सुनिश्चित करते है।

सोवियत शिक्षा प्रणाली अध्यापक से हर छात्र पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान देने, छात्रो के साथ सबधो मे खरा और निष्कपट बनने उनकी मानसिक विशेषताओ से निर्देशित होने और उन्हे सकल्पशील व चरित्रवान बनाने की अपेक्षा करती है। अध्यापक का प्रत्येक बच्चे और समग्र बाल समुदाय के प्रति सवेदनशील सहानुभूतिपूर्ण रवैया अध्यापक और गुरु के रूप म उसकी प्रतिष्ठा को बच्चो की नजरो मे और अधिक बढा देता है।

परस्पर सपर्क की प्रक्रिया मे बच्चो के प्रति अध्यापक के रवैये का स्वय अध्यापक के प्रति बच्चो के रवैये पर अनिवार्य रूप से प्रभाव पडता है। यह काफी हद तक शिक्षा और पालन की प्रक्रिया मे अध्यापक और बच्चो के बीच बननेवाले सबधो पर निर्भर करता है कि अध्यापक की सक्रियता फलप्रद सिद्ध होगी अथवा नही।

§४ अध्यापकीय व्यवहार-कौशल और नैतिकता के मनोवैज्ञानिक आधार

बच्चो से निरतर सपर्क अध्यापक मे बडे व्यवहार [illegible]
अपेक्षा करता है जो कडाई सवेदनशीलता [illegible]

यता आशावाद, दृढ़ता, धैर्य और आत्मसंयम व समन्वय पर आधारित होता है।

अध्यापकीय व्यवहार-कौशल और उसका महत्त्व

अध्यापकीय व्यवहार-कौशल अध्यापक के व्यक्तित्व का एक महत्त्व पूर्ण लक्षण और उसकी अध्यापकीय अभिक्षमताओं की एक ज्वलंत अभिव्यक्ति है। इसके अभाव मे प्राय अनुभवी अध्यापक भी छात्रो की नजरो मे अपनी प्रतिष्ठा से हाथ धो बैठते हैं। युवा अध्यापक के मामले मे तो अध्यापकीय व्यवहार-कौशल का अभाव उसके आत्म विश्वास के डगमगाने और अध्यापन के पेशे से निराश हो जाने का कारण बन जाता है।

अध्यापकीय व्यवहार कौशल का सबसे मुख्य घटक है अध्यापक का छात्रो और सारे छात्र समुदाय के प्रति सुविचारित और सवेदनशील रवैया और ऐसे निष्कर्षो तथा निर्णयो के मामले मे सतर्कता, जो छात्र के अह को छू सकते हो उसके आत्ममूल्याकन को घटा सकते हो और उसपर समुदाय के सकारात्मक प्रभाव को निष्क्रिय कर सकते हो। अध्यापकीय व्यवहार-कौशल अध्यापक के दैनदिन काम मे और उन स्थितियो मे व्यक्त होता है जब उसे बच्चो की शैक्षिक प्रगति को आकना पडता है।

अध्यापक द्वारा किये जानेवाले मूल्याकन का छात्र की सक्रियता पर बडा प्रभाव पडता है और इसलिए उसे छात्र के ज्ञान, योग्यता तथा दक्षता के वास्तविक स्तर का और श्रम के प्रति उसके रवैय का पूरा पूरा प्रतिबिबन करना चाहिए। ज्ञान का सही मूल्याकन छात्र को अपनी उपलब्धिया जानने और अपने काम के मजबूत व कमजोर पक्ष पहचानने की सभावना देता है। गलत मूल्याकन छात्र की मन स्थिति पर आत्मचेतना पर सवेगो तथा इच्छा शक्ति के विकास पर और पढने व मेहनत करने के लिए मानसिक तत्परता पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है।

छात्रो के प्रति अध्यापको के बर्ताव की छात्र के ज्ञान व व्यवहार के मूल्याकन मे बहुत बडी भूमिका होती है। अच्छा अध्यापक इस

मामले मे सदा सतर्क रहता है कि किसी छात्र से कब और किन परिस्थितियो म कुछ पूछना है और किस रूप मे उसके काम के मूल्याकन को व्यक्त करना है।

कुछ अध्यापक छात्रो के साथ सपर्क के इस सबसे महत्त्वपूर्ण उसूल को भूल जाते है कि माग तो करो, किंतु छात्र की गरिमा को ठस पहुचाय बिना। फलस्वरूप प्राय टकराव पैदा हो जाते हैं, जिसके लिए दोपी अध्यापक भी हो सकता है। अध्यापक को कडाई दिखाने के साथ साथ सदा न्यायपरक, सदाशयतापूर्ण भी होना चाहिए और छात्र की गरिमा को किसी प्रकार ठेस नही पहुचानी चाहिए। अनुभव दिखाता है कि बच्चे कठोर अध्यापको को पसद तो करत है किंतु केवल उन्हे, जो उनसे आदरपूर्वक पेश आते ह और उनके अह आत्म सम्मान और गरिमा की अवहेलना नही करते है।

छात्र उन अध्यापको का आदर करते हैं और उनके द्वारा किय गये मूल्याकन को महत्त्व देते है, जो अपने विपय को भली भाति जानते हैं। छात्रो का आत्ममूल्याकन ऐसे अध्यापक के मूल्याकन से प्राय काफी मेल खाता है। ऐसे अध्यापक द्वारा किया जानवाला मूल्याकन उन्ह अपनी शिक्षा सक्रियता और व्यवहार मे सही दिशा चुनने मे मदद देता है।

छात्रो के लिए सहपाठियो द्वारा किये जानवाले मूल्याकन का बडा महत्त्व होता है। इसलिए अध्यापक जब कक्षा की उपस्थिति मे किसी बच्चे के ज्ञान अथवा व्यवहार के बारे मे कोई राय प्रकट करता है तो उसे विशेपत सतर्क रहना चाहिए और कडाई दिखाने के साथ साथ सवदनशील और लिहाज रखनेवाला भी होना चाहिए।

अध्यापक को तेजी मे बदलती हुई स्थिति को तुरत भाप लेने उसे सही सही आकन और शैक्षिक दृष्टि से सही और आवश्यक निर्णय लेन मे समर्थ होना चाहिए। यह कठिन नही है किंतु इसके लिए उस बच्चो के कार्यो, हरकतो को ठीक-ठीक समझना और आकना और उनके कारणो को मालूम करना ही नही आना चाहिए बल्कि उसक स्वभाव मे सलीका, धैर्य और सयम जैसे गुण भी होन चाहिए। यह अध्यापकीय व्यवहार-कौशल की एक अनिवाय पूर्वापेक्षा है।

अध्यापक यदि व्यवहार कौशल के नियमो का पालन और छात्रो के व्यक्तित्व का आदर करता है, तो उसका उनके सामने गुस्सा दिखाना, हर्षित होना, स्नेह प्रदर्शन करना, आदि भी लाभकर और कभी कभी तो शैक्षिक प्रभाव की दृष्टि से आवश्यक हो सकते हैं क्योकि छात्रो की नजर मे उसके ये सवेग किसी खास हरकत या अध्यापन स्थिति के सबध मे उसकी प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया के ही परिचायक होगे। किंतु अध्यापकीय व्यवहार कौशल के अभाव मे उसका ऐसे सवेगो का प्रदर्शन छात्रो के साथ सामान्य सबधो के विकास को गभीर क्षति पहुचायेगा।

अध्यापकीय व्यवहार-कौशल की बदौलत अध्यापक जानता है कि उसे छात्र से कहा बात करनी चाहिए (साथियो अथवा अभिभावको की उपस्थिति मे अकेले मे कक्षा मे आदि)। वह उसे इसका सही फैसला करने की भी सभावना देता है कि छात्र से उसकी किसी हरकत के बारे मे तुरत यानी वह हरकत किये जाने के एकदम बाद ही बात की जाय अथवा कुछ ठहरकर ताकि छात्र स्वय उसके बारे मे सोच विचार कर सके क्योकि बहुत से बच्चो को अध्यापक की विलबित प्रतिक्रिया और मूल्याकन अपने व्यवहार और क्रिया के बारे मे सोचने और खुद ही उन्हे आकने के लिए प्रेरित करते हैं।

छात्रो के सबध मे अध्यापक के व्यवहार कौशल की अभिव्यक्ति काफी हद तक उसकी अपनी नैतिक शिक्षा के स्तर पर और छात्रो के साथ सबधो मे अध्यापकीय नैतिकता के नियमो के पालन पर निर्भर करती है। जो अध्यापक अनावश्यक कडाई बरतता है न्यायपरक नही होता छात्र उसके नैतिक गुणो को सदेह की नजरो से देखने लगते है। इससे न केवल उसकी प्रतिष्ठा घटती है, अपितु शिक्षा और पालन के कार्य पर कुप्रभाव भी पडता है।

अध्यापक और छात्रो के बीच स्वस्थ, आदरपूर्ण सबधो के विकास के लिए अध्यापक का छात्रो की रुचियो तथा आवश्यकताओ को समझना और छात्रो का अध्यापक की अपेक्षाओ को समझना बहुत जरूरी है। बहुत बार उनके परस्पर सबधो के जरा सा बिगडने से ही शिक्षा व पालन की सारी प्रक्रिया गडबडा जाती है और छात्र के व्यक्तित्व पर अध्यापक के व्यक्तित्व का समुचित प्रभाव नही पड पाता। इसलिए

अध्यापकीय नैतिकता के नियमों का पालन अध्यापक की सफल सक्रियता की एक अनिवार्य शर्त है।

अध्यापकों के परस्पर संबंध

शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें सारे अध्यापक समुदाय का संयुक्त सृजनात्मक योगदान होता है। अध्यापक समुदाय का सुचारु, सुविचारित ढंग से काम करना और अध्यापकों के बीच साझे नैतिक मूल्यों और परस्पर आदर पर आधारित संबंध होना स्कूल के प्रभावी कार्य के लिए बहुत ही जरूरी है। अध्यापकों में नैतिक मान्यताओं के बारे में एकता का अभाव, उनके काम का सामंजस्यपूर्ण न होना और हर अध्यापक का छात्रों से अलग-अलग ढंग से बरताव करना नैतिक मानदंडों के निर्माण और पालन में गंभीर बाधाएं उत्पन्न करते हैं।

अनुभव दिखाता है कि अध्यापक समुदाय मे अध्यापकीय नैतिकता के नियमो का पालन सच्चाई और परस्पर समझ शिक्षा कार्य के सचालन के लिए बहुत ही बडा महत्त्व रखते हैं। यदि कोई अध्यापक अध्यापकीय नैतिकता की अपेक्षाओ का उल्लघन करता है, तो इसका सारे अध्यापक समुदाय पर कुप्रभाव पडना अनिवार्य है–उसमे विरोध और टकराव पैदा हो जायेगे। अपनी बारी मे यह अध्यापको की मन स्थिति पर उनकी सृजनात्मकता पर और अतत अध्यापकीय सक्रियता के परिणामो पर कुप्रभाव डालेगा।

शिक्षा और पालन प्रक्रिया का सुचारु सचालन तब तक सभव नही जब तक कि अध्यापक समुदाय मे सदाशयता और परस्पर अपेक्षाशीलता का वातावरण, हर अध्यापक को अपने कार्य से नैतिक और बौद्धिक सतोष प्रदान करनेवाला सृजनात्मकता का वातावरण न हो।

किसी भी स्कूल के अध्यापक समुदाय की सक्रियता की कारगरता प्रधानाध्यापक पर ही नही स्वय अध्यापको पर भी स्वस्थ परस्पर सबध बनाये रखने की उनकी योग्यता और इच्छा पर भी निर्भर होती है। शिक्षा और पालन की प्रक्रिया के परिष्कार से सबधित समस्याओ को हल करते हुए हर अध्यापक को सर्वोपरि इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि अध्यापक समुदाय मे क्रियाशीलता, सृजनात्मकता और बधुत्वपूर्ण सदाशयता का वातावरण बनाये रखने मे वह अधिकतम योग किस प्रकार दे सकता है।

पाठको से

प्रगति प्रकाशन को इस पुस्तक की विषय-वस्तु और अनुवाद के सबध मे आपकी राय जान कर और आपके अन्य सुझाव प्राप्त कर बडी प्रसन्नता होगी। अपने सुझाव हमे इस पते पर भेजे

प्रगति प्रकाशन,
१७, जूबोव्स्की बुलवार,
मास्को, सोवियत सघ।